आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद

(आगरा-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रणीत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

विश्वनाथ गौड़ एम० ए० (हिन्दी एवं संस्कृत)
पी-एच० डी०, शास्त्री, साहित्य-रत्न
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रमाजीत सिंह सनातनधर्म कालेज, कानपुर

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड संस

चौक, वाराणसी

प्रकाशक—
पं० गोपीनाथ भार्गव एम० ए०
नन्दकिशोर एण्ड संस,
चौक, वाराणसी—१।

प्रथम संस्करण : १९६१
प्रतियाँ : ११००
मूल्य : ७ रुपये

मुद्रक—
रामसुंदर सिंह
भोला यंत्रालय,
खजुरी, वाराणसी।

दो शब्द

श्री डा० विश्वनाथ गौड़ शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, उन मनीषी और चिन्तक विद्वानों में हैं, जिन्हें अपना शिष्य कहने में किसी भी अध्यापक को अत्यन्त हर्ष और गौरव का अनुभव हो सकता है; भगवान् की असीम कृपा है कि इस सुखद अनुभूति का गौरव मुझे प्राप्त है।

उनका प्रस्तुत ग्रन्थ, 'आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जो उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य, प्रखर प्रतिभा, मार्मिक अवगाहन और गम्भीर अनुशीलन का परिणाम है। वे दीर्घकाल तक अध्यापन-कार्य में मेरे बहुमूल्य सहयोगी रहे हैं और एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियों को, जहाँ वे अपने ज्ञान का वितरण सफलता-पूर्वक करते रहे हैं, वहाँ पी-एच० डी० के अनेक विद्यार्थी भी उनके ज्ञान-भाण्डार से सर्वात्मना सन्तोष-लाभ करते रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है, परन्तु इसका एक अन्यतम स्थान है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी-जगत् द्वारा यह ग्रन्थ भली भाँति समादृत होगा।

अयोध्यानाथ शर्मा

भूतपूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग-सनातनधर्म कालेज कानपुर

एवं

भूतपूर्व संयोजक

हिन्दी समिति आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

कानपुर

व्यास-पूर्णिमा, २०१८

समर्पण

पूज्य पिता जी,

आपके चरण-कमलों में इस कृति को समर्पित करते समय, कण्ठ गद्गद, नेत्र परिप्लावित और लेखनी असमर्थ हो रही है। आपका पुत्र होकर जिस दिव्य पितृ-सुख का अनुभव कर रहा हूँ उससे मन में यही उत्कट अभिलाष होता है कि जन्म-जन्म में आपको पिता रूप में पाता रहूँ। विद्याध्ययन की जो सुविधा आपसे प्राप्त होती रही है उसी का यह छोटा-सा फल आपके चरणों में अर्पित है। इसे स्वीकार करके मुझे कृतकृत्य कीजिए।

मैं
वही आपका छोटा-सा
'बालकिया'

आत्म-निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रणीत मेरे शोध-प्रबन्ध का मुद्रित संस्करण है। इस शोध-प्रबन्ध का प्रणयन लगभग दो वर्ष पूर्व हुआ था और इसकी प्रेरणा के स्रोत सुगृहीत-नामधेय आचार्य-प्रवर श्री पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा, भू० पू० अध्यक्ष हिन्दी-विभाग सनातनधर्म कालेज, कानपुर ही हैं, जिनके श्रीचरणों में बैठकर मैंने साहित्यिक शिक्षा का समारंभ किया था। उनके द्वारा संकेतित इस विषय की उपयुक्तता को समझकर विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इसपर शोध-कार्य करने की अनुमति भी सहर्ष प्रदान कर दी थी।

यद्यपि काव्यानुशीलन के प्रेमी, साहित्यानुरागी विद्वानों तथा समालोचकों में से अधिकांश महानुभाव रहस्यवादी काव्य-धारा को गौरव-पूर्ण दृष्टि से नहीं देखते रहे हैं; फिर भी आधुनिक युग के काव्य में रहस्यवादी-प्रवृत्ति ने अपना जो स्थान बना लिया था उसके कारण उसके अध्ययन की आवश्यकता अपरिहार्य प्रतीत हुई। कुछ विद्वानों और आलोचकों ने इसपर जो कुछ लिखा भी था उससे यह बात और भी अधिक आवश्यक प्रतीत हुई कि इस प्रकार के काव्य का सांगोपांग आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। इस शोध-प्रबन्ध की रचना के मूल में यही उद्देश्य रहा है। मैं स्वयं नहीं जानता कि अपने उद्देश्य में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। प्रबन्ध के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् इसे मुद्रित रूप में देखने की लालसा इसलिए हुई कि विद्वानों के सम्मुख आने से इस बाल-प्रयास की त्रुटियाँ विदित होंगी और भविष्य में उनका सुधार किया जा सकेगा—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा॥

आशा है, विद्वज्जनों से मुझे ऐसा मार्ग-दर्शन प्राप्त हो सकेगा।

इस ग्रन्थ की रचना में जिन पूर्वाचार्यों की कृतियों से सहायता मिली है और जिनके अर्जित ज्ञान का उपयोग मैंने किया है उनके प्रति मैं साभार प्रणत हूँ। ऐसा न करके कदाचित् मैं ऋषि-ऋण से मुक्त न हो सकूँगा। मूल-रूप में शोध-प्रबन्ध की रचना करते समय जिन संस्थाओं, मित्रों एवं व्यक्तियों से मुझे लाभ पहुँचा है उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। शोध-प्रबन्ध को मुद्रित-

ग्रन्थ का रूप देने की दिशा में मेरे मित्र डा० पं० भोलाशंकर व्यास एम०ए०, हिन्दी-विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी ने जो सहयोग और परामर्श मुझे दिया है उसके लिए वे मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

अपनी बात पूरी करने के पूर्व, इस समस्त प्रयास में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली गुरु-कृपा का स्मरण मेरे लिए परम आनन्द की बात है। आदरणीय, पूज्य गुरुवर श्री पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा ने जिस रुचि से मेरा मार्ग-दर्शन किया है उसके बिना यह कार्य असंभव था। उन्होंने अपनी अगाध-विद्वत्ता, साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रगतियों की व्यापक जानकारी और अनुराग-पूर्ण मार्ग-दर्शन का द्वार अकृपण-भाव से मेरे लिए खोल दिया था। वास्तव में यह कृति उन्हीं की है; मैं तो बाह्य उपकरण मात्र हूँ। इस अवसर पर उनके श्रीचरणों में मेरी शतशः प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित हैं।

इस ग्रन्थ से यदि अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति होती है तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

हिन्दी-विभाग
सनातनधर्म कालेज, कानपुर
गुरु-पूर्णिमा, सं० २०१८ वि०

विश्वनाथ गौड़

विषय-सूची

———

संकेत-विवरण

ऋ०— ऋग्वेद

वा० सं० - वाजसनेय संहिता

अथ०—अथर्व वेद

ई०—ईशावास्योपनिषद्

कठ० — कठोपनिषद्

दो० को०—दोहा कोश

बौ० गा० दू०—बौद्ध गान ओ दूहा

गो० बा०—गोरखबानी

क० ग्रन्था० — कबीर-ग्रन्थावली

जा० ग्रन्था०—जायसी-ग्रन्थावली

आ० का० - आधुनिक कवि (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन)

मा० मा० प्रस्ता० --मालती माधव--प्रस्तावना

भाग०—श्रीमद्भागवत ।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद

प्रथम परिच्छेद

विषयावतार

अद्वैत-तत्त्व और उसपर आधारित रहस्य-भावना

(अ) भारतीय

(क) वैदिक वाङ्मय में

काव्य-रचना की अनेक प्रचलित पद्धतियों में रहस्यवाद एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। इसके स्वरूप-निरूपण तथा शास्त्रीय विवेचन को लेकर विद्वानों ने विविध प्रकार के मतों की स्थापना की है। इन मत-मतान्तरों का उल्लेख और उनकी समीक्षा, इस पुस्तक में आगे चलकर यथास्थान की जायगी। अभी अत्यन्त संक्षेप में रहस्यवाद का रूप यों कहा जा सकता है कि रहस्यवादी काव्य-धारा में रचयिता या कवि की दृष्टि जीवन और जगत् के व्यक्त क्षेत्र से हट-कर उसके अव्यक्त पक्ष की ओर हो जाती है जो कि व्यक्त के भीतर ओत-प्रोत है। व्यक्त और दृश्य के भीतर अव्यक्त और अदृश्य व्यापक तत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयत्न मानव की अत्यन्त पुरातन चेष्टा है। काव्य के क्षेत्र में मनुष्य का यह प्रयास चाहे बहुत अधिक प्राचीन न हो परन्तु बुद्धि अथवा दर्शन के क्षेत्र में, हमारे देश में, इसकी सत्ता बहुत प्राचीन है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही नहीं, अपितु वैदिक साहित्य के अन्य प्रबन्धों में भी इस प्रकार की अद्वैत-मूलक और रहस्यात्मक विचारधारा अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती है।

प्राच्य वैदिक मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने, तत्त्व चिन्तन के क्षणों में प्राप्त होनेवाली अपनी अमूल्य उपलब्धियों में, इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव किया कि इस दृश्य-जगत् के विविध नाम-रूपों में कोई एक सूक्ष्म सत्ता वर्तमान है। इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यही संसार के समस्त व्यापारों का नियमन करती है। उसके पारमार्थिक और पारिभाषिक रूपों में कोई अन्तर नहीं है। इसका कोई निश्चित स्वरूप यद्यपि नहीं है फिर भी ज्ञान अथवा भाव की उत्कृष्ट साधना, जिसे योग कहा जा सकता है, के द्वारा उसके स्वरूप का आभास साधक को मिल जाता है। वेदों और उपनिषदों में बौद्धिक तथा भावात्मक आभास दोनों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के पुरुष, हिरण्यगर्भ और नासदीय सूक्त दृढ़ निष्ठा के साथ तत्त्व-विवेचन करते हुए उस परम तत्त्व की एकता और व्यापकता का वर्णन करते हैं। अम्भृण नाम के महर्षि की 'वाक्' नामवाली पुत्री ने ब्रह्म के साथ अपनी एकतानता का जैसा वर्णन दशम मण्डल के १२५वें सूक्त में किया है वह तो बिल्कुल ही आधुनिक रहस्यवादी काव्य के ढंग का है। शुक्ल यजुर्वेद तथा तत्सम्बद्ध ईशावास्य उपनिषद् में एक व्यापक तत्त्व का विवेचन

स्पष्टतया किया गया है और उसी विश्वात्मा की तृप्ति के हेतु निःसंग कर्म करने का आदेश दिया गया है। अन्य प्रमुख उपनिषदों में भी इसी तत्त्व की व्याख्या अपने-अपने ढग से की गई है। कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा से सम्बद्ध कठोपनिषद् तो, मानो विशेष रूप से, इसी विषय के प्रतिपादन के लिए ही लिखा गया हो।

ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०।१२९) सृष्टि से पूर्व की स्थिति का वर्णन करते हुए बड़े ही सुन्दर ढंग से अद्वैत भावना का प्रकाशन करता है। आरम्भ में न सत् था और न असत्, न स्वर्ग था न आकाश, न मृत्यु थी न अमृत, कदाचित् जल था जिसमें वह पड़ा था, और वायु के न होते हुए भी, वह श्वास ले रहा था—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः ? कुह कस्य शर्मन् ? अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास॥

ऋ० १०।१२९।१,२॥

यही एक तत्त्व अनिर्वचनीय आनन्दस्वरूप, हिरण्यगर्भ या प्रजापति सर्व-प्रथम उत्पन्न हुआ। इसी ने भूमि और आकाश को धारण किया और यही सबका अधिपति हुआ—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १०।१२१।१॥

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुवर्ण, यम, मातरिश्वान् आदि भिन्न-भिन्न देवता इसी एक के अनेक रूप हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णः गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ० १।१६४।४६॥

यही व्यापक विराट् तत्त्व हजारों हाथ, पैर, आँख और सिर वाला पुरुष है। सारी पृथ्वी को ढककर ही केवल नहीं, अपितु उससे दस अंगुल और आगे बढ़कर यह स्थित हुआ—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ऋ० १०।९०।१॥

जो कुछ है, या होगा सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ऋ० १०।९०।२॥

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता भी अनेक देव-तत्त्वों में व्याविष्ट इस एक तत्त्व का संकेत करती है—

> तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
> तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताः आपः स प्रजापतिः ॥ वा० सं० ३२।१॥

यही तत्त्व ऋग्वेद में अदिति के नाम से भी प्रसिद्ध है। अदिति ही द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, समस्त देवता, पञ्चजन आदि है—

> अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
> विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ ऋ० १।८९।१०॥

अथर्ववेद में भी यही मान्यता अक्षुण्ण चली आ रही है। स्कम्भ (१० काण्ड ७ और ८ सूक्त) और उच्छिष्ट (११।९) सूक्तों में उसी का वर्णन है। वही स्कम्भ (आधार) है; वह पूर्णकाम, धीर, स्वयंभू और अमृत है। उसी अजर, युवा आत्मस्वरूप को जान लेने पर मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है—

> अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नो नः ।
> तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
> अथ० १०।८।४४ ॥

सारा विश्व उसी का उच्छिष्ट या शेष अंश है—

> उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
> उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तःसमाहितम्। अथ० ११।९।१ ॥

ईशावास्य उपनिषद् का आरम्भ ही जगत् में एक ईश्वर की व्यापकता से होता है—

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ॥ ई० १ ॥

वही विद्या, अविद्या और अमृत है। सभी भूतों में उसी के साथ एकत्व दर्शन करना चाहिए—

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
> सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ई० ६ ॥

वही सत्य पुरुष माया के सुनहरे आवरण से आच्छादित है। स्वयं मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी उसी का स्वरूप है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्या पिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः,सो सावहम् । ॐ खं ब्रह्म ॥ ई० १७ ॥

कठोपनिषद् में यम ने अपने शिष्य नचिकेता को उसी तत्त्व का उपदेश सविस्तर दिया है । यम कहते हैं कि वह नित्य है, चेतन है । अनेकों में एक है—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानां ।
एको बहूनां विदधाति कामान् ॥ कठ० २।२।१३ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, तारक, विद्युत्, अग्नि आदि कोई भी उसके समक्ष प्रकाश नहीं कर पाते हैं; उल्टे उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
कठ० २।२।१५ ॥

वैदिक वाङ्मय में, इस प्रकार, अनेक प्रसंग हैं जहाँ बुद्धि-व्यापार के द्वारा उपलब्ध होनेवाली अद्वैत भावना का विवेचन स्पष्ट रूप से किया गया है । यही नहीं, ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५वें सूक्त में तो व्यापक और सर्व-व्यापार-नियामक ब्रह्म के साथ काव्योपयुक्त तादात्म्य भावना का उल्लेख अत्यन्त सुन्दर ढंग से पाया जाता है । यह 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना का व्यावहारिक रूप माना जा सकता है । अम्भृण नाम के ऋषि की पुत्री, वाक्, साधना की ऊँची भूमिका में पहुँचकर कहती है—

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा ऊ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥
ऋ० १०।१२५।६ ॥

ब्रह्मद्रोहियों के मारने के लिए मैं ही रुद्र का धनुष चलाती हूँ । मैं ही मनुष्यों को आनन्दित करती हूँ । द्यावापृथ्वी में मैं ही प्रविष्ट हूँ ।

वैदिक साहित्य में इसी प्रकार अद्वैत तत्त्व और उसपर आधारित मधुर रहस्य-भावना की उपलब्धि होती है । भारतीय साधना के ज्ञानक्षेत्र में यह अद्वैत-मूलक रहस्य-भावना बराबर चलती रही । गीता में वर्णित विश्व-रूप की कल्पना इसी अद्वैतमूलक रहस्य-भावना का चरम विकास है । पर सगुणोपासना के क्षेत्र में ईश्वर के व्यक्त और सगुण स्वरूप की प्रतिष्ठा होने के कारण वहाँ इसके लिए

अवकाश नहीं रहा और न वहाँ इसकी आवश्यकता ही थी। तंत्रों में भी शिव की उपासना में उपास्य की व्यापकता को लेकर रहस्य-भावना का प्रसार किया गया है। योगमार्ग में भी साधना की जो अनेक जटिल क्रियाएँ बताई गई हैं उनमें पर्याप्त मात्रा में रहस्य तत्त्व की उपलब्धि होती है। शरीर के भीतर नाना प्रकार के चक्रों की कल्पना, समाधि की मधुमती भूमिका, खेचरी आदि अनेक मुद्राओं में उपलब्ध होनेवाला अनिर्वचनीय और विलक्षण आनन्द साधनात्मक रहस्यवाद के उद्गम हैं। इनका आधार लेकर मध्य-काल के सिद्धों, नाथों तथा निर्गुणिये सन्तों और सूफियों ने रहस्य-भावना का अनुसरण किया और अपनी रचनाओं में भी रहस्यवादी रंग आने दिया। किन्तु यह रहस्य-भावना हमारे ज्ञान-क्षेत्र तक ही सीमित रही, काव्य या भावना के क्षेत्र में नहीं आ सकी। हमारा पुराना साहित्य शैली और वस्तु दोनों में व्यक्तवादी होने के कारण रहस्य-भावना से सर्वथा दूर रहा।

(ख) सिद्ध-सम्प्रदाय में

पिछले अनुच्छेद में हम यह देख चुके हैं कि समस्त वैदिक वाङ्मय में अद्वैत तत्त्व और तज्जन्य रहस्य-भावना के सूत्र बिखरे पड़े हैं। इस भावना के कारण तत्त्व-चिन्तन और साधना के क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु साथ ही वेद और वेदान्त (उपनिषद्) दोनों में ही ऐसे तत्त्व भी पाये जाते हैं जिनको लेकर साधना के व्यावहारिक क्षेत्र में सगुण ईश्वर का प्रतिपादन भी किया गया है। वास्तव में, ईश्वर-तत्त्व अपने स्वरूप और शक्ति की विभुता के कारण परिमित शक्ति वाले मनुष्य की पहुँच से बाहर है। जनसाधारण की तो वहाँ जरा भी पहुँच नहीं; बुद्धि-सम्पन्न कुछ विशिष्ट जन चाहे भले ही उसका थोड़ा-बहुत आभास प्राप्त कर लेते हों। अतः व्यवहार के लिए सगुण ईश्वर की आवश्यकता अनिवार्य थी। इसी लिए प्रायः सभी दर्शनों ने सिद्धान्त-पक्ष में निर्गुण ईश्वर को मानते हुए भी व्यवहार के लिए भक्ति-भावोपयोगी सगुण ईश्वर की मान्यता को स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप भारतीय साधना के निर्गुण और सगुण नामक दो सम्प्रदाय आदि से ही चल पड़े। सगुणोपासक सम्प्रदाय में विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि उपास्य देवताओं को इष्ट मानकर भक्तिधारा बराबर प्रवाहित होती रही।

दूसरी ओर ईश्वर के निर्गुण स्वरूप पर आस्था रखनेवाले साधकों का सम्प्रदाय उसके ज्ञानगम्य स्वरूप के साक्षात्कार द्वारा मोक्ष-लाभ का प्रयत्न करता रहा और फलस्वरूप, ज्ञान-मार्ग की धारा भी अक्षुण्ण बहती रही।

समय-समय पर बुद्धिवादी दार्शनिकों के अनेक मत-मतान्तर चलते रहे और उनमें परस्पर संघर्ष भी होता रहता था। काल-चक्र के परिणाम-स्वरूप अमिताभ तथागत की बुद्ध वाणी ने वैदिक धर्म को आच्छादित कर लिया और शताब्दियों तक भारतवर्ष पर बौद्धों का आधिपत्य रहा। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य ने (८४५ वि०) अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता और अद्भुत संगठन-क्षमता के कारण बौद्धों का उच्छेद करके वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। बौद्धों की शक्ति क्षीण हो गई, उन्हें भारत छोड़कर विदेशों में शरण लेनी पड़ी। यहाँ बौद्धों का जो भी छोटा-मोटा दल, इधर-उधर विकीर्ण होकर, बचा वह अन्य सम्प्रदायों से आदान-प्रदान करके ही अपनी रक्षा कर सका।

एक लम्बी अवधि तक जनता के बीच चलते रहने के कारण बौद्ध-धर्म के अनुयायियों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई थीं। उसकी वज्रयानी शाखा विशेष रूप से विकारग्रस्त हुई। आगमवादी तान्त्रिकों और कापालिकों के सम्पर्क से ये भी एक विशेष सम्प्रदायवादी तान्त्रिक योगी हो गये थे। इन्होंने बौद्धों के मूल आदर्श से विपरीत ईश्वर की कल्पना भी कर ली थी, जैसा कि नीचे के इस उद्धरण से ज्ञात होता है—

> प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः।
> सर्वगः सर्वव्यापी च कर्ता हर्ता जगत्पतिः॥
> श्रीमान् वज्रसत्त्वोऽसौ व्यक्तभावप्रकाशकः।
>
> (व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि)

साधना के क्षेत्र में ये लोग पतञ्जलि के योग दर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध अथवा समाधि को चरम लक्ष्य मानते थे। लोक में—विशेषतया निम्न कोटि की जनता में—इनकी सिद्धियों के चमत्कार का विशेष प्रभाव था और इसी कारण ये सिद्ध कहलाते थे।

सिद्धों का कर्म-क्षेत्र विशेष रूप से देश का पूर्वी भाग ही रहा। आसाम, बंगाल, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग, हिमालय की तराई तथा पूर्वीय हिमालय के जनपदों में ही इनकी लीलाभूमि रही। सिद्धों के इस व्यापक प्रसार में आचार्यों की कोटि में आनेवाले ८४ सिद्ध ही विख्यात हैं। साधु-समाज में मंगलाचरण के अवसर पर आज भी ८४ सिद्धों और नौ नाथों की जय बोलने की प्रथा है।

सिद्धों की सत्ता का संकेत ईसा की सातवीं शताब्दी में मिलता है। कान्यकुब्जेश्वर सम्राट् हर्षवर्धन (सं० ७०५) के आश्रित कवि बाणभट्ट के

'कादम्बरी' नामक कथा-प्रबन्ध में कथा के नायक चन्द्रापीड़ को महाश्वेता का प्रथम दर्शन एक सिद्धायतन में ही होता है। बाणभट्ट की दूसरी प्रसिद्ध आख्यायिका 'हर्षचरित' में भी भैरवाचार्य नाम के एक साधु, उनकी साधना और तज्जन्य चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का उल्लेख है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य[1] ने सिद्धों के सबसे पुराने सरह या सरोजवज्र का समय सं० ६६० वि० माना है। विक्रम की दसवीं शताब्दी में सिद्धों का उत्कर्ष चरम-भाव को प्राप्त दिखाई देता है। भारत में यवन-राज्य की स्थापना के बाद सिद्धों का प्रभाव घटने लगा। बख्तियार खिलजी ने अपनी विजय-यात्रा में इनके केन्द्रों को, जो बिहार के नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में थे, अच्छी तरह उजाड़ा और फलस्वरूप वे लोग अधिकांश में हिमालय के जनपदों में भाग गये।

सिद्धों में रहस्यभावना का पर्याप्त विकास हुआ। आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में कबीर तथा अन्य सन्त कवियों के द्वारा जिस रहस्यवादी काव्य की सृष्टि हुई उसपर सिद्धों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ऊपर कहा जा चुका है कि सिद्ध निर्गुण और निराकार तत्त्व की साधना करते थे। ये भारतीय शास्त्रों में प्रतिपादित साधना-मार्ग का खण्डन करके, उसके अनुयायी पण्डितों का परिहास एवं निन्दा करते हुए, अपने निजी मार्ग का प्रतिपादन करते थे। इनके यहाँ घट के भीतर ही ईश्वर-तत्त्व का अनुसन्धान करने की चाल थी। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की साधना, कुण्डलिनी की उद्दीप्ति, शरीर के भीतर कल्पित अनेक चक्रों का भेदन, प्राणों का निरोध, आत्म-निग्रह आदि साधनों के द्वारा सिद्ध-सम्प्रदाय में ईश्वर-सिद्धि की जाती थी। यहाँ, प्रसंगवश, इनकी रचनाओं में से एतद्विषयक कुछ स्थल उद्धृत किये जाते हैं—

सिद्धों ने ब्राह्मणों का खण्डन इस प्रकार किया है—

> ब्रम्हणेंहि म जानन्तहिं भेउ। एवइ पढिअउ ए चउवेउ।
> मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्तम्। घर ही बइसी अग्गि हुणन्तं॥
> दो० को० १॥

सिद्धों के अनुसार अन्तःसाधना का मार्ग समस्त दैव और पार्थिव नियमों से परे है। मन को उसी में विश्राम करना चाहिए—

> जेहि मण पवण ण संचरइ। रवि ससि णाहि पवेस।
> तहिं बढ़ चित्त विसाम करु। सरहें कहिअ उएस॥
> दो० को० ४६॥

---

1. Buddhist Esoterism.

सिद्धों का परम ध्येय अनिर्वाच्य है। मन्त्र-तन्त्र आदि मूर्खों को विभ्रम में डाल देते हैं। मलिन चित्त उस महासुख को न प्राप्त करके दुःख में पड़ा रहता है—

झाण-रहिअ कि कीए झाणें। जो अवाच तहि किं बक्खाणें।
भुअमुदे सअल जग बाहिउ। णिअ सहाव ण केणवि णाहिउ॥
मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण। सव्ववि रे बढ़ विभम कारण।
असमल चीअ म झाणें खरडह। सुह अच्छन्तें म अप्पण झगड़ह॥
दो० को० ४२, ४३॥

चन्द्र और सूर्य (इड़ा और पिंगला) के समन्वय से साधक महासुख की सहज दशा में प्रवेश करता है—

चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ। सो आणुत्तर एत्थ पअट्ठइ॥
दो० को० ३५॥

अध-उद्ध माग्ग बरें पइसरेइ। चन्द-सुज्ज बेह पडिहरेइ।
बंचिज्जइ कालहु तण अगइ। वे विआर समरस करेइ॥
दो० को० ५७॥

चराचर में व्याप्त एक अद्वैत-तत्त्व का ज्ञान सिद्धों को था—

एक करु मा वेणिण करु। मा कुरु विणिण विसेस।
एके रंगे रंजिआ तिहुअण सअलासेस॥
आइ ण अन्त ण मज्झ तहिं। णउ भव णउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण॥
अग्गें पच्छें दस दिसें। जं जं जोअमि सोवि।
ऐव्वें तु दीठन्त डी णाह ण पुच्छमि कोवि॥ दो० को० ५०,५१,५२॥

सिद्धों की रचनाओं में अन्तःसाधना, अद्वैत-तत्त्व आदि पूर्वोक्त तत्त्वों के अनेक प्रसंग भरे पड़े हैं। इस साधना-पद्धति को लेकर चलनेवाले सिद्धों को लोक पर अपना प्रभाव जमाने के लिए अपनी सिद्धि के अनेक चमत्कार भी दिखाने पड़ते थे। इन चमत्कारों की अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। अपनी रहस्यवादिता को प्रकट करने के लिए, जिसका उद्देश्य कदाचित् अपने मार्ग द्वारा एक ऐसे विलक्षण, रमणीय और लोकोत्तर प्रदेश में विचरण करके महासुख की प्राप्ति करने का प्रलोभन देना रहा हो जिसकी उपलब्धि मार्गान्तर से नहीं हो सकती, ये लोग अटपटी वाणी में पहेलियों की तरह अपनी बातें कहा करते थे। इन वाणियों में अतिशयोक्ति अलंकार की तरह

केवल प्रतीक-योजना द्वारा अन्तर्मुखी साधना से सम्बद्ध तत्त्वों के रूपक खड़े किये जाते थे। विभिन्न तत्त्वों का परस्पर समन्वय वैचित्र्य के आधार पर होता था। अनमेल तत्त्वों की इस अटपटी वाणी को न समझ सकने के कारण साधारण पण्डित इनकी फटकार के पात्र बनते थे। इनकी यह वचन-भंगी आगे चलकर कबीर आदि सन्तों के काव्य में उलटवाँसी के रूप में प्रकट हुई। सरहपा सिद्ध की कुछ अटपटी-वाणी-मय उलटवाँसियाँ देखिए—

बद्धो धावइ दस दिसाहि। मुक्को णिचल ठाअ।
एमइ करहा पेक्खि सहि। विवरिअ महु पडिहाअ॥
आग्गे आच्छअ बाहिरे आच्छअ। पइ देक्खअ पडवेसी पुच्छअ॥
दो० को० २६, ६६॥

इसी प्रकार सिद्ध तान्तिपा की अटपटी वाणी का मर्म समझना भी सरल कार्य नहीं है—

बेंग संसार बाडहिल जाअ। दुहिल दूध कि बेंटे समाअ।
बलद बिआएल गविया बाँझे। पिटा दुहिले एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी। जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते पिआला पिहे अम जूझअ। ढंढपाए गीत बिरले बूझअ॥
बौ० गा० दू०॥

सिद्ध लूइपा (सं० ८३०) की वाणी में प्रतीक-योजना स्पष्ट मिलती है—

काआ तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥
बौ० गा० दू०॥

अर्थात् इस कायारूपी वृक्ष में पाँच विघ्न (बौद्धों के अनुसार काम-क्रोधादि पाँच विघ्न) हैं।

कान्हपा सिद्ध भी इन्हीं स्वरों में गाते हैं—

गंगा जमुना माँझे रे बहई नाई।
तहि बुड़िलि मातंगि पोइला लीले पार करेइ॥ बौ० गा० दू०॥

यहाँ गंगा और यमुना इड़ा और पिंगला के प्रतीक हैं। इसी प्रकार कान्हिपा ने शरीर को नौका, मन को केवट और गुरु को पतवार बनाने का उपदेश दिया है—

काआ नावड़ी खेंटि मन करिआअ। सतगुरु वअणें धर पतिवाल।
बौ० गा० दू०॥

सिद्ध अपनी इस प्रकार की प्रतीकात्मक भाषा को 'संध्या भाषा' कहते थे क्योंकि इसमें लौकिक और अलौकिक की संधि होती थी।

सिद्धों की वाणी में नाड़ी, चक्र, अनाहत नाद आदि तत्त्व भी प्राप्त होते हैं—

नाड़ी शक्ति दिअ धरिअ खदे। अनहद डमरु बाजइ बीर नादे।
कान्ह कपाली जोगी पइठि अचारे। देह-नअरी बिचरइ एकारे॥
बौ० गा० दू० (कान्हिपा)

इस प्रकार सिद्धों की वाणी में सामान्यतया रहस्यात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। सिद्धों की यह रहस्य-भावना अधिकांश में [illegible] है। इनमें भावना की वह रमणीयता, जो सुन्दर काव्य को जन्म देती है, नहीं परिलक्षित होती। सिद्धों के द्वारा प्रचारित इस रहस्यमार्ग का इतना प्रभाव हमारे देश की मध्यकालीन साधना पर पड़ा कि जब सिद्धों का प्रभाव नष्ट हो गया और कबीर ने अपना निर्गुण-मार्ग चलाया तब समस्त सन्त कवियों ने सिद्धों की इस रहस्य-प्रवृत्ति को अपनाया।

रहस्यवादी काव्य की परीक्षा के लिए स्वीकृत मापदण्ड के अनुसार रहस्यवाद का यह साधनात्मक रूप अधिक उत्कृष्ट नहीं समझा जाता। रहस्यवाद का सुन्दर काव्योपयुक्त स्वरूप वही समझा जाता है जिसमें भावना का योग भी होता है। सिद्ध-वाणी में सरहपा की रचनाओं में हमें कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रकृत रहस्यवाद के दर्शन भी होते हैं। सरहपा ने अपने एक सुन्दर गीत में, सांकेतिक भाषा के प्रयोग द्वारा, एक लौकिक प्रेमी-युगल के पारस्परिक प्रेम की गम्भीरता, व्यग्रता, रमणीय पृष्ठभूमि में उनके मिलन आदि व्यापारों का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि वह ईश्वरीय प्रेम में परिणत होता दृष्टिगोचर होता है—

ऊँचा ऊँचा परवत तहँ बसइ सबरी बाली।
मोरंगी पिच्छि पहिरि सबरी गीवत गूजरी माला।
उमत सबरी पागल सबरी मा कर गुली-गुहाड़ा।
तुहारि णिअ घरणी सहअ सुन्दरी।
णाणा तरुवर मौलिल रे गअणत लागेलि डाली।
एकलि सबरी ए बन हिण्डई, कर्ण कुण्डल बज्रधारी।
तिअ धाउ खाट पड़िला, सबरो महासुह सेजइ छाइली।
सबरो भुजंग णइ रामणि दारी, पेक्ख राति पोहाइली।

हिए ताँबोला महासुहे कापुर खाई ।
मुन निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई ।

अर्थात् शबरी ऊँचे पर्वत पर, रमणीय वातावरण में, अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में आकुल भाव से उपस्थित है। उसका प्रियतम शबर और वह; सुख-शय्या पर दोनों ने 'महासुख' प्राप्त किया। शबरी ने हृदय-ताम्बूल में महासुख कपूर रखकर उसका सानन्द सेवन किया।

इस गीत के महासुख, नैरात्म्य (शून्य) आदि शब्द तथा शबरी के रूप में योगिनी-सेवन की क्रिया की ओर संकेत पूरे सांकेतिक रूपक को स्पष्ट कर देते हैं। इसी पद्धति का विकास आगे चलकर प्रेमाख्यानकार सूफी कवियों की रूपक-योजना में दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार विक्रम की ७वीं शताब्दी के मध्य के आसपास से सिद्धों की जो परम्परा हमारे देश में चली वह विक्रम की १२वीं शताब्दी तक बराबर चलती रही। ऋजु मार्ग को छोड़कर इन्होंने वाममार्ग को अत्यन्त तत्परता के साथ अपनाया। दसवीं शताब्दी में इनका प्रभाव अपनी चरम सीमा को पहुँच-कर ह्रासोन्मुख हो गया। इनकी साधना में गुह्य की भावना का एकान्त विकास होने के कारण अनेक प्रकार के अनाचार इनके सम्प्रदाय में आने लगे थे। मांस, मदिरा तथा मानिनी का इन्होंने धार्मिक स्वीकृति के साथ अबाध सेवन किया। परिणाम-स्वरूप इनका प्रभाव कम होने लगा; और इन्हीं में से कुछ विचारवान् महात्माओं ने अलग होकर 'नाथ-पंथ' के नाम से अपना मार्ग अलग चलाया। सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के बाद यवनों का राज्य स्थापित होते ही इनका प्रभाव बिल्कुल नष्ट हो गया, जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

(ग) नाथ सम्प्रदाय में

ऊपर कहा जा चुका है कि १२वीं शताब्दी के आसपास के समय में सिद्धों के सम्प्रदाय में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ गई थीं और उनका प्रभाव द्रुत गति से क्षीण होने लग गया था। उसी समय कुछ विचारवान् महात्माओं ने अपने को इस परम्परा से अलग करके अपना निजी सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय का नाम नाथ-सम्प्रदाय है और गुरु गोरखनाथ इसके आदि प्रवर्तक हैं।

गुरु गोरखनाथ के समय और परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उनका कोई निश्चित वृत्त तो उपलब्ध नहीं होता है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ८४ सिद्धों में वे भी एक सिद्ध थे जो आगे चलकर उस-परम्परा से अलग हो गये और उन्होंने पंजाब तथा राजपूताने को अपना

कार्यक्षेत्र बनाया। ८४ सिद्धों की नामावली में, जिसमें नामों के पौर्वा-पर्य-क्रम में किसी नियम का आधार नहीं है, गोरक्षपा का नाम आता है। अनुमानतः ये ही गोरक्षपा गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। राहुल सांकृत्यायन के मत में गोरखनाथ का समय विक्रम की १०वीं शताब्दी है[1]। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने गुरु गोरखनाथ का समय विक्रम की १३वीं शताब्दी माना है[2]। स्व० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भी अपने 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' ग्रन्थ में गुरु गोरखनाथ का यही समय निश्चित किया है[3]। स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भी अपने निबन्ध 'हिन्दी-काव्य में योग-प्रवाह' में गुरु गोरखनाथ का यही समय माना है[4]। इनके जीवन-वृत्त का इससे अधिक कोई ज्ञान नहीं है। ये मत्स्येन्द्रनाथ या मछिन्दरनाथ के शिष्य थे। सिद्धों और कबीर आदि सन्त कवियों का परम्परित सम्बन्ध नाथ-सम्प्रदाय के द्वारा ही जुड़ता है।

गुरु गोरखनाथ ने अपने नाथ-सम्प्रदाय में अधिकांश सिद्धों की परम्पराओं को ही यथोचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। उत्कट वामाचार के कारण सिद्धों में जो अश्लीलता और बीभत्सता आ गई थी उसका सर्वथा बहिष्कार करके गुरु गोरखनाथ जी ने शुद्ध, पवित्र और ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया—

काँमनी बहतां जोग न होई। गो० बा०, पृ० ८८॥

दार्शनिक मतवाद और साधना के विचार से नाथों और सिद्धों में बहुत कम अन्तर है। सिद्धों में बुद्ध को लेकर जिस ईश्वरत्व की कल्पना का आरम्भ हुआ वह नाथों के द्वारा शिव-शक्ति के रूप में गृहीत हुई। भावना के इस प्रकार शिव-शक्ति-परक होने में आगमवादी तान्त्रिकों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। आगम के अनुसार शिव ही योगिराज हैं। शिव और शक्ति ही जगदुत्पत्ति के मौलिक उपादान हैं—

शक्ति रूपी रज आछे सिव रूपी व्यंद। गो० बा०, पृ० १००।

अद्वैत तत्त्व और रहस्य-भावना की दृष्टि से नाथ-पंथियों में भी प्रायः वे ही सब बातें दिखाई देती हैं जो सिद्धों में बताई जा चुकी हैं। इनकी साधना अन्तर्मुखी है और वाणी अटपटी पहेली की-सी। अन्तःसाधना की रहस्यमयी

१, २. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण सं० २००२, पृ० १२ और १३।

३. पृ० १७५-७६।

४. काशी-नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, सं० ४।

विविध क्रियाओं के रूपक इनकी वाणी में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। लौकिक प्रतीकों के द्वारा रहस्य-तत्त्व की गूढ़ अभिव्यक्ति की चेष्टा नाथ-बानियों में भी मिलती है। शून्य, निरंजन, नाद, विन्दु, सुरति, निरत, सहज आदि सिद्ध-साहित्य के पारिभाषिक शब्द यहाँ भी मिलते हैं। आगे दिये हुए कुछ उदाहरणों से इन तत्त्वों की सप्रमाण उपलब्धि होती है—लौकिक प्रतीकों के असंगत संकलन पर आधारित अटपटी उलटबाँसी, अपनी संध्या-भाषा में, बुद्धि की कठोर परीक्षा ले रही है—

> गगन मंडल मैं ऊँधा कूआ तहाँ अंम्रत का बासा।
> सगुरा होय सो भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा ॥ गो० बा० २३ ॥

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मार्गों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

> अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै, प्यंगुला मारग भांनं।
> सुषुमना मारग बाँणी बोलिए त्रिय मूल अस्थानं ॥ गो० बा० ६४॥

'अनाहत नाद' की रमणीयता अत्यन्त रहस्यमयी है—

> अनहद सबद बाजता रहै सिध संकेत श्रीगोरष कहै। गो० बा० १०६ ॥

जल में जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रहता है उसी प्रकार घट के भीतर ही परमात्मा है—

> आतमां मधे प्रमातमां ज्यौं जलमधे चंदा। गो० बा० १२४ ॥

शून्य या ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रहनेवाले मीन'रूप निरंजन का योग द्वारा वेध (प्राप्ति) कैसा विलक्षण चमत्कारकारक है—

> इक लष सींगणि नव लष बाँन। बेध्या मींन गगन अस्थान। गो० बा० १२७ ॥

कुण्डलिनी के उद्दीप्त होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचने पर आनन्द स्थिर हो जाता है। उस आनन्द का सार तत्त्व सिद्ध ही प्राप्त कर पाते हैं, पंडित नहीं—

> गिगन मंडल में गाय बियाई। कागद दही जमाया।
> छांछि छाणि पिंडता पीवी सिधां माखण खाया ॥ गो० बा० १६६ ॥

प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध वायु ही अनाहत नाद का बोध कराता है, घट के भीतर सर्वत्र विचरण करता हुआ षट्चक्र वेधन करा कर, सोऽहं की अनुभूति देता है—

> बाई गाजै बाई बाजै बाई धुंनि करै।
> बाई षट्चक्र बेधै, अरधैं, उरधैं मधि फिरै।

सोऽहं बाई हंसा रूपी प्यंडै प्यंडै बहै।
बाई कै प्रसादि व्यंद गुरमुष रहै। गो० बा०, पृ० ६६॥

साढ़े तीन हाथ के घट में 'महतो महीयान्' का समावेश और उसका अनुसन्धान कैसा विचित्र है—

चींटी केरा नेत्र मैं गज्येंद्र समाईला।
गावड़ी के मुष मैं बाघला विवाइला॥ गो० बा० पृ० १२६॥

अन्तःसाधना में अमृत-बिन्दु को पीता हुआ साधक षट्चक्र को बेधकर विचित्र प्रकाश देखता है जो औरों के लिए रहस्यमय है—

नींझर झरणैं अमीरस पीवणां षट् दल बेध्या जाइ।
चन्द विहूँणां चांदिणां तहाँ देख्या श्री गोरखराइ॥ गो०बा० १७१॥

नाद और बिन्दु दोनों के साधन से 'अनहद बाजा' सुन पड़ता है, क्योंकि ये वास्तव में प्राण और शरीर हैं[1]—

नाद बिंद बजाइ लै दोऊ पूरि लै अनहद बाजा। गो० बा० १८४॥

इसी प्रकार नाथों की वाणी में सिद्धों की तरह योगियों की साधना के सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः सिद्धों और नाथों की समस्त साधना ही रहस्य-भावना से ओतप्रोत है। इनका ध्येय तत्त्व, निर्गुण और अलख-निरंजन होने के कारण रहस्यमय है। इनकी साधना-पद्धति स्थूल साधन-मार्ग को छोड़कर सूक्ष्म अन्तःसाधना पर आश्रित है। अतः इसमें भी रहस्य-भावना के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है। साध्य और साधन दोनों ही गुह्य होने के कारण योगियों के इन दोनों मार्गों ने एक व्यापक रहस्य-भावना का प्रसार साधना के क्षेत्र में किया। रहस्य-प्रवृत्ति की परम्परा में, आगे चलकर, कबीर, नानक, दादू, मलूकदास आदि निर्गुणोपासक सन्त तथा कुतबन, मञ्झन, जायसी आदि प्रेमाख्यानकार कवि हुए जो हिन्दी-साहित्य की रहस्यवादी काव्यधारा में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। यदि काव्य के क्षेत्र में रहस्यवादी धारा की अवतारणा की दृष्टि से विचार किया जाय तो हिन्दी-साहित्य में यह कार्य सबसे पहले कबीर ने ही किया। अस्तु, काव्य-सम्बन्धी रहस्यवाद के प्रसंग को हम आगे के प्रकरण के लिए सुरक्षित रख अभी केवल इतना ही कहते हैं कि सिद्ध और नाथ योगियों द्वारा साधना के क्षेत्र में रहस्य की जो भावना चलाई गई उसका कुछ ऐसा आकर्षण लगा

१. नादोंशः प्राणः, बिन्दोरंशः शरीरम्—गोरख-सिद्धान्त-संग्रह।

कि सूर जैसे विशुद्ध सगुणवादी भक्तों ने भी एकाध स्थान पर अपनी रचना में यह प्रवृत्ति दिखाई जिसका दिग्दर्शन यथास्थान किया जायगा।

(घ) सन्त-कवियों में

पिछले अनुच्छेद में यह बताया जा चुका है कि सिद्धों के द्वारा प्रवर्तित रहस्य-भावना को नाथ-पंथी योगियों ने यत्न-पूर्वक जीवित ही नहीं रक्खा अपितु उसे अधिकाधिक जनप्रिय बनाने में सफलता प्राप्त की। दोनों के प्रयत्नों से प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में अन्तःसाधना द्वारा निराकार निरंजन की उपासना फैल गई। नाथ-पंथियों के साथ ही साथ देश की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण सिद्धों और नाथ-पंथियों का सम्प्रदाय 'निर्गुण-पंथ' का रूप धारण करके चला। इस 'निर्गुण पंथ' के भीतर रहस्य-भावना का विकास भी कुछ अधिक व्यापक और प्रकृत रूप में हुआ। इस काल की रहस्य-भावना का स्वरूप-निरूपण करने के पहले हम उपर्युक्त परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण प्राप्त कर लेना उपयुक्त समझते हैं।

नाथ-पंथी योगियों ने, यद्यपि, सिद्धों के वीभत्स वामाचार का परिहार करके जनता में शुद्ध और पवित्र वृत्तियों का ही प्रसार किया, परन्तु उनके द्वारा प्रचारित ईश्वरोन्मुख मार्ग में जनता को हृदय रमाने की बात नहीं दिखलाई देती थी। अलौकिक शक्ति और क्षमता के चमत्कार से वह मानो जनता को आतंकित अधिक करता था। साधना का यह मार्ग जनसाधारण के लिए सुकर भी नहीं था। शास्त्रज्ञ, पंडित और विद्वान् इस मार्ग से दूर रहकर सगुण भक्ति में ही संलग्न रहे। हाँ, समाज की नीची श्रेणियों में इनका पर्याप्त आदर हुआ। यहाँ तक कि कुछ मुसलमान भी इनकी ओर आकृष्ट होकर इनके पंथ में आ गए। महमूद गजनवी के आक्रमण के पूर्व ही सिंध और पंजाब में सूफी मुसलमान आ बसे थे और उन्होंने इन योगियों से प्राणायाम आदि कुछ यौगिक क्रियाएँ भी सीखी थीं[1]। सिद्धों और योगियों के निराकार ईश्वर का बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा के विरोधी मुसलमानों को अनुकूल प्रतीत होना स्वाभाविक था। अतः इनके द्वारा एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की गई जिसपर मनुष्य-मात्र के लिए सामान्य उपासना का मार्ग सरलता से प्रशस्त किया जा सका।

विक्रम की १२वीं शताब्दी के बाद ही देश में यवनों का राज्य सुप्रतिष्ठित हो चुका था। देव-विग्रहों के उन्मुक्त विध्वंस का दृश्य परास्त हिन्दू-जनता देख

---

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१।

चुकी थी। अतः जनसाधारण में सगुणोपासना और मूर्तिपूजा के व्यापक प्रसार के अनुकूल परिस्थितियों का अभाव था। साथ ही सामाजिक सौरस्य के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की 'विजित और विजेता' मनोवृत्ति को निकाल फेंकना भी आवश्यक प्रतीत हो रहा था ताकि मौलिक मानव-सम्बन्धों के आधार पर उनका समन्वय किया जा सके। ठीक समय पर कबीर ने (वि० सं० १४५६ से १५७५ तक) समय की गति को पहचानकर, युग की सारी उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए, 'निर्गुण-पंथ' कहलानेवाला एक नया मार्ग जनता के सामने रखा। जनता के एक बड़े भाग ने सहर्ष इस मार्ग का स्वागत किया। कबीर ने अपने पंथ में सिद्धों और नाथों की अन्तः-साधना के सभी तत्त्वों को ग्रहण किया। भारतीय अद्वैतवाद, सूफियों का प्रेम-तत्त्व, पैगम्बरी एकेश्वरवाद, वैष्णवों की अहिंसा और प्रपत्तिवाद आदि अन्य तत्त्वों को भी कबीर ने अपने पंथ में ग्रहण किया। इस प्रकार प्रायः सभी प्रचलित उपादेय तत्त्वों के सम्मिश्रण से कबीर ने अत्यन्त व्यवस्थित रूप में अपना पंथ चलाया। कबीर के बाद दादू, नानक, धर्मदास, पलटू, रैदास, दरिया साहब, मलूकदास, सुन्दरदास आदि अनेक सन्त कवि इसी परम्परा में हुए। इनमें से कुछ महात्माओं के अपने-अपने मत अलग हो गए पर उनमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रहा।

जैसा कि कह चुके हैं, सिद्धों और योगियों की पुरानी परम्परा के अनुरूप ही कबीर के उपास्य निर्गुण थे। जनता को, अधिकाधिक संख्या में, अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए तथा अपने गुरु स्वामी रामानन्द जी के प्रभाव से कबीर ने अपने इष्ट उपास्य की संज्ञा 'राम' ही रखी। 'राम' संज्ञा से कहीं सगुण अवतार को लोग न समझ लें इसलिए कबीर ने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया कि वे दशरथपुत्र राम नहीं हैं—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।

क० ग्रन्था०, पृ० ३२ ॥

अथवा

निर्गुन राम निर्गुन राम जपहु रे भाई। अविगत की गति लखी न जाई[1]।

ऐसे निर्गुण राम की उपासना का मार्ग अन्तःसाधना की यौगिक क्रियाओं के आधार पर ही निरूपित किया गया है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, सहज, शून्य, सुरति, निरति, नाड़ी, षट्चक्र आदि के वर्णन उसी प्रकार

---

१. 'हिन्दी सन्त-काव्य-संग्रह'–हिन्दुस्तानी एकेडमी, संस्करण १९५२, पृ० १०३

रहस्यवादी ढंग से यहाँ भी मिलते हैं जिस प्रकार पुराने योगियों के यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। इन तत्त्वों की भिन्न-भिन्न स्थितियों को लेकर सन्ध्याभाषा में अटपटी बानी का प्रयोग कबीर ने बराबर किया है। इनपर आधारित दुर्बोध रूपक भी कबीर की रचना में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

कबीर की दृष्टि में भी एक अद्वय तत्त्व ही सर्वत्र व्याप्त है, जैसा कि भारतीय अद्वैत-वेदान्त में माना गया है—

पांणीं ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया अब कछु कह्या न जाइ॥

कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १३॥

इड़ा और पिंगला के योग से ही घट के भीतर ही उस औघट की प्राप्ति होती है —

सूर सामांणां चन्द में दहूँ किया घर एक,
मन का च्यंता तब भया कछू पूरबिला लेख।
घर मांहै औघट लह्या औघट मांहै घाट,
कहि कबीर परचा भया गुरु दिखाई बाट॥ क० ग्रन्था०, पृ० १३॥

उन्मनी समाधि की दशा में मन शून्य में प्रविष्ट होकर अद्भुत दृश्य, चन्द्रमा के बिना प्रकाश के, देखता है—

मन लागा उनमन्न सौं गगन पहूँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणां चांदिणां तहाँ अलख निरंजन राइ॥

क० ग्रन्था०, पृ० १३॥

अन्तर्मुखी योग-साधना का स्पष्ट चित्र इस पद में प्राप्त होता है—

अबधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीवै।

× × × × ×

सूल बाँधि सर गगन समांनां सुषुमन यों तन लागी॥

क० ग्रन्था०, पृ० ११०॥

'अनाहत नाद' को कबीर ने भी पूरा महत्त्व दिया है—

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
अविगति अंतरि प्रगटै लागै प्रेम धियान॥ क० ग्रन्था पृ० १६॥

हठयोग के भिन्न-भिन्न तत्त्वों और अन्तःसाधना की विविध स्थितियों का वर्णन कबीर ने भी अटपटी वाणी में पहेली के ढंग से किया है—

आकासे मुखि औंधा कूँआ पाताले पणिहारि।
ताका पाणीं को हंसा पीवे बिरला आदि बिचारि॥

क० ग्रन्था०, पृ० १६॥

नीचे के पद में विचित्रताओं का एक विलक्षण रूप खड़ा किया गया है—

तरुवर एक पेड़ बिन ठाड़ा बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाके अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरति करां बिन बाजे जिभ्या हींणां गावै।
गावणहारे के रूप न देखा सद्गुरु होय लखावै॥

क० ग्रन्था०, पृ० १४३॥

कबीर की यह उलटवाँसी अति प्रसिद्ध है। इसमें विरहाग्नि की प्रबलता के कारण कुण्डलिनी के महाशून्य में चढ़ जाने का कैसा विचित्र और रहस्यमय वर्णन किया गया है—

सँमदर लागी आगि नदियां जल कोइला भई।
देखि कबीरा जानि मंछी रुषां चढ़ि गई॥

क० ग्रन्था०, पृ० १२॥

भारतीय अद्वैतवाद के अनुसार एक तत्त्व ही समस्त चराचर में उसी प्रकार व्याप्त हो रहा है जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध रहती है। कबीर ने इसका वर्णन किया है—

पुहुप बास भँवरा एक राता।—क० ग्रन्था०, पृ० १४३।

रहस्यवाद के मूल में यह भावना अतर्निहित रहती है।

ऊपर के उद्धरणों में कबीर की जो रहस्य-भावना प्रकट होती है वह साम्प्रदायिक और परम्पराप्रात है। साधनात्मकता इसका मुख्य गुण होता है। इस अनुच्छेद के आदि में यह कहा जा चुका है कि कबीर ने रहस्य-भावना को प्रकृत और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके हिन्दी-साहित्य में रहस्वाद की नींव डाली। यह कार्य कबीर ने इस बुद्धि-प्रधान रहस्यभावना में हृदय का योग करके किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतवर्ष में सूफी मुसलमानों का आवागमन महमूद गजनवी के पहले से ही आरम्भ हो चुका था। इनके सम्पर्क से कबीर को निर्गुण से प्रेम करने की प्रेरणा मिली। फलस्वरूप कबीर ने

भावात्मक दृष्टि से अपने उपास्य निर्गुण राम की सार्वत्रिक व्याप्ति देखी। अपने साथ अनेक सांसारिक सम्बन्धों में भी कबीर ने उन्हें देखा; कहीं प्राणप्रिय के रूप में, कहीं माता-पुत्र के रूप में। रहस्यवाद की एक और प्रमुख विशेषता की प्रवृत्ति भी कबीर ने हिन्दी-साहित्य को सर्वप्रथम दी जो आगे चलकर रहस्यवादी कविता का एक अनिवार्य अंग बन गई। वह है विरह पीड़ा की मार्मिक अनुभूति। इन तथ्यों की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

राम के साथ कबीर का दाम्पत्य-सम्बन्ध है जो रहस्यभावना की सुन्दर सृष्टि करता है—

दुलहिनि गावहु मंगलचार। हमरे घर आए हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुँनै आए मैं जोबन मदमाती॥ क० ग्रन्था०, पृ० ८७॥

प्रियतम राम के प्रति कबीर के मन में अनन्य प्रीति है—

अब तोहि जाँन न दैंहूँ रांम पियारे। ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे।
बहुत दिननि के बिछुरे हरि पाए। भाग बड़े घरि बैठे आए॥
इत मन मंदिर रहौ नित चोषे, कहै कबीर परहु मति धोषै॥
क० ग्रन्था०, पृ० ८७॥

परन्तु इनका राम की उपासना का ढंग, प्रेम तत्त्व के साथ अन्तः-साधनात्मक ही है—

षट्दल कमल निवासिया चहुँ कौं फेरि मिलाइ रे।
अष्ट कमलदल भीतरां तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे॥
सतगुरु मिलै तो पाइया नहिं जन्म अकारथ जाइ रे।
क० ग्रन्था०, पृ० ८८॥

किन्तु अवगुणों का पात्र साधक यदि माता-पुत्र-भाव की प्रपत्ति करता है तो उद्धार की अधिक आशा रहती है। इसी भरोसे पर कबीर ने अपने को राम का बालक भी माना है—

हरि जननी मैं बालिक तोरा, काहे न अवगुण बकसहु मोरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कैं चित्त रहैं न तेते॥
कर महि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुःखी दुखी महतारी॥
क० ग्रन्था०, पृ० १२३॥

इस प्रकार किसी अगम, अगोचर, अलख तत्त्व के साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्धों की मार्मिक अनुभूति रहस्यवाद का एक बड़ा सुन्दर और प्रकृत स्वरूप प्रस्तुत करती है। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-भक्ति-रस में आकण्ठ मग्न रहनेवाली मीरा ने भी इसी प्रकार की कल्पनाओं में अपने भाव को खो दिया था।

कबीर की उक्तियों से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें साधना के द्वारा परम तत्त्व की उपलब्धि हो चुकी थी। उन्हें सर्वत्र अपने उपास्य की विभूति छाई हुई दृष्टिगोचर होती थी। तादात्म्य अथवा अद्वैत की यह वास्तविक अनुभूति रहस्यवाद का मूल आधार है—

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब, मेरी विलगि-विलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो॥

क० ग्रन्था०, पृ० १०५॥

यह समस्त चराचर जगत् ईश्वरमय है—

खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।

क० ग्रन्था०, पृ० ३४॥

कबीर की यह मान्यता भारतीय अद्वैतवाद अथवा सर्वात्मवाद के बिल्कुल अनुरूप है। भारतीय वेदान्त में जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करने के लिए 'कनक-कुण्डल', 'जल-तरंग' आदि के अनेक उदाहरण आते हैं। कबीर ने उनका प्रत्यक्ष उल्लेख किया है—

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
तैसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावहिंगे॥
जैसे जलहिं तरंग तरंगिनि ऐसे हम दिखलावहिंगे।

क० ग्रन्था०, पृ० ३७॥

इस प्रकार इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मवाद अथवा सर्वात्मवाद के ढंग की अद्वैत भावना को कबीर ने बराबर अपनाया और उसके रहस्यमय आभासों का परिचय उन्होंने बराबर दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि सूफी प्रभाव के कारण कबीर में उस 'निर्गुण राम' के प्रति उत्कट प्रेम और विरह-वेदना दृष्टिगोचर होती है। विरह की वेदना कबीर की रग-रग में व्याप्त है—

सब रग तत्त रबाब तन बिरह बजावे नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साँई कै चित्त॥ क० ग्रन्था०, पृ० ६॥

आँखें प्रिय की प्रतीक्षा में हैं और जिह्वा उनके नाम-स्मरण में—

> अंषड़ियाँ झाँई पड़ी बाट निहारि निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ९ ॥

नीचे के दोहे में विरह की आध्यात्मिकता कितनी स्पष्ट है—

> यहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नांउ।
> लेखनि करौं करंक की लिखि-लिखि राम पठांउ ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ८॥

यह विरह सद्गुरु के एक उपदेश से ही उत्पन्न हो गया था—

> सद्गुरु साचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
> लागत ही मैं भैं पड़्या भया कलेजै छेक ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ४ ॥

निरन्तर रोते रहने के कारण नेत्रों का वर्ण लाल रहने लगा है। पर इस रहस्य को दुनिया नहीं जानती। लोग समझते हैं कि आँखें दुख रही हैं—

> अंषड़ियाँ प्रेम कसाइया लोग जाणैं दुषड़ियाँ।
> साँई अपणैं कारणैं रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ८ ॥

इसी प्रकार कबीर ने उत्कट विरह-वेदना का वर्णन अनेक प्रकार से किया है।

अब यदि ऊपर के सम्पूर्ण चित्रों पर एक साथ विचार करते हैं तो रहस्य भावना का एक अत्यन्त सुन्दर और सम्पूर्ण चित्र सम्मुख आ जाता है। घट-घट में व्यापी निर्गुण तत्त्व की दिव्य विभूतियों की झलक का सर्वत्र दिखाई देना, उसकी साधना के योग-मार्ग का नितान्त रहस्यपूर्ण होना और उस अतीन्द्रिय तत्त्व के प्रति मन में असाधारण प्रीति एवं उत्कट विरहानुभूति आदि सभी तत्त्व मिलकर रहस्यवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत करते हैं वह बड़ा रमणीय और स्वाभाविक है। हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में इसकी प्रथम अवतारणा का श्रेय कबीर को ही है।

इस रहस्यवाद को अभिव्यक्त करने के साधन भी अत्यन्त प्रभविष्णु, आकर्षक और रहस्यवादी भावना के अनुरूप ही रखे गए हैं। उनमें स्वतः इतनी क्षमता है कि कहीं-कहीं वे रहस्य-भावना के अभाव में भी वस्तु-वर्णन को रहस्यवादी रंग दे देते हैं। ये साधन अन्योक्ति अथवा रूपकातिशयोक्ति के ढंग पर प्रयोग में लाए हुए प्रतीक हैं। जीव और ब्रह्म की अद्वयता और पारमार्थिक एकता को प्रकट करने के लिए नलिनी की जो प्रतीक-योजना है वह बड़ी समर्थ है—

> काहे री नलिनी तूँ कुंमिलानी। तेरेहि नाल सरोवरि पानी।
> जल में उतपति जल में बास जल में नलिनी तोर निवास ॥

इस प्रकार किसी अगम, अगोचर, अलख तत्त्व के साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्धों की मार्मिक अनुभूति रहस्यवाद का एक बड़ा सुन्दर और प्रकृत स्वरूप प्रस्तुत करती है। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम-भक्ति-रस में आकण्ठ मग्न रहनेवाली मीरा ने भी इसी प्रकार की कल्पनाओं में अपने भाव को खो दिया था।

कबीर की उक्तियों से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें साधना के द्वारा परम तत्त्व की उपलब्धि हो चुकी थी। उन्हें सर्वत्र अपने उपास्य की विभूति छाई हुई दृष्टिगोचर होती थी। तादात्म्य अथवा अद्वैत की यह वास्तविक अनुभूति रहस्यवाद का मूल आधार है—

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब, मेरी विलगि-विलगि बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो॥
क० ग्रन्था०, पृ० १०५॥

यह समस्त चराचर जगत् ईश्वरमय है—

खालिक खलक, खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।
क० ग्रन्था०, पृ० ३४॥

कबीर की यह मान्यता भारतीय अद्वैतवाद अथवा सर्वात्मवाद के बिल्कुल अनुरूप है। भारतीय वेदान्त में जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित करने के लिए 'कनक-कुण्डल', 'जल-तरंग' आदि के अनेक उदाहरण आते हैं। कबीर ने उनका प्रत्यक्ष उल्लेख किया है—

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
तैसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावहिंगे॥
जैसे जलहिं तरंग तरंगिनि ऐसे हम दिखलावहिंगे।
क० ग्रन्था०, पृ० ३७॥

इस प्रकार इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मवाद अथवा सर्वात्मवाद के ढंग की अद्वैत भावना को कबीर ने बराबर अपनाया और उसके रहस्यमय आभासों का परिचय उन्होंने बराबर दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि सूफी प्रभाव के कारण कबीर में उस 'निर्गुण राम' के प्रति उत्कट प्रेम और विरह-वेदना दृष्टिगोचर होती है। विरह की वेदना कबीर की रग-रग में व्याप्त है—

सब रग तत्त रबाब तन बिरह बजावे नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साँई कै चित्त॥ क० ग्रन्था०, पृ० ६॥

आँखें प्रिय की प्रतीक्षा में हैं और जिह्वा उनके नाम-स्मरण में—

अंषड़ियाँ झाँई पड़ी बाट निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ६ ॥

नीचे के दोहे में विरह की आध्यात्मिकता कितनी स्पष्ट है—

यहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नांउ।
लेखनि करौं करंक की लिखि-लिखि राम पठांउ ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ८॥

यह विरह सद्‌गुरु के एक उपदेश से ही उत्पन्न हो गया था—

सद्‌गुरु साचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मैं पड़्या भया कलेजै छेक ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ४ ॥

निरन्तर रोते रहने के कारण नेत्रों का वर्ण लाल रहने लगा है। पर इस रहस्य को दुनिया नहीं जानती। लोग समझते हैं कि आँखें दुख रही हैं—

अंषड़ियाँ प्रेम कसाइया लोग जाणैं दुषड़ियाँ।
साँई अपणैं कारणैं रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥ क० ग्रन्था०, पृ० ८ ॥

इसी प्रकार कबीर ने उत्कट विरह-वेदना का वर्णन अनेक प्रकार से किया है।

अब यदि ऊपर के सम्पूर्ण चित्रों पर एक साथ विचार करते हैं तो रहस्य भावना का एक अत्यन्त सुन्दर और सम्पूर्ण चित्र सम्मुख आ जाता है। घट-घट में व्यापी निर्गुण तत्त्व की दिव्य-विभूतियों की झलक का सर्वत्र दिखाई देना, उसकी साधना के योग-मार्ग का नितान्त रहस्यपूर्ण होना और उस अतीन्द्रिय तत्त्व के प्रति मन में असाधारण प्रीति एवं उत्कट विरहानुभूति आदि सभी तत्त्व मिलकर रहस्यवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत करते हैं वह बड़ा रमणीय और स्वाभाविक है। हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में इसकी प्रथम अवतारणा का श्रेय कबीर को ही है।

इस रहस्यवाद को अभिव्यक्त करने के साधन भी अत्यन्त प्रभविष्णु, आकर्षक और रहस्यवादी भावना के अनुरूप ही रखे गए हैं। उनमें स्वतः इतनी क्षमता है कि कहीं-कहीं वे रहस्य-भावना के अभाव में भी वस्तु-वर्णन को रहस्यवादी रंग दे देते हैं। ये साधन अन्योक्ति अथवा रूपकातिशयोक्ति के ढंग पर प्रयोग में लाए हुए प्रतीक हैं। जीव और ब्रह्म की अद्वयता और पारमार्थिक एकता को प्रकट करने के लिए नलिनी की जो प्रतीक-योजना है वह बड़ी समर्थ है—

काहे री नलिनी तूँ कुंमिलानी। तेरेहि नाल सरोवरि पानी।
जल में उतपति जल में बास जल में नलिनी तोर निवास ॥

ना तलि तपति ना ऊपरि आग तोर हेत कहु कासन लाग।
कहै कबीर जे उदिक समांन ते नहिं मुए हमारी जान॥

क० ग्रन्था०, पृ० १०६॥

'चादर' को शरीर का प्रतीक मानकर नीचे के पद में वर्णन किया गया है—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै तागा काहे कै भरनी कौन तार से बीनी चदरिया॥

क० ग्रन्था०, पृ० ५८॥

इसी प्रकार कबीर ने अन्योक्तियों द्वारा भी हृदयस्पर्शी ढंग से जो वर्णन किए हैं उनके संकेत आध्यात्मिक होने के कारण उनमें भी रहस्यवाद का सुन्दर रूप उपलब्ध होता है—

बाढ़ी आवत देखकर तरिवर डोलन लाग।
हमें कटे का डर नहीं पंखेरू घर भाग॥ क० ग्रन्था, पृ० ६१॥

यहाँ बाढ़ी काल, पंखेरू आत्मा और वृक्ष शरीर है।

इसी प्रकार—

मालन आवत देखकर कलियाँ करी पुकार।
फूली फूली चुन लई काल हमारी बार॥ क० ग्रन्था०, पृ० ६१॥

इसमें मालिन मृत्यु और फूले हुए फूल वृद्ध लोग तथा कलियाँ युवक लोग हैं—

इसी प्रकार—

बुगली नीर बिटा लिया सायर चढ़्या कलंक।
और पंखेरू पी गए हँस न बोवै चंच॥ क० ग्रन्था०, पृ० ३५॥

इसमें बगुली माया, सागर संसार-सागर और हँस ज्ञानी जन हैं।

इस प्रकार ऊपर अभिव्यक्ति की जो दो सरणियाँ प्रदर्शित की गई हैं उन दोनों में अत्यन्त हृदयस्पर्शिता के साथ आध्यात्मिक संकेत प्रकट किए गए हैं जो कि रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आते हैं।

इस विवेचन से प्रकट है कि हिन्दी-साहित्य में प्रथम बार सर्वांगपूर्ण रहस्यवाद की अवतारणा कबीर ने की। कबीर के पश्चात् होनेवाले अन्य सन्त कवियों ने भी कबीर की तरह ही साधना-मार्ग का अनुसरण किया। उनमें से बहुतों ने अपने अलग पंथ भी चलाए। परन्तु उनके रहस्यवादी वर्णनों में कोई उल्लेख-योग्य नवीनता न थी। कई महात्माओं ने सीधे-सादे ढंग से ही योग-मार्ग के विविध विवरणों को लेकर रचना की है।

(ङ) सूफी कवियों में

पिछले अनुच्छेदों में किए गए विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में अद्वैत-तत्त्व और उसपर आधारित रहस्य-भावना का प्रायः अविच्छिन्न प्रवाह चला आ रहा था जिसे वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथियों ने अपने साम्प्रदायिक रहस्यवाद का सुस्पष्ट रूप दिया। १२वीं शताब्दी के बाद से ही पल्लवित होनेवाली परिस्थितियों के कारण भारतीय-साधना-क्षेत्र में जिस प्रकार एक 'निर्गुण-पंथ' चल पड़ा इसका दिग्दर्शन भी पहले कराया जा चुका है। इस निर्गुण-पंथ को सुव्यवस्थित रूप देने का कार्य कबीर ने किया। कबीर के 'निर्गुण-पंथ' में पुरानी रहस्य-भावना भी एक अधिक व्यापक और प्रकृत स्वरूप में सामने आई। कबीर की साधनात्मक रहस्य-भावना, सूफियों के प्रेम तत्त्व के योग से ही स्वाभाविक रहस्यवाद का रूप धारण कर सकी थी। सूफियों के द्वारा हिन्दी-काव्य में जिस रमणीय और काव्योपयोगी रहस्यवाद की सृष्टि हुई उसका संक्षिप्त परिचय इस अनुच्छेद में दिया जा रहा है।

अरब और फारस आदि मध्य-पूर्वीय देशों में इसलाम के उदय के कुछ बाद ही भारतीय तत्त्व-ज्ञान की चर्चा फैलने लगी थी। वहाँ के सूफी कहलानेवाले तत्त्व-ज्ञानी-दल में से बहुत से अध्यवसायी व्यक्ति इन चर्चाओं से आकृष्ट होकर भारतवर्ष के सिन्ध और पंजाब प्रान्त में आ बसे थे। यहाँ ये विशेषतया नाथ-पंथी योगियों, तान्त्रिकों और रासायनिकों के सम्पर्क में आए और अनेक प्रकार की हठयोग की क्रियाएँ भी इन्होंने सीखीं। दूसरी ओर सूफी अपने निजी सिद्धान्त-वाद के अनुसार निर्गुण ईश्वर की उपासना प्रेम-मार्ग से किया करते थे। धीरे धीरे परिस्थितियों के अनुरोध से हमारे साधना-क्षेत्र में एक ऐसे 'निर्गुण-पंथ' का प्रचार हुआ जिसका उद्देश्य मानव-मानव के बीच के कृत्रिम व्यवधानों को दूर कर उन्हें मानवता की एक सामान्य भावभूमि पर लाकर खड़ा कर देना था। हिन्दू और मुसलमान, उच्च जाति और हीन-जाति के हिन्दुओं को भी एकता के सूत्र में बाँधने के संस्कार गुरु गोरखनाथ के समय से ही चल पड़े थे। अतः निर्गुण पंथ में ऐसे ईश्वर-तत्त्व की उपासना ही स्वीकृत की गई जो किसी को भी अमान्य न हो। भारत में विदेशों से आकर बस जानेवाले सूफी महात्माओं ने भी इस प्रवृत्ति में योग दिया और वे भी 'निर्गुण-पंथ' के भीतर मानव-मात्र के लिए उपयोगी एक उपासना-मार्ग को लेकर सामने आए जो कि उनकी अपनी सैद्धान्तिक विशेषताओं के भी अनुकूल था।

सूफी-साधना में अत्यन्त दूरदर्शिता के साथ हृदय पक्ष का योग भी पहले से

ही कर लिया गया था। केवल बुद्धि की अपेक्षा बुद्धि और हृदय का समन्वय अधिक श्रेयस्कर, और साथ ही साथ सुकर भी, होता है। पूर्णता तो कर्म के योग से ही प्राप्त होती है। हृदय-पक्ष का जो सर्वप्रधान-भाव है अथवा जो सृष्टि का बीज-भाव है प्रेम उसको सूफियों ने साधना के लिए अपनाया। यह एक दूसरी बात है कि वे उसकी पवित्रता का निर्वाह कर सके या नहीं। सूफियों के अनुसार लौकिक प्रेम को ही ईश्वरीय प्रेम में परिणत कर देना चाहिए। इस प्रेममयी साधना के कारण ही सूफी-सम्प्रदाय में ईश्वर की भावना प्रियतम-रूप में की जाती है।

इस प्रकार यह स्वाभाविक ही हुआ कि निर्गुण-पंथ में सूफी-संत अपनी उत्कट-प्रेम-भावना को लेकर आए। उनका उद्देश्य ईश्वर तक जानेवाले एक ऐसे प्रेम-मार्ग की स्थापना करना था जो मानव-मात्र के लिए ग्राह्य हो सकता था। इस कार्य के लिए उन्होंने हिन्दुओं के घरों में प्रचलित कुछ ऐसी कथाओं को लिया जिनके माध्यम से 'प्रेम की पीर' की गंभीरतम व्यंजना हो सकती थी। इसी लिए ये महात्मा 'प्रेनाख्यानकार' कवि कहलाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सूफी-सन्तों को अपने कार्य में पूरी सफलता मिली। लौकिक प्रेम का ईश्वर की ओर जाता हुआ जो वर्णन प्रेमाख्यानों में किया गया है, पार्थिव रूप-सौन्दर्य का जो व्यापक आभास इनकी रचनाओं में उपलब्ध होता है, वह एक ऐसे सर्वाङ्ग-सुन्दर रहस्यवाद की हिन्दी-साहित्य में सृष्टि करता है जो एक ओर तो अनुभूति की तात्त्विकता के कारण सत्य है और दूसरी ओर अकृत्रिम और निश्छल मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ है। सच्चा, भावनात्मक और काव्य का अंगीभूत रहस्यवाद, यदि सच पूछा जाय तो, यही है। इसकी तुलना में आधुनिक कवियों का रहस्यवाद काल्पनिक और मिथ्या है क्योंकि उसकी रहस्यानुभूति का आधार कल्पना है, वास्तविक अनुभव नहीं।

कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद आदि प्रसिद्ध सन्त इस परम्परा में हुए। इन सब में मलिक मोहम्मद जायसी श्रेष्ठ माने जाते हैं। यहाँ हम उन्हीं को इस परम्परा का प्रतिनिधि मानकर उनके द्वारा प्रकाशित रहस्य-भावना का संक्षिप्त परिचय देंगे। उनकी समस्त विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में कुतबन की 'मृगावती' और मंझन की मधुमालती तथा आगे के अन्य कवियों की रचनाओं में भी प्राप्त होती हैं।

जायसी ने अपने बृहत् प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' की रचना मसनवी पद्धति में की। अलाउद्दीन खिलजी के समसामयिक चित्तौर-नरेश रत्नसेन के, सिंहल की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम-पाश में फँसकर उसकी प्राप्ति के लिए, जोगी होकर

निकल जाने और अनेक बाधाओं को सहकर अन्त में उसे प्राप्त करने का वर्णन इस प्रबन्ध-काव्य में किया गया है। उत्तरार्ध में अलाउद्दीन द्वारा पद्मावती को प्राप्त करने के प्रयत्न तथा उनके परिणामों का दुःखान्त वर्णन है। कथा के द्वारा कवि का उद्देश्य रत्नसेन रूपी जीव का पद्मावती रूपी ईश्वर को प्राप्त करने का वर्णन करना है।

अतः कथा के प्रायः सभी पात्रों की लौकिक सत्ता के अतिरिक्त उनके आध्यात्मिक संकेत भी व्यक्त किए गए हैं[1]। कथा का पूर्वार्द्ध इन संकेतों की परम स्वाभाविक और अत्यन्त रमणीय व्यंजना से भरा हुआ है। हाँ, उत्तरार्द्ध में इस रूपक (Allegory) का निर्वाह प्रायः नहीं हुआ है

कथा के अन्त में रूपक-योजना को स्पष्ट कर देने से रहस्यवाद की निष्पत्ति में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष आ गया हो ऐसी बात नहीं है। जायसी ने सारे वर्णन इस सुन्दरता और प्रबल सांकेतिकता के साथ किए हैं कि उस रहस्यमयी अव्यक्त सत्ता का आभास सहज रूप से स्वयं मिलता चलता है। ऐसे प्रसंगों में ही रमणीय रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।

जायसी के रहस्यवाद का मुख्य रूप उनके द्वारा निरूपित प्रेम की ईश्वरोन्मुखता है। सृष्टि का कण-कण, मानो, उसी अव्यक्त ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम से व्याप्त है। प्रेम का सर्वोत्कृष्ट विकास वियोग में होता है। फलस्वरूप प्रकृति के समस्त उपादान एक व्यापक विरह की भावना में आकण्ठ निमग्न हैं। समस्त व्यापारों का पर्यवसान उसके साथ महामिलन में है—

विरह की आगि सूर जरि काँपा। रातिउ दिवस करै ओहि तापा॥
जा० ग्रन्था०, पृ० ७८॥

उन्ह बानन अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाँहि न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देइँ सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहिं तन सब पाँख॥ जा० ग्रन्था०, पृ० ४३॥

---

१. **तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
जा० ग्रन्था०, पृ० ३०१॥**

विरह-वेदना और प्रेम की कैसी विश्व-व्यापक व्यञ्जना है। यह केवल पद्मावती के प्रति ही व्यक्तियों की प्रतिपत्ति नहीं है अपितु अखिल विश्व की उस व्यापक तत्त्व की ओर प्रतिपत्ति है।

नीचे के दोहे में विरह की जो तल्लीनता बताई गई है उसका संकेत शुद्ध अध्यात्म पक्ष में प्रतीत होता है—

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तैं धुनि उठैं, कहौं बिथा केहि भाँति ॥ जा० ग्रन्था०, पृ० १५६॥

ऐसे तीव्र विरह को उत्पन्न करनेवाला प्रेम-मार्ग अत्यन्त कठिन है—

प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा ॥
पंथ सूरि कै उठा अंकूरू। चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू ॥
जा० ग्रन्था०, पृ० ५१ ॥

प्रेम-मार्ग की यह दुर्गमता ईश्वरीय प्रेम-मार्ग की ओर स्पष्ट संकेत करती है। इसी प्रकार पूरे प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर ऐसे वर्णन हैं जहाँ चित्रित विरह और प्रेम ईश्वरीय प्रेम की ओर सुन्दर संकेत करते हैं और रहस्यवाद का स्वाभाविक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

रूप-वर्णन में जायसी ने अद्वैत-तत्त्व की प्रतिष्ठा अत्यन्त भावुकता से की है। वेदान्त के सर्ववाद या ब्रह्मवाद की तरह सभी तत्त्वों में उसी के रूप का आभास है। वह सब में है और सब उसमें हैं। वह मानो पारस है जो सब को छूकर अपना-सा ही बना देता है। वह दर्पण है जिसमें सब को अपने रूप दिखाई देते हैं क्योंकि विश्व के अखिल नामरूपों का अधिष्ठान उसी में है—

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई ॥
भा निरमल तिन्ह पाँयन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे ॥
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई ॥
पावा रूप रूप जस चहा। ससि मुख जनु दरपन होइ रहा ॥
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर ॥ जा० ग्रन्था०, पृ० २५ ॥

प्रकृति के जो नाना पदार्थ अपनी विभूतियों का विस्तार करते हैं वह उसी के अर्पण के लिए—

पुहुप सुगन्ध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।
जा० ग्रन्था०, पृ० ५४ ॥

सब पदार्थ उस एक तत्त्व की ज्योति से ही ज्योतित हैं।—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।

रवि, ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥

जा० ग्रन्था०, पृ० १५८॥

प्रेम स्वरूप उस अनन्त प्रियतम से मिलन का क्षण भी बड़ा रमणीय, शीतल और सुखद है—

गा अँधियार, रैनि मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रवि फूटी॥

जा० ग्रन्था०, पृ० २५॥

परन्तु मायिक संस्कार वहाँ पहुँचते-पहुँचते अपना चमत्कार दिखा देते हैं और अन्तराय उपस्थित कर देते हैं। रत्नसेन को पद्मावती के साक्षात्कार का जितना समय मिला था वह उसने मूर्छा में ही खो दिया। किन्तु जब अभ्यास के कारण उस ज्योति के समक्ष ठहरने की क्षमता आ जाती है तब—

होतहिं दरस परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना॥

जा० ग्रन्था०, पृ० २५६॥

इस तरह जायसी ने परम सुन्दर रूप में काव्योपयोगी सर्वाङ्गपूर्ण रहस्यवाद की सृष्टि हिन्दी-काव्य में सर्वप्रथम की है। प्रेम-मार्ग की विविधि दशाओं का वर्णन 'पद्मावत' की पूरी रचना में ऐसे सुन्दर रूप में फैला हुआ है कि उसे अवतरणों और उद्धरणों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। लौकिक वर्णनों के बीच में अलौकिक व्यंजना इतने स्वाभाविक रूप में आती है कि देखते ही बनता है। स्त्रियों के लिए पति-गृह-गमन एक अत्यन्त मार्मिक बात है। नीचे की पंक्तियों में कितनी मधुरता से उसका संकेत अध्यात्म-पक्ष की ओर जाता दिखाई देता है—

अनचिन्ह पिउ काँपौं मन माहाँ। का मैं कहब गहब जो बाहाँ।

जा० ग्रन्था०, पृ० ६२॥

जायसी के रहस्यवाद का जो स्वरूप ऊपर दिखाया जा चुका है वह भारतीय अद्वैत-परक सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद में सूफियों के अपने प्रेम-तत्त्व के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुआ है। यह विशुद्ध भावनात्मक रहस्यवाद है। किन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सूफियों पर नाथ-पंथी योगियों की अन्तर्मुखी साधना का भी प्रभाव था, अतः जायसी ने उस प्रकार के साधनात्मक रहस्यवाद की रचना भी की है। पद्मावत के आरम्भ में ही वे सिंहल गढ़ की 'पौरियों' के व्याज से शरीर के भीतर भी उस दशा को, जो हठयोग-सम्मत है, प्रकट करते हैं—

नवौ खंड नौ परी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़े सत सौं उतरै पार ॥
नौ पौरी पर दसम दुआरा। तेहि पर बाज राज-घरियारा ॥

नव-छिद्रात्मक शरीर में दसवाँ ब्रह्मरन्ध्र है। हठयोग-सम्मत इस वर्णन के साथ 'चारि बसेरे'[1] वाली शुद्ध सूफी मान्यता का मेल भी कर दिया गया है।

इसी प्रभाव में जायसी ने घट के भीतर ही ईश्वर का अधिष्ठान बताया है—

अहुठ हाथ तन सरवर। हिया कमल तेहि माँहि ॥
नैनंनि जानहु नीयरे। कर पहुँचत औगाह ॥

साढ़े तीन हाथ के इस शरीर में ही हृदय-कमल में उसकी ज्योति अवस्थित है। इतने समीप होते हुए भी हम उसे नहीं जान पाते।

एक जगह तो अन्तःसाधना का पूरा चित्र जायसी ने खींचा है—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखि ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझि हठि कीन्हें। जेहि पावा तेहि आपुहिं चीन्हें ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहि पाँच कोटवारा ॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका ॥
भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुण्ड सुरंग तेहि माहाँ। तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥

जा० ग्रन्था०, पृ० ९३ ॥

साधना का पूरा हठयोगी वर्णन है। 'पाँच कोटवारा' पाँच अन्तराय हैं; सिद्धों के पूर्ववर्णित 'काआ तरुअर पंच विडाल' की तरह। प्रतीत होता है कि जायसी ने परम्परा-पालन के लिए ही ऐसे वर्णन किए हैं। भावनात्मक रहस्यवाद जिस प्रकार कबीर के हृदय-तल से निकला नहीं प्रतीत होता है उसी प्रकार यह साधनात्मक रहस्यवाद भी जायसी के हृदय की वस्तु नहीं मालूम होता।

जायसी के रहस्यवाद के इस प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व एक और दृष्टि से विचार कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। वह है रहस्यवाद की अभिव्यंजना-शैली। वास्तव में रहस्यवाद को प्रकट करने के लिए जायसी ने जिस शैली का उपयोग किया है वह भी उनके रहस्यवाद के सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायक हुई है। वास्तव में शैली में सौंदर्य जायसी की अपनी सामान्य

---

१. शरीयत, तरीकत, मारफत, हकीकत।

भावुकता, सरलता, हार्दिकता और रसज्ञता के कारण ही है। परन्तु फिर भी उनके प्रयोग की कुशलता को मानना ही पड़ता है क्योंकि उसके बिना भी 'अस्थानस्थ समास' की पूरी शंका रहती है।

हमारे देश की पुरानी आलंकारिक शैली के आधार पर उपमान-उपमेय भाव को ही सामने रखकर जायसी चले हैं। आज का प्रतीक-विधान उनमें नहीं है। उपमान-उपमेय-भाव को लेकर जायसी ने अन्योक्ति और समासोक्ति का विधान किया है और इन्हीं के द्वारा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है। जहाँ प्रस्तुत वर्णन के द्वारा अप्रस्तुत पक्ष की ओर संकेत है वहाँ समासोक्ति पद्धति भी है। जहाँ प्रसंग से बाहर की, उपमान-भूत किसी अप्रस्तुत वस्तु को लाकर प्रस्तुत पक्ष को अभिव्यक्त किया गया है वहाँ अन्योक्ति। जायसी की ये दोनों ही शैलियाँ अत्यन्त रमणीय हैं और अपने इसी गुण के कारण सीधे हृदय को स्पर्श करती हैं। मानसरोदक खण्ड में जहाँ पद्मावती के रूप-वर्णन से ईश्वरीय अव्यक्त सत्ता की ओर संकेत हैं वहाँ समासोक्ति-पद्धति ही है जैसे—

भा निरमल तिन्ह पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर॥ जा० ग्रन्था०, पृ० २५॥

अन्योक्तियों के लिए जायसी ने अत्यन्त मार्मिक उपमान चुने हैं। लोक-जीवन में इन उपमानों की मार्मिकता प्रतिष्ठित है। जैसे—

जो एहि खीर-समुद महँ परे। जीव गँवाइ हंस होइ तरे।
जा० ग्रन्था०, पृ० ५७॥

नीचे की अन्योक्ति में रहस्यवाद का संकेत अत्यन्त सुन्दर है—

सूर उदयगिरि चढ़त भुलाना। गहनै गहा कँवल कुम्हिलाना।
जा० ग्रन्था०, पृ० ५६॥

इन नीचे की पंक्तियों का पारलौकिक संकेत बड़ी मार्मिकता से प्रकट हो रहा है—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। केहि पूछहुँ, को कहै सँदेसू।
जो कोउ जाइ तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
जा० ग्रन्था०, पृ० २३४॥

इन पंक्तियों में समासोक्ति-पद्धति के द्वारा अत्यन्त रमणीय संकेत उपस्थित किया गया है।

(च) अन्यत्र

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण-भक्ति-धारा

में रहस्य-भावना ने एक सुनिश्चित साहित्यिक रूप धारण कर लिया था। हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद की अवतारणा का प्रथम श्रेय इसी धारा को है। इनमें भी प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों ने जिस रहस्यवादी साहित्य की सृष्टि की वह प्रेम की 'पीर' और हृदय की तज्जन्य कोमल भावनाओं से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही है। जायसी की भाँति ही इस शाखा के अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार का सुन्दर रहस्यवाद अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक कबीर तथा उनके अनुयायियों ने अधिकतर साधनात्मक रहस्यवाद को ही अपनी रचनाओं में स्थान दिया जिसमें रमणीयता की अपेक्षा चमत्कार अधिक है। यह साधनात्मक रहस्यवाद तान्त्रिकों और योगियों की अन्तःसाधना से सम्बन्धित परिभाषाओं के आधार पर खड़ा किया गया है। सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद का कुछ प्रभाव कबीर और उनके पंथ के अन्य महात्माओं पर भी पड़ा। दादू और दरिया साहब पर तो यह प्रभाव इतना अधिक परिलक्षित होता है कि वे कबीर की परम्परा से हटे हुए ही मालूम पड़ते हैं[१]। सूफ़ियों से और सन्तों के द्वारा चलाए गए इस रहस्यवाद के प्रभाव से साधना के क्षेत्र में एक 'माधुर्य-भाव' की परम्परा चल पड़ी और इसने निर्गुण और सगुण दोनों क्षेत्रों में प्रवेश पाया। तब से ही साधना के कुछ सम्प्रदाय तो ऐसे चल पड़े हैं जिनमें निर्गुण और सगुण का मिला-जुला रूप दिखाई देता है। अयोध्या आदि केन्द्रों में साधुओं के ऐसे अनेक अखाड़े हैं जिनमें सगुणोपासना की दृष्टि से, एक ओर तो राम या कृष्ण की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं और उनकी सेवा-पूजा होती है तथा दूसरी ओर उन अखाड़ों के आचार्य तथा उनकी शिष्य-मण्डली, यौगिक क्रियाओं के आधार पर, अन्तर्मुखी साधना में लीन रहते हैं। उनके साधना-सम्बन्धी प्रसंगों में उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति बराबर परिलक्षित होती है। वे आचार्य भी अपने शिष्यों और भक्तों में अपनी यौगिक सिद्धियों के चमत्कार के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे विशुद्ध निर्गुणी अखाड़े भी हैं जिनमें पूरा साज-बाज कबीर आदि सन्तों के ढंग का ही देखने में आता है। उनके प्रवर्तक आचार्य अपने प्रेमियों की सभा में आसीन होकर कबीर की सी उपदेशात्मक वाणी और हलकी-फुलकी योग-क्रियाओं का पद्यबद्ध आख्यान करते चलते हैं। भक्तजन उनकी बानियों का संग्रह भी करते चलते हैं। संयोग की बात है कि मध्य-कालीन सन्तों के प्रचार-क्षेत्र की भाँति इनका

---

१. आ. पं. रामचन्द्र शुक्ल, जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १५६।

प्रचार-क्षेत्र भी समाज की नीची श्रेणियाँ ही हैं। ऐसी बहुत सी बानियाँ अप्रकाशित पड़ी हुई हैं जिनका विवेचन करने से ज्ञात हो सकता है कि वे साहित्य की कोटि में कहाँ तक आ सकती हैं। उन्नाव जिले के किसी स्थान में रहनेवाले ऐसे ही एक सन्त, नोखे साहब, के शिष्यों के सम्पर्क में आने पर मुझे उनकी कुछ बानियाँ देखने का अवसर मिला है। उसी प्रसंग में यह भी ज्ञात हुआ कि सीतापुर आदि जिलों में भी इस प्रकार के कुछ और स्थान हैं। पता लगाने से देश में अन्यत्र भी ऐसे स्थानों का प्राप्त होना आश्चर्य की बात न होगी।

निर्गुण-मार्ग की तरह सगुण-भक्ति-मार्ग पर भी इस रहस्य-भावना का प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु और उनकी शिष्य-मण्डली पर सूफियों के मद और 'हाल' का पूरा प्रभाव था। कीर्तन और नृत्य करते-करते वे प्रायः मूर्छा की दशा में हो जाते थे। इसी हाल की दशा का अत्यन्त निकृष्ट स्वरूप उन लोगों में आज भी दिखाई दे जाता है जो देवी, हनुमान् या अन्य भूत, प्रेतादि की उपासना करते-करते उनके तथाकथित आवेश में आकर मूर्छित हो जाते या उन्मत्तवत् आचरण करने लग जाते हैं।

अस्तु, कृष्ण की भक्ति में भी इस माधुर्यभाव ने प्रवेश पाया। उपासना का एक सखी सम्प्रदाय वहाँ चल पड़ा। अपने को उनकी सखी समझकर इस पन्थ के उपासक अत्यन्त रहस्यमय ढंग से स्त्रीवत् आचरण किया करते थे। मीरा को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई पुरुष ही नहीं दिखाई देता था। एक स्थान पर तो मीरा ने स्पष्ट कहा है कि मैं पँचरंग चोल पहनकर झिरमिट खेलने जाती हूँ; पिया की सेज शून्य-महल में है, आदि-आदि। मीरा पर निर्गुण सम्प्रदाय की रहस्य-भावना का प्रभाव नीचे के पद से स्पष्ट हो जाता है—

मैं गिरधर के रँग राती।
पँचरँग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती॥
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजत पाती॥
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुँ आती-जाती।
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरण अकासी॥
पवन पाणि दोनुँ ही जायँगे अटल रहै अविनासी।
सुरत निरत का दिवला सँजोया मनसा कर ली बाती॥
अगम घाँणि रौ तेल सिंचायौ, बाल रही दिनराती।
और सखी मद पी-पी माँती मैं बिन पियाँ ही माँती॥

प्रेम-भठी को मद मैं पीयो, छकी फिरूँ दिन-राती।
जाऊँनीं पीहरिये जाऊँनीं सासरिये, हरी सूँ सैन लगाती॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणां चित लाती।
व्रजरत्नदास—मीरा-माधुरी, पृ० ५१॥

मीरा ही नहीं, सूर ने भी—यद्यपि 'सगुन-लीला पद' गाने की प्रतिज्ञा उन्होंने की थी—कहीं-कहीं रहस्यमयी उक्तियाँ कही हैं जो कबीर आदि रहस्य-वादी कवियों के ढंग की हैं—

चकई री चल चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।
निसि-दिन राम-राम की वर्षा भय, रुज नहिं भय सोग॥
जहाँ सनक से मीन, हंस सिव, मुनि-जन-नख-रवि-प्रभा-प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससिडर, गुंजत निगम सुबास॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै॥
सूरसागर (ना० प्र० सभा) ३३७॥

यद्यपि इस पद में सूर रहस्यवादी पद्धति का पूरा निर्वाह तो नहीं कर सके हैं परन्तु प्रवृत्ति वही है। दो-एक पद सूर ने योगियों की अन्तःसाधना के ढंग के भी कहे हैं—

अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सबदहिं सबद भयौ उजियारौ सतगुरु भेद बतायौ।
× × × × ×
कहि न जाइ या सुख की महिमा ज्यों गूँगे गुर खायौ॥
सूरसागर (ना० प्र० सभा) ४०७॥

इस प्रकार निर्गुण रहस्य-भावना का कुछ प्रभाव सूरदास पर भी पड़ा। अब भी व्रज में कृष्णलीला से सम्बन्धित कुछ स्थानों के विषय में अनेक रहस्यमय किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं; जैसे कहा जाता है कि रात्रि में कोई व्यक्ति अमुक स्थान म नहीं रह सकता। यदि रह जाय तो पागल हो जाता है, आदि।

अभी तक यह समझा जाता था कि रामभक्ति-शाखा माधुर्य-भाव की रहस्य-भावना से बची हुई थी। परन्तु, अभी हाल ही में डा० भगवतीप्रसाद सिंह के अन्वेषणों के आधार पर यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि रामभक्ति-क्षेत्र में भी माधुर्य-भाव की रहस्यमयी उपासना का सम्प्रदाय बराबर अलग से चलता

आया है और उसका साहित्य भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुआ है[1]। हाँ, गोस्वामी तुलसीदास जी पर इस रहस्य-भावना का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इस प्रकार इस सारे विवेचन से स्पष्ट है कि रहस्य-भावना मानवीय स्वभाव का ही एक अंग है और वह हमारे देश में भी दर्शन, साधना आदि के क्षेत्रों में बराबर बनी रही है। हाँ, हमारे प्राचीन काव्य-साहित्य में इसे स्थान नहीं मिला था। मध्ययुग में आकर परिस्थितियों के कारण वह हिन्दी-काव्य-साहित्य में भी प्रवेश करने में सफल हो सकी।

(ब) विदेशीय

(क) अरब और फारस आदि में

अब तक किए हुए विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि के चराचर तत्त्वों में अनुस्यूत एक तत्त्व का अनुसन्धान और उसके आभास को लेकर चलनेवाली रहस्य-भावना भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से निरन्तर चली आ रही है। ऋग्वेद-काल के तत्त्वचिन्तक मनीषियों ने तत्त्व-ज्ञान की बौद्धिक क्रियाओं के द्वारा उस अद्वैत-तत्त्व की उपलब्धि की थी। इस प्रकार उपलब्ध होनेवाले उस तत्त्व की विलक्षणता से प्रभावित होकर उनके हृदय में प्रायः भावोन्मेष हो जाता था और उसके प्रभाव से उसकी अभिव्यक्ति आलंकारिक प्रणाली में हो जाया करती थी।

अद्वैत-तत्त्व सम्बन्धी यह रहस्य-भावना एक अत्यन्त स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। अज्ञात की जिज्ञासा मनुष्य की मूल बौद्धिकता (Rationality) प्रधान धर्म है। जिज्ञासित विषय ज्ञान के लिए जितना दुर्गम होता है उसके सम्बन्ध में कौतूहल की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती जाती है। कौतूहल का आधिक्य सहज रहस्य-वृत्ति के उदय में सहायक होता है। यह स्वाभाविक वृत्ति किसी देश और काल की सीमा में नहीं बँधी है। इसका अस्तित्व अन्य देशों और जातियों में भी दिखाई देता है।

भारतवर्ष से बाहर के देशों में—विशेषतया अरब, फारस और योरोप में—रहस्य-भावना का उल्लेखनीय रूप प्राप्त होता है। पूर्व दिशा के चीन आदि देश बहुत पहले से ही बौद्ध-धर्म के प्रभाव में आ चुके थे और बौद्ध-प्रभाव के कारण वहाँ के दर्शन और साहित्य में रहस्य-भावना का कोई विशिष्ट और उल्लेखनीय

---

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह।

रूप नहीं मिलता है। हमारे यहाँ के सिद्धों, तान्त्रिकों और रासायनिकों की तरह वहाँ भी यौगिक अन्तःसाधना, मन्त्र, तन्त्र तथा पिछड़े लोगों में भूत-प्रेत आदि से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्य-भावना ही मिलती है। अफ्रीका का महादेश, जो कि जन-संचार के लिए अब तक दुर्गम ही बना हुआ है, नितान्त आदिम अवस्था की विशुद्ध आरण्यक जातियों का दुर्गम दुर्ग रहा है। इन जातियों में दुष्ट आत्माओं, भूत-प्रेतों सम्बन्धी अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी की रहस्य-भावना रही है। 'नई दुनिया' कहलानेवाले महाद्वीप अमेरिका का वर्तमान सांस्कृतिक प्रवाह उसका अपना नहीं योरोप का है।

अरब, फारस तथा योरोप में साधना के क्षेत्र में रहस्य की प्रवृत्ति पूर्णतया परिलक्षित होती है। भारतवर्ष की भाँति, सामी पैगम्बरी यहूदी ईसाई आदि धर्मों में रहस्य-भावना की उपलब्धि तत्त्व-ज्ञान के द्वारा नहीं अपितु भावना के द्वारा हुई थी। अरब और फारस में तत्त्व-चिन्तन की कोई स्वतन्त्र पद्धति नहीं मिलती है। वहाँ धर्म की बातों में बुद्धि का हस्तक्षेप अनुचित माना जाता था। ईश्वर और जीव के बीच में मध्यस्थता करनेवाले पैगम्बर को तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी विविध बातों की जानकारी इलहाम के ढंग से रहस्यमय रूप में हो जाती थी। ईश्वर का रूप भी पैगम्बरी धर्मों में एकेश्वरवाद (Monotheism) का स्वीकृत किया गया था। अरब, फारस आदि मुसलमान देशों में हजरत मुहम्मद साहब के द्वारा प्रवर्तित एकेश्वरवाद का इतनी कट्टरता के साथ अनुसरण किया जाता था कि उसमें किसी प्रकार की 'बुत-परस्ती' के लिए अवकाश नहीं था। इसलाम में बताए हुए ढंग से सारे मजहबी दस्तूरों की कठोर पाबन्दी (धार्मिक क्रिया-कलापों का अनुष्ठान) ही मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य समझा जाता था। पैगम्बरी धर्म रहस्य-भावना के इतना प्रतिकूल था कि पैगम्बरी लोगों ने 'अनलहक' का प्रचार करनेवाले मंसूर को सूली पर चढ़ा दिया था। व्यक्तिगत ईश्वरी सम्बन्धों के कारण ही ईसा मसीह का परिणाम भी अत्यन्त दुःखद हुआ था। ईश्वरी साधना का यह रूप, जिसमें मानवोचित हृदय-तत्त्व का नितान्त अभाव था, सबके पूर्ण-सौरस्य का पात्र न बन सका और फलतः वहाँ साधुओं का एक ऐसा दल सामने आया जो सूफी कहलाया। ये साधु या दरवेश अत्यन्त नम्र और दीन-हीन दशा में रहकर 'नफ्स' से जिहाद (इन्द्रिय-दमन) करते हुए ईश्वर-प्रेम में लीन रहते थे। साधारण फटे कपड़े पहने रहकर भूख-प्यास को यथाशक्य सहन करते हुए ये धार्मिक अनुष्ठान में विशेष दृढ़ता का परिचय देते थे। निरन्तर ईश्वर-चिन्तन में लीन रहने के कारण इन्हें कुछ आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि हुई और तब इन्होंने धार्मिक बाह्याडम्बरों को गौण और हृदय की पवित्रता और

निश्छल प्रेम को प्रधान बताया। ये लोग क्रमशः साधना करते-करते एकेश्वरवाद से अद्वैतवाद की ओर पहुँचे और अपनी इस उपलब्धि के पोषक प्रमाण भी इन्हें कुरान में ही मिल गए। "अल्लाह के मुख के सिवा सब वस्तुएँ नाशवान् (हालिक) हैं। चाहे तू जिधर फिरे अल्लाह का मुँह तू उधर ही पावेगा[1]।"

इस प्रकार इन सूफी फकीरों में विशुद्ध अद्वैत-भावना का विकास हुआ। इस अद्वैत-तत्त्व के प्रति हृदय में गम्भीर प्रेम लेकर ये सूफी साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। प्रकृति के समस्त रूप-व्यापार में, सौन्दर्य की समस्त छटाओं में, इन्हें उसी की झलक दिखाई देती थी, जैसा कि भारतीय वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त में माना गया है। इन सूफियों की प्रायः वे ही प्रमुख विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख पिछले प्रकरण में जायसी के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

सूफियों के बाद का फारस का समस्त साहित्य प्रायः सूफी प्रभाव से प्रभावित है। उसमें प्रेमतत्त्व का वर्णन प्रायः रहस्यमय आध्यात्मिक संकेतों के साथ किया जाता है। इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) का पर्यवसान इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) में होता है। लौकिक भावों का यह अलौकिक पर्यवसान सुन्दर और रमणीय रहस्यवादी काव्य की सृष्टि करता है। ईश्वरीय प्रेम में होनेवाले उन्माद के प्रतीक मद, साकी और प्याला आदि माने गए हैं और वहाँ साहित्य में उनका प्रयोग खुलकर हुआ है। प्रसिद्ध कवि उमर खैयाम की रुबाइयों में अनन्त विरह-वेदना की नैराश्यकारी भावना को हाला के उन्माद में निमग्न करने की तीव्र उत्कण्ठा मिलती है। उमर खैयाम की निराशावादिता और परोक्ष सत्ता से पृथक् होने की वेदना उनकी रुबाइयों के नीचे दिए हुए अनुवाद में है—

अरे आया क्यों जग के बीच! कहाँ से तृण सा मुझको तोड़।
बहा लाई है कोई धार, गई है जगती-तट पर छोड़[1]॥

इस वेदना की एकमात्र चिकित्सा मद्य पीकर संज्ञा को विसर्जित कर देने में है—

पियो क्योंकि तुम नहीं जानते किस थल से क्यों आए हो तुम।
पियो क्योंकि तुम नहीं जानते कहाँ किसलिए जाओगे तुम॥

फारसी काव्य के दूसरे प्रसिद्ध कवि मौलाना रूम हैं। इन्होंने मसनवियों में कथा कहकर अपने भावुक हृदय और परोक्षदर्शी दृष्टि का परिचय दिया है। अपनी क्रान्तदर्शिता से उन्होंने सृष्टि के अनेक वैज्ञानिक नियमों का साक्षा-

---

१. जायसी-ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० १३१।

त्कार भी किया है। अनित्य के सतत परिवर्तन में उन्होंने नित्य तत्त्व का दर्शन किया—

"इस परिवर्तन की त्वरा इसे ठीक वैसे ही सातत्य का रूप प्रदान करती है जैसे चल स्फुलिंग जो अटूट प्रकाश का भ्रम उत्पन्न करता है[1]।"

इसके अतिरिक्त मौलाना रूम ने अपनी मसनवियों में प्रतीक-योजना, रूपक अथवा अन्योक्ति की प्रणाली द्वारा प्रकृत कथा में सुन्दर आध्यात्मिक संकेत प्रस्तुत किए हैं। प्रतीकों और उपमानों के ग्रहण में प्रायः समस्त अरबी और फारसी साहित्य में व्यापकता नहीं दिखाई देती है। अरब और फारस के मरु-प्रधान प्रदेशों में प्रकृति-रूपों की विविधता नहीं है। अतः वहाँ प्रकृति से उपादानों का ग्रहण कम किया गया है। प्रेम का प्रत्यक्ष आलम्बन मानव-सौन्दर्य ही माना जाता है। अतः मानव-सौन्दर्य सम्बन्धी प्रतीक ही इधर के काव्य में अधिक मिलते हैं। मानव-सौन्दर्य के प्रति इस [illegible] आसक्ति के कारण इस साहित्य में यत्किञ्चित् अश्लीलता का समावेश भी हो गया।

मौलाना रूम के पश्चात् 'निजामी' नाम के प्रसिद्ध फारसी कवि उल्लेखनीय हैं। इनकी कविताओं में सामान्य प्रकार की रहस्य-भावना ही प्राप्त होती है, जिसके अन्तर्गत व्यक्त प्रकृति के रूप-विधानों के पीछे उनका नियमन करनेवाली एक सत्ता का आभास मिलता है—

चो गरदानद बरा दस्ते खिरदमन्द।
दराँ गरदिश विमानद साअते चन्द[2] ॥

अर्थात् अखिल बुद्धि के एकमात्र आगार उसके द्वारा चलाई जाकर ही वस्तुएँ चलती हैं।

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसिद्ध कवि बहशी ने बताया है कि समस्त चराचर उस एक अज्ञात के आकर्षण में बँधा है और निरन्तर उसी की ओर बढ़ रहा है—

यके मैलस्त दर हर जर्रा रक्कास।
कशाँ हर जर्रा रा ता मरकज़े ख़ास ॥
ज़ि जिस्में आसमानी वज़ ज़मीनी।
अज़ीं मैलस्त हर जुंबिश कि बीनी ॥
जनीबत दर जनीबत खैल दर खैल।
हमीं मै लस्ती ईं मै लस्तो ईं मैल ॥

---

1. फारसी साहित्य की रूपरेखा—डा० हिकमत, पृ० १२१, १२३।
2. फारसी साहित्य को रूपरेखा—हिकमत।

अर्थात् प्रत्येक कण में एक नृत्यशील कामना है जो उसे एक विशेष केन्द्र की ओर खींचती है। समस्त गतियों के मूल में यही कामना है।

फारसी काव्य में इसी प्रकार की भावनात्मक रहस्य-भावना मिलती है। प्रेमोन्माद की गम्भीर दशा में अनेक तत्त्व-ज्ञानों की उपलब्धि फारसी कवियों को हुई है। इस प्रेम और सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त मार्मिक प्रतीकों द्वारा हुआ है।

फारसी के सूफी-प्रभावापन्न इस काव्य की धारा भारतवर्ष में भी प्रवाहित हुई। अमीर खुसरो से लेकर डा० इकबाल तक इसमें अनेक कविरत्न हुए हैं जो इस काव्य की प्रमुख विशेषताओं से सम्पन्न हैं।

(ख) ईसाई धर्म तथा अंग्रेजी साहित्य में

अरब और फारस में 'एकेश्वरवाद' को माननेवाला जो पैगम्बरी इसलाम मत चला उसमें किस प्रकार आगे चलकर सूफियों ने भावना के द्वारा अद्वैत-तत्त्व का समावेश कराया यह पिछले विवरण में स्पष्ट हो चुका है। पश्चिम के अन्य सामी पैगम्बरी मतों, जैसे यहूदी ईसाई आदि, में भी एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा ही हुई। यहूदियों की एक प्राचीन शाखा के देवता, 'यह्वा' आरम्भ में एक साधारण कुल-देवता थे। पीछे हजरत मूसा ने उनपर सर्वशक्तिमत्ता का आरोप करके उन्हें एकेश्वरवाद (Monotheism) का रूप दिया[1]। इसी प्रकार मसीही धर्म में भी ईश्वर की कल्पना एकेश्वरवाद के रूप में ही हुई। इन धर्मों में भी तत्त्व-चिन्तन की पद्धति की प्रतिष्ठा आर्य-जातियों के बौद्धिक मार्ग के अनुसार नहीं हुई। योरोप के यूनान (यवन) देश में, जो कि आर्यों की एक शाखा का अधिष्ठान माना जाता है, यद्यपि अद्वैत-तत्त्व का विकास प्लेटो आदि दार्शनिकों ने कर लिया था, परन्तु उस बौद्धिक तत्त्व को ईसाइयों ने बहुत बाद में ग्रहण किया। आरम्भ में यहूदी परम्परा के अनुसार ही ईसाई धर्म में रहस्य-भावना का समावेश ईश्वरीय सन्देश, स्वप्न या इलहाम के रूप में हुआ। ईश्वरीय प्रेम में निमग्न भक्तों की तीव्र भावानुभूति उन्हें अनेक प्रकार के ईश्वर-सम्बन्धों की कल्पना के अपार्थिव लोक में पहुँचा दिया करती थी। यह दिव्य अनुभूति सर्वजन-सामान्य न होने के कारण रहस्यात्मक हुआ करती थी। ईश्वरीय अव्यक्त सत्ता के अनेकरूपात्मक इस आभास को 'ज्ञान-प्रसाद' कहा

---

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, पृ० ६।

जाता था। ईसाई धर्म में यह भी मान्यता थी कि इस प्रकार हमें जो 'ज्ञान-प्रसाद' मिलता है वह हमारे पास तक आते-आते हमारी सीमित पार्थिव सामर्थ्य के कारण और हमारी वृत्तियों की कल्मषता के कारण कुछ धुँधला पड़ जाता है। उस दिव्य निर्मलता को ग्रहण करने के लिए हमें भी वैसा ही निर्मल होना चाहिए, अन्यथा हमारे मानस-पटल पर उसका तात्त्विक प्रतिफलन नहीं हो सकता। प्रसिद्ध ईसाई महात्मा ग्रेगरी (६०४ ई०) की यही मान्यता थी। उनका कहना था कि इसी कारण हमें वे दिव्य चित्र धुँधले होकर मिलते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसाई रहस्य-भावना ज्ञेय की अस्पष्टता और ज्ञातृ-पक्ष की वैयक्तिकता, दोनों के कारण रहस्यमय थी। इसी रहस्यमयी ज्ञानोपलब्धि को बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त बर्नार्ड ने छायादृश्यों के रूप में माना है। उन्होंने कहा कि हाल या तीव्र प्रेमोन्माद की एकतानमयी स्थिति में जब आध्यात्मिक तत्त्व की उपलब्धि होती है तब ईश्वर के द्वारा भेजी हुई दिव्य ज्योति-किरण की झलक एक क्षण के लिए हृदय में व्याप्त हो जाती है। उस दिव्य प्रकाश-पुंज को लोकोपयोगी बनाने का कार्य भी ईश्वरीय विधान के अनुसार स्वयं होता है। यदि ऐसा न हो तो या तो उसकी चकाचौंध के सामने दृष्टि ही न ठहरे अथवा वह अपरिमेय हमारी मित-ग्राहकता में ही न आवे। इसके लिए उस ज्योति के साथ ही साथ लौकिक जगत् का कोई ऐसा विलक्षण रूप-विधान हमारे सामने आ जाता है जो उसे व्यक्त करने में समर्थ होता है। अव्यक्त को व्यक्त करनेवाले इन रूपकों को 'छायादृश्य' (Phantasmata) कहा गया है। छायादृश्य की यह कल्पना भारतीय वेदान्त के 'प्रतिबिम्बवाद' से बहुत मिलती-जुलती है। छायादृश्यों अथवा प्रतीकों की कल्पना के इस सिद्धान्त का प्रभाव योरोपीय साहित्य पर भी पड़ा। सन् १८८५ ई० में प्रतीक-वादियों (Symbolists or Decadents) की जो काव्य-धारा योरोप में चली तथा ब्लेक ने (सन् १७५७ से १८२७ ई० तक) रोमांसिक साहित्य में जिस कल्पनावाद का प्रवर्तन किया उसमें इसी छायादृश्य-सिद्धान्त का ही पूर्ण प्रभाव है।

इस प्रकार की ईसाई अद्वैत-भावना के साथ रहस्यमय माधुर्य-भाव का संयोग भी रहा। कबीर की तरह वहाँ के भक्तों ने भी 'दिव्य दूल्हा' (Heavenly Bridegroom) की कल्पना की है। हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद की तरह इस 'दिव्य दूल्हे' के साथ अन्तर्विहार करने के लिए घट के भीतर अनेक प्रकार के रंगमहलों और कोठरियों की कल्पना भी की गई है। योग की सत

भूमिकाओं की तरह इन रंगमहलों में भी सात कक्षाएँ मानी गई हैं[1]। बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त बर्नार्ड ने अन्तःस्थित रंगमहल की तीसरी कक्षा में इस 'दिव्य दूल्हे' के रहस्यमय आगमन का वर्णन किया है[2]।

साधना में माधुर्य भाव का संयोग हृदय की अत्यन्त स्वाभाविक वृत्ति का परिणाम है। भारतीय भागवत-धर्म के अनुसार होनेवाली सगुणोपासना में भी जहाँ सभी कुछ व्यक्त है, कुछ रहस्य नहीं, माधुर्य अथवा दाम्पत्य-भाव का संयोग हुआ। मनोवृत्तियों का पूर्ण लय ईश्वर में हो सके, अथवा 'अपराध-सहस्र-भाजन' क्षुद्र मानव को ईश्वरोन्मुख होने की प्रेरणा मिले इसके लिए हृदय की मुख्य वृत्तियों का ईश्वर में आरोप सर्वथा उचित ही है। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि ब्राउनिंग ने अत्यन्त मार्मिक ढंग से यह बताने की चेष्टा की है कि किस प्रकार इस दिव्य-हृदय का आभास ईसाई मत ने ही सर्वप्रथम विश्व को दिया—

So through the thunder comes a human voice.
Saying, "O heart, I made a heart beats here!
Face, my hands fashioned, see it in myself.
Thou hast no power, nor mayst conceive mine.
But love I gave thee, with myself to love,
And then must love me, who have died for thee[3].

ईसाई-मत की यह रमणीय प्रेम-वाणी धीरे-धीरे योरोप में भी फैली और वहाँ के ज्ञान-गौरव से दृप्त यूनानी आदि जातियों ने इस प्रेम-सन्देश को स्वीकार किया।

धीरे-धीरे ईसाई धर्म का योरोप में सर्वत्र प्रचार हो गया। इस धर्म के अन्तर्गत जो रहस्यमयी प्रवृत्ति अपनी प्रमुख विशेषताओं के साथ ऊपर बताई गई है वह भी योरोप में फैली और उसने वहाँ के कला-क्षेत्र में—विशेषतया काव्यक्षेत्र में—अपना प्रभाव डाला। इसके प्रभाव से वहाँ के काव्यक्षेत्र में रहस्यवाद की जो परम्परा चली उसका संक्षिप्त परिचय देकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

---

१. The spiritual Castle by St. Theresa.

२. **आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, पृ० ७४।**

३. An epistle containing the strange medical experience of karnish, the Arab Physician.

योरोपीय साहित्य में क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की शृंखला सदा सक्रिय रही है; और फलस्वरूप समय-समय पर वहाँ अनेक वाद काव्य-क्षेत्र में बनते-बिगड़ते रहे हैं। कुछ तो धर्म में रहस्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण तथा कुछ सामयिक प्रतिवर्तन के कारण वहाँ के काव्य में रहस्य-भावना को लेकर उसे वाद का या साम्प्रदायिक रूप दे दिया गया और कुछ कवियों ने उत्साह के साथ इस काव्यधारा को अपनाया। मिल्टन के समय में, काव्य में जिस शास्त्रीयता (Classicism) और बाह्यार्थमूलक वस्तु-प्रधानता का अतिरेक हुआ उसकी प्रतिक्रिया में वहाँ रोमाण्टिक भावना (Romanticism) का उदय हुआ। यह रोमाण्टिक भावना—जिसे रोमांसिकता भी कहा जाने लगा है—काव्य और आलोचना दोनों में साथ-साथ चलती रही। शास्त्रीयता का सम्बन्ध काव्य के विभाव-पक्ष (Form) से अधिक होता है और रोमांसिकता का झुकाव भावपक्ष (Matter) की ओर अधिक होता है। इस रोमांसिक काव्यधारा में यथार्थ का अपलाप करके रहस्यवादिता, भावुकता, कामुकता आदि अनेक वृत्तियों का सम्मिश्रण रहता था। अंग्रेजी-साहित्य में इस रोमांसिकता का प्रवर्तन सर्वप्रथम विलियम ब्लेक (William Blake 1757—1827 A. D.) ने किया। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि रोमांसिक काव्यधारा के प्रमुख कवि माने जाते हैं।

रहस्यवादिता की प्रवृत्ति का काव्य में उदय तो रोमांसिकता के भीतर ही हो गया था। १९वीं शताब्दी की अतिवैज्ञानिकता की प्रतिक्रिया के रूप में रहस्यवाद को बढ़ने का और अधिक अवसर मिला और इधर आकर ही इसका रूप साम्प्रदायिक या वादग्रस्त हो गया। इस रहस्यवादी सम्प्रदाय में बुद्धि-व्यवसाय और तज्जन्य भौतिक दृष्टि को अपूर्ण और अज्ञान की पद्धति कहा गया है*। इस विचार-परम्परा में आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान का साधन स्वानुभूति (Intuition) को बताया गया है।

अंग्रेजी रहस्यवादी काव्यधारा के सर्वप्रथम कवि ब्लेक हैं। ब्लेक के अनुसार अव्यक्त सत्ता का आभास मनोविकारों का दमन करके कोरी बौद्धिक साधना से नहीं हो सकता। उनके विचार में वह तत्त्व भावगम्य है। भाव हृदय को ईश्वर की एक पवित्र देन है। भावना—जिसे ब्लेक ने कल्पना का नाम दिया है—की उपलब्धि ही ईश्वर की उपलब्धि है। शुद्ध भाव द्वारा प्रेरित कल्पना

---

* Edward Carpenter—Civilization : its Causes and Cure.

की उमंग में ही साधक को रहस्यमय ढंग से ईश्वरीय सत्ता का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से कवि और पैगम्बर में कोई भेद नहीं। यह कल्पना साधारण लौकिक कल्पना नहीं; यह नित्य और अनन्त है। समस्त लौकिक वस्तुओं की एक नित्य और पारमार्थिक सत्ता भी है। लौकिक रूप तो वास्तव में प्रकृति-रूपी दर्पण में पड़नेवाले उनके प्रतिबिम्ब हैं। ब्लेक ने कल्पना का यह जो अलौकिक रूप दिखाया है इसपर ईसाइयों के उस छायादृश्य (Phantasmata) का प्रभाव है जिसका इसी परिच्छेद में पहले वर्णन किया जा चुका है। शाहजहाँ के पुत्र दारा शिकोह ने अपनी पुस्तक 'रिसालए-हकनुमा' में भी अनित्य दृश्य-माला के पीछे एक नित्य पारमार्थिक अव्यक्त सत्ता मानी है[1]। ब्लेक एक बालू के कण में भी अपनी कान्त-दृष्टि से विनय की नित्य पारमार्थिक सत्ता का दर्शन कर लेता था—

To see a world in a grain of sand
And a heaven in a wild flower,
Hold infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

(Auguries of Innocence.)

ब्लेक के रहस्यवाद की संक्षेप में यह विशेषता कही जा सकती है कि काव्य अपनी अन्तःप्रेरणा की शक्ति से कल्पनारूपी दिव्य दृष्टि प्रदान करता है जिसे पाकर कवि, पैगम्बर की तरह, लौकिक में अलौकिक का दर्शन करता है।

ब्लेक के इस कल्पनावाद के बाद सन् १८८५ में प्रतीकवादियों का दल फ्रांस में उठा। इस सम्प्रदाय में भावोन्मत्त कर देनेवाली भक्ति के तन्मयकारी क्षणों में प्रतीकों का आश्रय लेकर अनूठे रहस्यवाद की उत्पत्ति की गई। प्रतीकों का उद्गम १२वीं शताब्दी के सेण्ट बर्नार्ड की दिव्य-ज्योति-दर्शन की प्रक्रिया में मिलता है जिसका वर्णन किया जा चुका है। साधारण काव्य में प्रतीकों का प्रयोग जिस भाव-व्यञ्जकता के साथ होता है, इस सम्प्रदाय में उस प्रकार से नहीं होता। प्रतीकों द्वारा समष्टिगत महामन और महास्मृति का आवाहन होता है। हमारे वैयक्तिक मन और स्मृति इस समष्टि मन और स्मृति के ही, जिसका कि विस्तार घटता-बढ़ता रहता है, अंग हैं। प्रतीकों के माध्यम से ही अंगी अपने आपको अंग पर व्यक्त करता है। अंग और अंगी के इस

---

१. आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११८।

संवाद की दशा में कवि की कारयित्री प्रतिभा प्रबुद्ध हो जाती है और इस प्रकार रहस्यवाद के रूप में ईश्वरीय सार-सत्ता काव्य में प्रकट होती है। प्रतीकों की यह साम्प्रदायिक योजना लोकबाह्य होने के कारण अत्यन्त दुर्बोध होती है। प्रतीकवादी धारा के प्रमुख कवि ईट्स (W. B. Yeats) हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी प्रतीकवादी परम्परा के कवि हैं। हिन्दी के छायावाद-रहस्यवाद में भी इसी प्रतीकवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है।

ईट्स की 'दो वृक्ष' (The Two Trees) नामक कविता में प्रतीक-शैली का सुन्दर उदाहरण मिलता है। शुद्ध मन में उत्पन्न होनेवाला, सदा हरा-भरा रहनेवाला एक वृक्ष ईश्वरीय विभूतियों का है—

Beloved, gaze in thine own heart,
The holy tree is growing there;
From joy the holy branches start,
And all the trembling flowers they bear.

दूसरा वृक्ष आसुरी वृत्ति के दर्पण में अंकित है जो कि मुरझाया हुआ और नष्टश्री है—

Gaze no more in the bitter glass
The demons, with their subtle guile,
Lift up before us when they pass,
× × ×
With broken boughs blackened leaves,
And roots half hidden under snows.

Golden treasury of Irish
Poetry, P. 503.

दोनों वृक्ष क्रमशः दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं।

१९वीं शताब्दी में योरोप की रहस्यवादी प्रवृत्ति का झुकाव स्वतन्त्रता की भावना और जनतान्त्रिकता (Democracy) की ओर भी दिखाई देता है। योरोपियन रहस्यवाद के पुनरुत्थान का यह समय था। इसमें सर्ववाद की भावना का समन्वय जनतान्त्रिक भावों के साथ हुआ। शेली के रहस्यवाद में इस प्रकार की प्रवृत्ति भी मिलती है। आयर्लैण्ड के स्वातन्त्र्य-संग्राम की तुमुल ध्वनि के बीच ईट्स ने भी सर्ववाद पर आधारित रहस्यवाद के स्वर को ऊँचा किया था। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टाकुर भी इस प्रवृत्ति से प्रभावित हुए थे और उनकी

गीताञ्जलि में इस प्रकार के रहस्यवाद का आभास पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इस रहस्यवादी भावना का बीज योरोप के आधुनिक जनवाद के सिद्धान्त (Humanitarian Idealism) में है। इसकी मान्यता है कि प्रेम और भ्रातृत्व की आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति के द्वारा क्रूरता, पशुता, क्रोध, स्वार्थ, हिंसा आदि दुर्वृत्तियों की शान्ति हो सकती है। काव्य का चरम उत्कर्ष इसी मंगल-विधान में है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'प्राचीन साहित्य' में इसी लक्ष्य को इस प्रकार कहा है—

"सौन्दर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एकमात्र आकांक्षा है। × × × उच्च साहित्य स्वभाव-विनिःसृत अश्रु-जल से कलंक-मोचन करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं।"

जनवाद पर आधारित इस रहस्यवाद का स्वरूप निरूपण करते हुए डाउडेन (Dowden) ने अपने ग्रन्थ New Studies in Literature की भूमिका में कहा है—

The passion for intellectual abstraction when transferred to the literature of imagination, becomes a passion for what is grandiose and vague in sentiment and imagery.

अर्थात् गोचर से निर्विशेष सूक्ष्म अगोचर पर पहुँचने की बौद्धिक प्रक्रिया जब कल्पनात्मक साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होती है तब अस्फुट और तड़क-भड़क-वाले भावों और रूप-विधानों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि लोक-मंगल की भावना को, इस रहस्यवादी प्रवृत्ति में, सद्वृत्तियों द्वारा निर्विशिष्ट, व्यापक और विराट् समष्टि तक पहुँचाया जाता है। स्वातन्त्र्य के बड़े भारी समर्थक और पक्के देशप्रेमी ईट्स ने अपनी निम्नलिखित Rose—गुलाब—शीर्षक कविता में मनुष्यों के पारस्परिक राग-द्वेष से अत्यन्त पीड़ित होकर गुलाब की तरुण सुन्दरता में नित्य सौन्दर्य की मांगलिक विभूति का दर्शन किया है—

Red Rose, proud Rose, sad Rose of all my days!

× × × ×

Come near, that no more blinded by man's fate,

I find under the boughs of love and had hate,
In all poor foolish things that live a day,
Eternal beauty wandering on her way.

आधुनिक योरोपीय काव्य में भविष्य की मंगलाशा को लेकर भी रहस्यवाद का उदय हुआ। आधुनिक जगत् की वर्तमान धार्मिकता, राजनीतिकता और आर्थिकता के कारण जगत् में विषमता और क्लेश की जो वृद्धि हो रही है उसके परिहार का प्रयत्न करते हुए कवियों ने अपनी वाणी से भावना और प्रयत्न के साथ आशा और उत्साह का संयोग करते हुए भावी आदर्श-विधान किया है। भविष्य की उपासना या प्रेम से उत्पन्न होनेवाले इस सुख-स्वप्न का चित्रण इस प्रकार से किया गया है कि मानों यह किसी पारलौकिक सुखादर्श का चित्रण हो। अबरक्रोम्बे ने अपनी 'Eternal wedding' नामक कविता में इस सुख-स्वप्न का चित्रण इस प्रकार रहस्य-मय ढंग से किया है—

So we are driven
Onward and upward in a wind of beauty.
Until man's race he wielded by its joy—
Into some high incomparable day,
Where perfectly delight may know itself—
No longer need a strike to know itself
Only by prevailing over pain.

क्लेशों के आत्यन्तिक परिहार और निरतिशय, अखण्ड आनन्द की प्राप्ति का यह काव्यगत रूप भारतीय वेदान्त के मोक्ष के समान ही है।

काव्य के माध्यम से अद्वैत-तत्त्व-चिन्तन सम्बन्धी सामान्य रहस्यवाद भी अंग्रेजी काव्य में प्राप्त होता है। जीवन, जगत्, शरीर, आत्मा, असीम, ससीम, व्यक्त, अव्यक्त आदि का विचार और इनकी जिज्ञासा रहस्यवाद में कवियों को प्रवृत्त कराती है। यह आरम्भ में ही बताया जा चुका है कि पैगम्बरी मतों में इन विषयों का विचार बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा नहीं किया गया बल्कि रहस्यमय ढंग से दिव्य सन्देश के रूप में ही इन तत्त्वों की उपलब्धि हुई। अबरक्राम्बे (Aberecrombie) नें अज्ञात की कामना (Desire of Infinite) का काव्य में प्रतिपादन किया है। Fool's Adventure'[1] नाम की छोटी-सी

---

१. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७२—आ० रामचन्द्र शुक्ल।

संवाद-रचना में जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है। Trance या समाधि का वर्णन उनकी एक कविता में[1] बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है—

I was exalted above surety
And out of time did fall.

× × ×

I stood outside the burning rim of place
Outside that corner, consciousness.
Then was I not in the midst of thee
Lord God?

बुद्धि, दिक्, काल, पार्थिव ज्ञान आदि के परिवेश के बाहर जाकर ईश्वर से एकतानता प्राप्त हो जाती है। परन्तु पार्थिव परिवेशों को छोड़ने में अनेक प्रलोभन सामने आते रहते हैं। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्या पिहितं मुखम् (वाज० सं० ४०—१७) अर्थात् सत्य सुनहरे आवरण में रहता है जो अपने तक ही उलझाए रखता है। इसी प्रकार भौतिक देह-कारा का मोह अनेक प्रलोभन सामने रखता है—

Thou wilt miss the wonder I have made for thee
Of this dear world with my fashioning senses—
The blue, the fragrance, the singing and the green.
Aberecrombie—Soul and body.

इधर भौतिक प्रलोभन और उधर अपार्थिव आनन्द! चित्तवृत्ति दोनों कोटियों में झूलती हुई एक अन्तःसंघर्ष को उत्पन्न करती है; जैसे दो पर्वतों के बीच में दोनों तरफ से आनेवाली हवाएँ टकराती हों—

Desire of infinite things, desire of finite—
······'tis the wrestle of the twain makes man
As two young winds schooled 'mong the slopes and caves
Of rival Hills that each to other look,
Run forth from their rendered nurseries, and meet
In the middle air.
Aberecrombie—Escape

---

१. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ ७२—आ० रामचन्द्र शुक्ल।

ससीम और असीम का यह मिलन ही मनुष्य है, जैसा कि उसी काव्य में आगे चलकर कहा गया है—

And when they close their struggle is called man.

इस प्रकार काव्य के माध्यम से तत्त्व-चिन्तन किया जाने के कारण भी अंग्रेजी काव्य में रहस्यवाद की सृष्टि हुई। रहस्यवाद के उपर्युक्त सभी स्वरूपों में वाद का आग्रह अधिक है, अर्थात् रहस्यवादी बनने की धुन में स्थान-स्थान पर स्वाभाविक रहस्य-भावना का कृत्रिम, दूरारूढ़ आतिशय्य किया गया है। परन्तु रहस्य-भावना के प्रकाशन का एक स्वाभाविक और मधुर रूप भी है। ज्ञात और अज्ञात के सन्धि-स्थल पर अवस्थित विषयों का अज्ञातोन्मुख पक्ष एक स्वाभाविक कौतूहल की सृष्टि करता है। यह कौतूहल उन वस्तुओं की मानसिक कल्पना में एक प्रकार के मधुर आकर्षण का संयोग कर देता है। जब वाद के आग्रह से दूर रहकर इस सहज कौतूहल-वृत्ति का प्रकाशन किया जाता है तब वह अत्यन्त हृदय-स्पर्शी प्रतीत होता है। अंग्रेजी की रोमांटिक काव्य-धारा के भीतर वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि ऐसे ही मधुर रहस्यवादी कवि हुए हैं।

वर्ड्सवर्थ एक सच्चे भावुकहृदय कवि थे। परोक्ष सत्ता की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति के प्रति उनके हृदय में असीम अनुराग था। प्रकृति के व्यक्त क्षेत्र में उन्होंने सर्ववाद (Pantheism) की झलक देखी है। इस गूढ़ व्यापक सत्ता का प्रकाशन वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति के व्यक्त क्षेत्र को लेकर ही किया है। उन्हें यह देखकर बड़ा क्लेश होता था कि सभ्यता के कृत्रिम आवरणों में घिरता हुआ मनुष्य प्रकृति के प्रभाव से बाहर होता चला जा रहा है। उनके प्रकृति-प्रेम में न तो विस्मय, कुतूहल अथवा सुख-विलास की भावना थी और न असाधारण और भव्य के प्रति ही उनकी संवेदनशीलता थी। नित्य-प्रति सामने आनेवाले सीधे-सादे दृश्य के प्रति ही उनके हृदय में निश्छल अनुराग था। नाचते हुए 'डिफाडिल' के फूलों के साथ उनका हृदय नाच उठता था क्योंकि उनकी प्रकृति निर्जीव पदार्थ नहीं थी, उसके अन्दर एक अन्तरात्मा (Spirit) थी। प्रकृति की इस सूक्ष्म सार-सत्ता का दर्शन निष्कल्मष हृदय से ही हो सकता था। नागरिक जीवन के भौतिक कोलाहल से दूर प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में रहनेवाले व्यक्ति अथवा बाल्यावस्था का निर्विकार हृदय ही प्रकृति के उस सूक्ष्म तत्त्व का दर्शन करने में समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकृति-सम्पत्ति को प्रकाशित करने के लिए आलंकारिकता की आवश्यकता नहीं; उसकी सहज अभिव्यक्ति स्वयं होती है। उनके (Immortality Ode) में यह भावना अत्यन्त हृदय स्पर्शी ढंग से प्रकट हुई है—

Heaven lies about us in our infancy
Shades of the prison house begin to close,
Upon the growing boy.

× × × ×

The youth daily farther from the east
Must travel, still is Nature's friest

Ode of Immortality.

प्रकृति के प्रति सहज अनुराग की यह स्वाभाविक वृत्ति आकर्षक रहस्यवाद को जन्म देती है।

वर्ड्सवर्थ के पश्चात् उनके साथी कॉलरिज इस शाखा के प्रख्यात कवि हुए। उन्होंने कहा कि मनुष्य के चारों ओर एक अज्ञात, रहस्यमय परिवेश है। इस परोक्ष परिवेश का अलक्ष्य प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है। मन की कल्पना-शक्ति ही परोक्ष का दृश्य-विधान करती है। अतः मन को सक्रिय करनेवाली यह रचनात्मक कल्पना-शक्ति ईश्वर की रचना-शक्ति के समान है। इसी कल्पना द्वारा प्राकृतिक जगत् के दृश्य-प्रपंच के भीतर व्याप्त नित्य-तत्त्व को देखनेवाली अन्तर्दृष्टि उपलब्ध होती है। यह अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कल्पना जब मन में उन्मिषित होती है तब आत्माभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन के अनन्त मार्ग स्वयं प्रकट हो जाते हैं। इस स्थिति में कलाकार पार्थिव सम्बन्धों से ऊपर मधुमती-भूमिका के दिव्य लोक में विचरण करने लग जाता है। कॉलरिज की प्रसिद्ध कविता Kubla Khan का इस भाव से सम्पन्न एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

And all should cry, Beware! Beware!
His flashing eyes! his floating hair!
Weave a circle round him thrice,
And close your eyes with holy dread,
For he on honey-dew hath fed
And drunk the milk of Paradise.

Kubla Khan.

कॉलरिज की यह रहस्य-भावना भी अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि इसने

वास्तविक का आधार छूटता नहीं है। उनकी Ancient Mariner तथा Christabel में भी प्रत्यक्ष के साथ अतीन्द्रिय परोक्ष का सम्बन्ध अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखाया गया है।

अब हम अंग्रेजी काव्य के इन दो प्रसिद्ध कवियों के उपरान्त रोमांटिक धारा के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि शेली (Shelley) को लेते हैं। वर्ड्सवर्थ के विपरीत शेली के हृदय का अनुराग प्रकृति के भव्य, अद्भुत और विशाल दृश्यों की ओर अधिक था। शेली में कल्पना-चित्रों की भव्यता और विविधता थी। उनके सांस्कृतिक विचारों में भी विद्रोह का एक तीव्र स्वर था और वे राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था में आमूल क्रान्ति चाहते थे। इस विशेषता के अतिरिक्त शेली में रहस्य की स्वाभाविक भावना भी पाई जाती है। शेली के अनुसार काव्य में कल्पना की अभिव्यक्ति ही होती है। काव्य मानव की सहज प्रवृत्ति है। इस कल्पना के कारण काव्य में साधारण वस्तुएँ भी सुन्दर लगने लगती हैं। यही कल्पना काव्य के माध्यम से ससीम और असीम का गँठबन्धन करती है। Poetic Dream नाम की कविता में शेली ने इस तथ्य को सुन्दर ढंग से प्रकट किया है—

He will watch from dawn to gloom.
The lake reflected sun illume.
The yellow bees in the ivy-bloom.
Nor heed nor see, what things they be;
But from these create he can.
Forms more real than living man.
Nurslings of immortality.

शेली ने कहीं-कहीं सहज रहस्यवृत्ति का आभास बड़े ही स्वाभाविक ढंग से दिया है। शेली की Question नाम की कविता में वर्णन है कि स्वप्न में कवि नदी-तट के अत्यन्त रमणीय क्षेत्र में पहुँचता है। वहाँ वह दिव्य फूलों का एक गुच्छा तैयार करता है। अन्तर की स्वतः प्रेरणा से वह उस गुच्छे को

किसी को अर्पित कर देना चाहता है। पर किसे अर्पित करे ? अव्यक्त की यह स्वाभाविक जिज्ञासा बड़ी ही मधुर है—

I made a nosegay
Kept these imprisoned children of the hours.
Within my hand—and then elate and gay
I hastened to the spot whence I had come
That: I might there present it-O! to whome?

अज्ञात के प्रति कौतूहल की यह भावना अत्यन्त स्वाभाविक है।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ लोग कीट्स और ब्राउनिंग को भी रहस्यवादी काव्यधारा के अन्तर्गत ले लेते हैं। परन्तु कीट्स विशुद्ध इन्द्रियार्थवादी (Sensuous) और ब्राउनिंग बौद्धिक (Intellectual) हैं।

इस प्रकार अंग्रेजी काव्यधारा में उपलब्ध होनेवाले रहस्यवाद का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया गया। हमारे निबन्ध के मुख्य विषय से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होते हुए भी अंग्रेजी कवियों के रहस्यवाद पर अपेक्षाकृत अधिक विचार इसलिए किया गया है कि हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी काव्य पर अंग्रेजी रहस्यवाद का पर्याप्त प्रभाव है। अंग्रेजी कवियों की यह रहस्य-भावना विवध रूपों में प्रकट हुई; जैसे छायादृश्य-विधान, प्रतीक-योजना, जनवाद की भावना, आध्यात्मिक तत्त्वों की उपलब्धि, प्रकृति-प्रेम, स्वाभाविक कौतूहल-वृत्ति आदि। इनका मूल उद्गम पैगम्बरी ईसाई रहस्य-भावना में ही है। इन अंग्रेजी रहस्यवादी कवियों का अधिकांश भाग वादग्रस्त होकर काव्य की प्रकृत भूमि से अलग हो गया और अलौकिक वैचित्र्य-पूर्ण रूप-विधान में लग गया। रूप-विधान के वैलक्षण्य का कारण कलावाद—क्रोशे के अभिव्यंजनावाद (Expressionism)—का प्रभाव है। इसके अनुसार उक्ति की विलक्षणता ही काव्य का साध्य मानी जाती है। अभिव्यंजनावाद के अतिरिक्त प्रभाववाद (Impressionism) का प्रभाव भी इस रहस्यवादी सम्प्रदाय पर लक्षित होता है। इस प्रभाव के कारण वैयक्तिकता,

का उदय रहस्यवाद में हुआ। अंग्रेजी रहस्यवादी कवियों की काव्यभाषा में लाक्षणिकता का मूर्त विधान अत्यधिक मिलता है।

इस पुस्तक के आगे के अध्यायों में यथास्थान यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि इस रहस्यवादी सम्प्रदाय की किन-किन विशेषताओं को हिन्दी-काव्य ने ग्रहण किया और क्यों?

द्वितीय परिच्छेद

आधुनिक युग में रहस्य-भावना के उदित होने के कारण

इस प्रबन्ध के विषय-भूमिकात्मक प्रथम परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे मूल विषय में प्रवृत्ति-निमित्तक जो आधारभूत भावना है वह हमारी एक अत्यन्त स्वाभाविक मनोवृत्ति का ही परिणाम है। उसकी प्रेरणा से हमारे देश में, तथा अन्यत्र भी, साधना, दर्शन और साहित्य में, देश-कालानुसार, रहस्य-भावना का प्रकाशन विविध रूपों में हुआ। भारतीय इतिहास के मध्ययुग की अनेक परिस्थितियों के कारण, जिनका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है, साधना के क्षेत्र में निर्गुण-पंथ का प्रवर्तन हुआ। इस पंथ ने पैतृक दाय के रूप में सिद्धों और नाथपंथी योगियों से साधनात्मक रहस्य-भावना को लिया और उसमें सूफियों के प्रेम-तत्त्व का समन्वय करके हिन्दी-साहित्य में प्रथम बार रहस्यवाद का अवतार किया। उनके साथ ही सूफियों ने आध्यात्मिक प्रेम के रंग में रँगे हुए भावनात्मक रहस्यवाद की मनोरम अभिव्यक्ति की। कालान्तर में निर्गुण-पंथ की अपेक्षा सगुण-भक्तिमार्ग की प्रबलता हो जाने पर रहस्यवादी भावनाओं के प्रकाशन का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता हुआ साहित्य की सीमा से प्रायः बाहर निकल गया और केवल साधना में ही यत्र-तत्र उसकी सत्ता रह गई। सगुण-भक्ति-शाखा तथा रीति-काल का समस्त साहित्य, केवल कुछ अत्यन्त विरल अपवादों को छोड़कर, रहस्य की प्रवृत्ति से सर्वथा रहित है। रहस्यवाद का अब तक का यह स्वरूप—साधनात्मक और भावनात्मक दोनों ही—सम्प्रदाय-विशेष की साधना-पद्धति की स्वाभाविक विशेषता अथवा हृदय-वृत्ति की नैसर्गिक प्रसरणशीलता के कारण स्वाभाविक है।

भक्ति और रीति काल में अत्यन्त दबकर चलनेवाली इस रहस्य-प्रवृत्ति को आधुनिक युग के साहित्य में विकसित होने का अनुकूल वातावरण फिर प्राप्त हुआ। इस बार अनेक कारणों से इसने जो स्वरूप धारण किया वह मध्य-युगीन रहस्य-भावना के स्वरूप से बहुत भिन्न है। इसके स्वरूप का पूर्ण विवेचन करने से पूर्व यह प्रसंग-प्राप्त प्रतीत होता है कि हम पहले उन कारणों की विवेचना कर लें जो इस आधुनिक युग में रहस्यवाद के पुनरुत्थान में सहायक हुए हैं।

धार्मिक

यद्यपि प्रत्यक्ष देखने में धर्म सम्बन्धी विश्वासों, विचारों और अनुष्ठानों का साहित्य से कोई सीधा लगाव नहीं दिखाई देता, तथापि हमारे सामाजिक व्यक्तित्व के संघटन में धर्म और उपासना से सम्बन्ध रखनेवाले उपादानों का का बहुत बड़ा हाथ होने के कारण साहित्य भी धार्मिक आन्दोलनों से बहुत प्रभावित होता है, क्योंकि वास्तव में साहित्य समाज की समस्त गति-विधियों का केवल लेखबद्ध संकलन ही नहीं होता अपितु उनके उपादानों से अपने स्वरूप का निर्माण भी करता चलता है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५० ई०) से माना जाता है। ईसा की १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण के समाप्त होते-होते मध्ययुगीन धर्म-भावना के उन आदर्शों के प्रति, जो कि सामन्तकालीन ढाँचे में ढल चुके थे, एक उत्कट प्रतिक्रिया का विद्रोही स्वर उठने लग गया था। इस प्रतिक्रिया की प्रेरणा भारत में प्रतिष्ठित होनेवाले पाश्चात्य सम्पर्क के अनेक माध्यमों से मिली। धर्म और भक्ति का जो पुराना आदर्श आचार्यों के द्वारा उदार आदर्शों के साथ प्रतिष्ठित किया गया था उसका रूप अब बहुत कुछ विकृत हो गया था। धर्म और भक्ति के सात्त्विक आदर्श का पालन बहुत थोड़े से लोग ही कर पा रहे थे। इनके नाम पर मिथ्या आडम्बर, जटिल और अर्थशून्य धार्मिक क्रिया-कलाप आदि का बहुत प्रचार हो गया था। कृष्ण-भक्ति-शाखा की माधुर्य-भाव की उपासना व्यभिचार, कामुकता और इन्द्रियासक्ति के रूप में अधःपतित हो गई थी। मठों और मन्दिरों में विकसित होनेवाले सम्पत्तिवाद और महन्तवाद के द्वारा जन-शोषण का अकृत्य सम्पन्न होने लगा था। धार्मिक आदर्शों के निर्विचार पालन का ज्वलन्त उदाहरण उस समय में प्रचलित बलपूर्वक सती कराने की प्रथा का घोर अमानुषिक कार्य था। छुआछूत की प्रथा इतनी अधिक फैल चुकी थी कि उसने अछूत कहे जानेवाले लोगों को मानवता के मौलिक अधिकारों से भी वंचित कर दिया था। ऐसे सच्चे महात्मा बहुत ही कम रह गए थे जिन्होंने इन दोषों से बचे रहकर धर्म के प्रकृत मार्ग का अनुसरण किया हो। उनका प्रभाव-क्षेत्र केवल व्यक्तिगत ही रह गया था, सामाजिक नहीं था।

इधर धीरे-धीरे पाश्चात्य सम्पर्क से जनता के कुछ प्रबुद्ध भाग में नव जागरण के चिह्न प्रकट होने लगे। समानता, भ्रातृत्व और प्रेम को आधार मानकर चलनेवाले ईसाई धर्म की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ने लगा। इस नई स्थिति में कुछ धर्म और समाज के सुधारक सामने आए और मानवतावाद

के आधार पर धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का सूत्रपात उनके द्वारा किया गया। सुधारकों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि उदात्त भारतीय धर्म-भावना का नवयुग की भावनाओं के अनुसार इस प्रकार पुनः संघटन किया जाय कि एक ओर तो उसमें आ जानेवाले दोषों का परिहार हो जाय और दूसरी ओर अनुचित रूप में पड़नेवाले विदेशी प्रभाव से भी वह बची रहे। फलस्वरूप, सर्वप्रथम, बंगाल में राजा राममोहन राय (सन् १७७४ से १८३३) सुधार के स्वर को लेकर उठे। उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य धर्मों का गम्भीर अध्ययन करके भारतीय ब्रह्मवाद के आधार पर समाज का ऐसा नव-संघटन करना चाहा जिसमें सभी लोग अर्थशून्य परम्पराओं और रूढ़ियों के श्वासावरोधकारी घेरे से बाहर निकलकर विश्व-बन्धुत्व और विश्वप्रेम के आधार पर एक मानवता के सूत्र में बँध जायँ। प्रबुद्ध जनता ने राजा राममोहन राय के इस ब्रह्म-समाज[1] का स्वागत किया। राजा साहब की मृत्यु के उपरांत भी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्म-समाज को आगे बढ़ाया। आगे चलकर केशवचन्द्र सेन ने मानवतावाद के और अधिक व्यापक आदर्शों का समावेश इसमें किया और 'साधारण-समाज' के रूप में इसका पुनः संगठन किया। ब्रह्म-समाज के प्रचार से बंगाल में विशेष रूप से जनता में नव चेतना आने लगी।

जब कि बंगाल में इस प्रकार ब्रह्म-समाज चल ही रहा था, हमारे देश के धार्मिक आन्दोलन ने महर्षि स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में व्यापक रूप धारण किया। स्वामी जी ने सन् १८७५ में आर्य-समाज की स्थापना की और मूर्ति-पूजा तथा जटिल कर्मकाण्ड की विकृत रूढ़ियों में उलझे हुए प्रचलित धर्म-विधान के स्थान पर मूल वैदिक धर्म का उपदेश दिया। इस धर्म में एक ऐसे निराकार ईश्वर की उपासना करने का उपदेश दिया गया था जो कि अपनी निर्विशेषता के कारण सामान्य रूप में सबको ग्राह्य हो सकता था। आर्य-समाज के द्वारा मानव-मात्र की एकता का सिद्धान्त, जिसमें बिना किसी बाहरी भेद-भाव के सभी—यहाँ तक कि मुसलमान और अछूत भी—आ सकते थे, प्रचारित किया गया। स्वामी जी के द्वारा चलाए गए शुद्धि-समारोह विशाल मानवतावाद के प्रतीक थे।

आर्य-समाज की स्थापना के थोड़ा बाद में एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई जिसने धार्मिक क्रान्ति को व्यापक क्षेत्र में आधुनिक भावधारा के साथ प्रतिष्ठित

---

१. अरविन्द का 'इंडियन रेनेसाँ'—तृतीय संस्करण, पृ० ४७।

करने का कार्य किया। यह घटना थी सन् १८६३ में श्रीमती एनी बेसेण्ट द्वारा भारत में थियासॉफिकल सोसाइटी की स्थापना। इस संस्था द्वारा नवशिक्षितों में जो विचार-धारा प्रवर्तित की गई उसके अनुसार धर्म के साम्प्रदायिक रूप का परित्याग करके एक ऐसा विराट् मानव-धर्म लक्ष्य था जिसमें सबकी अच्छी बातों का समन्वय हो तथा प्रेम, शान्ति और सदाचार द्वारा अनाम, अरूप ईश्वर की उपासना की जाय। थियासॉफी के द्वारा धार्मिक सहिष्णुता, देशप्रेम और राष्ट्रीय चेतना फैलाने का सराहनीय कार्य हुआ[1]।

धार्मिक पुनरुत्थान का यह जो महत्त्वपूर्ण कार्य उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा किया गया उसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३४ से १८८६), स्वामी विवेकानन्द (सन् १८६३ से १९०२) तथा उनके अन्य बहुसंख्यक अनुयायियों ने भी बहुत अधिक महत्त्व का कार्य किया। परमहंस जी का धर्म समन्वय का व्यावहारिक—उनके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत—मार्ग लेकर चला। उनके मत के द्वारा देश और विदेश में भी सेवा-मिशनों की स्थापना करके मानवतावाद पर आधारित सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा की गई। इस सम्प्रदाय के द्वारा भी देश की धार्मिक क्रान्ति पर्याप्त अग्रसर हुई और लोगों ने पुरानी रूढ़ियों का परित्याग करके स्वस्थ वायु-मण्डल में श्वास लेना आरम्भ किया[2]।

नवयुग की इस धार्मिक क्रान्ति को इसके पश्चात् विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी पर्याप्त बल प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने दर्शन और उत्कृष्ट काव्य-कला के द्वारा विराट् मानवता की प्रतिष्ठा हृदय की कोमल वृत्तियों के अभ्युत्थान के आधार पर की। इनके साथ भारतीय राजनीति के क्षितिज पर विश्ववंद्य महात्मा गांधी का जो उदय हुआ वह तो एक आध्यात्मिक घटना है। गांधी जी ने आध्यात्मिक साम्यवाद के आधार पर विश्व-बन्धुत्व के परम रमणीय भाव की स्थापना की। साथ ही पाण्डिचेरी से योगिराज अरविन्द की जो योगवाणी प्रचारित हुई उसने दार्शनिक तार्किकता के साथ, प्राचीन ब्रह्मवाद का सामयिक संस्करण, विश्व-मानवतावाद का घोष ऊँचा किया।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारतवर्ष में धार्मिक पुनरुत्थान की एक व्यापक लहर दौड़ पड़ी जिसने सभी को आप्यायित कर लिया। इन धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव जीवन के सामाजिक और बौद्धिक क्षेत्र पर भी

---

१. पं० जवाहरलाल नेहरू—डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ० २९५।
२. श्री अरविन्द—इंडियन रेनेसाँ, पृ० ४८।

पर्याप्त रूप में पड़ा। धार्मिक आदर्श, इस क्रान्ति के कारण, मूर्त उपासना की ओर से फिर एक बार हटकर, अमूर्त की ओर बढ़ा। यह नवीन आदर्श जिस विशाल मानवतावाद या जनवाद की भावना को लेकर चला उसके भीतर सगुणोपासना का अवकाश नहीं था। प्राचीन ब्रह्मवाद, इस नवीन भावना में, अपनी ज्ञानगम्य सीमा का और अधिक विस्तार करके, अनेकता में एकता की भावना को पहले की अपेक्षा स्पष्टतर करके सामने आया, क्योंकि अब मनुष्य की ज्ञानसीमा का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार हो चुका था। विराट् व्यापक अद्वैत तत्त्व की रहस्यानुभूति के लिए अब एक व्यापक क्षेत्र पर पृष्ठभूमि तैयार हो गई।

सामाजिक

धर्म की प्रगति समाज-सापेक्ष ही होती है। फलतः उपर्युक्त धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन समाज पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त नवयुग की बदलती हुई अन्य अनेक परिस्थितियों ने भी हमारी सामाजिक दशा में अनेक परिवर्तनों को अपरिहार्य कर दिया।

भारत के प्राचीन समाज और संस्कृति की संघटन-व्यवस्था आरम्भ में अत्यन्त उदार और धार्मिक आदर्शों पर प्रतिष्ठित हुई थी। समाज के छोटे-बड़े भिन्न-भिन्न अंगों का जैसा सुन्दर समन्वय हमारी उस कृषि-प्रधान सभ्यता में किया गया था, वैसा और कहीं नहीं हो पाया। किन्तु मध्ययुग की—विशेषतया उत्तर मध्ययुग की—सामन्तीय प्रवृत्तियों और अनेक दोषों की समष्टि पराधीनता ने हमारे सांस्कृतिक प्रवाह की चिर-अभिनव धारा को अवरुद्ध करके उसकी प्रगति को रोक दिया[1]। १७वीं शताब्दी में विदेशी व्यापारियों का महत्त्वाकांक्षी दल जब अपना राज्य-विस्तार यहाँ करने लग गया तब उन नए शासकों ने हमारी कृषि-प्रधान ग्रामीण-सभ्यता के पोषक तत्त्वों का विनाश करना आरम्भ कर दिया। उद्योग-धन्धों के विनाश ने हमारी आर्थिक रीढ़ तोड़ दी और शिक्षा के विनाश ने हमें ज्योति-पथ से हटाकर अँधेरे गड्ढे में गिरा दिया।

---

१. देखिए—Arvindo—Indian Renaisance, III edition, P. 27.

"The beginnings of Indian culture were superlative, the developments very great, and at a certain point where progress, adaptation, a new flowering should have come in the old civilization stopped short, partly drew back, partly lost its way,"

फलतः हमारे सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की ऐसी बुराइयाँ आ गईं जिनमें से बहुतों का उल्लेख हम धार्मिक परिस्थितियों के आख्यान में कर चुके हैं। आर्थिक हीनता एवं अनेक राजनीतिक कारणों से ठगों और दस्युओं की संख्या में भी वृद्धि हो गई थी।

इस घोर सामाजिक नैराश्यपूर्ण अन्धकार की स्थिति में १९वीं शताब्दी के धर्म-सुधारक प्रकाश-स्तम्भ बनकर सामने आए। ये केवल धर्म-सुधारक ही नहीं थे वरन् जन-जीवन की सामाजिक स्थिति के अनेक अंगों में भी इन्होंने सुधार किया, क्योंकि जन या जन-समुदाय से निर्लिप्त और निरपेक्ष होकर धर्म की सत्ता सम्भव नहीं है। इन महात्माओं ने समाज को शिक्षा और नव-जागरण की अनन्त प्रेरणा दी, मानवतावादी व्यापक प्रेम का शीतल सन्देश सुनाया और 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' को भी चरितार्थ किया।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में ही पश्चिम में जिस विज्ञानवाद का उदय हुआ और तत्त्व-चिन्तकों द्वारा जिस बुद्धिवादी नूतन जीवन-दर्शन की व्याख्या की गई उसका प्रभाव भी धीरे-धीरे हमारे देश में आने लग गया। लार्ड मेकाले और विलियम बेंटिंक के प्रयत्न से देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रवर्तन हुआ। नव-शिक्षित जन-समुदाय ने शीघ्रता से इन नवीन प्रवृत्तियों को ग्रहण किया। पूर्वोक्त धर्म-सुधारकों ने नव-जागरण की इस विशेषता को परखकर ही नूतन और पुरातन का समन्वय अधिक किया था। इन धर्म-सुधारकों के प्रयत्न से जनता का बड़ा भाग नव-चेतना के प्रभाव में आ गया। प्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में मध्यकालीन श्रद्धा और विश्वास के स्थान पर बौद्धिकता का उदय होने लगा। नव जाग्रत् लोग पुरानी रूढ़ियों और निर्जीव परम्पराओं को छोड़कर नवीन आदर्शों के अनुरूप ही अपने जीवन को ढालने लग गए। समाज के अनेक उपेक्षित अंग, जैसे स्त्री और अछूत आदि, अथवा नवागत-विदेशी आदि भी मानवोचित समानता और समन्वय की दृष्टि से स्वीकृत किए जाने लगे।

संक्षेप में हमारे तत्कालीन (१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के) समाज की यही दशा थी। रूढ़ियों और निर्जीव परम्पराओं का परित्याग, शिक्षा के प्रसार से दृष्टि की व्यापकता, जनवाद के नवीन आदर्शों का अनुसरण, श्रद्धा और विश्वास के स्थान पर प्रतिपत्ति की बौद्धिकता आदि गुण समाज में धीरे-धीरे उदित हो रहे थे। ऐसी दशा में साधना या उपासना के एकाङ्गदर्शी अनेकानेक सम्प्रदायों के प्रचलन की उस समय उपयुक्त भूमि न थी। नूतन परिस्थितियों में भी साधना के उसी सामान्य मार्ग की संभावना थी जो एक ओर तो तात्त्विक दृष्टि से बुद्धिग्राह्य हो और दूसरी ओर जनवाद के नूतन आदर्श के अनुरूप

बैठता हो। अतः बौद्धिकता को ग्राह्य होनेवाला वह परोक्ष-तत्त्व, जो सब में अनुस्यूत है और सब जिसमें हैं, विराट् मानवता की समष्टि-भावना के साथ लोगों के विचार का अधिक उपयुक्त केन्द्र बनता दिखाई दिया।

राजनीतिक

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल अर्थात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय (१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) में हमारे राजनीतिक क्षेत्र में जो अनेक प्रकार के विक्षोभ उत्पन्न हुए, हमारी वर्तमान साहित्य-धारा को दिशा प्रदान करने में उनका भी पर्याप्त हाथ रहा है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी व्यापारी-शासकों ने छल-बल, न्याय-अन्याय अथवा औचित्य-अनौचित्य सें स्वत्वापहरण, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक विध्वंस का जो कुचक्र चलाया उससे एक व्यापक असन्तोष की लहर देश भर में फैल गई। यदि सच पूछा जाय तो स्वतन्त्रता की उत्कट कामना हमारे देश में से कभी समूल विनष्ट नहीं की जा सकी है। अन्याय और अत्याचार के प्रति असन्तोष की तीव्र भावना सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के रूप में अत्यधिक उग्रता से फूट पड़ी। उसके फल-स्वरूप, यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन-चक्र समाप्त हो गया, परन्तु देश में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भी विधि-पूर्वक स्थापना हो गई। तदनन्तर दमन का भीषण चक्र चला जिसका वर्णन आज भी अत्यन्त लोमहर्षक और उद्दीपक है।

अस्तु, इस विद्रोहोत्तर दमन-चक्र ने कुछ काल के लिए जनता में नैराश्य, निर्बलता, पराजयवादिता, आदि जड़ भावों को भर दिया। परन्तु शीघ्र ही भारतीय आत्मा का प्रकृत स्वरूप अपनी मोहमयी तमोनिद्रा को हटाकर अपनी विजय-यात्रा पर अग्रसर हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५० से १८८४) का मानस देश-पीड़ा से आहत होकर शनैः-शनैः देशप्रेम की विवृति करने लग गया था। पूर्वोक्त धार्मिक और सामाजिक सुधारों के द्वारा भी जनता में जिस नव-जागरण का संचार होने लग गया था वह राष्ट्र-प्रेम, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति आदि की भावनाओं को भी उन्मिषित कर रहा था। सन् १८७५ में महर्षि स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की संस्थापना करके राष्ट्रभाषा और राष्ट्रप्रेम की भावना अपने असंख्य अनुयायियों में भर दी। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा और मानवतावादी विचार-धारा ने तदितर प्रबुद्ध जनता को राष्ट्र की नवीन कल्पना, देश और राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग का पाठ आदि

की शिक्षा दी। योरोप में इस प्रकार के जो अनेक स्वातन्त्र्य-आन्दोलन चले उन आन्दोलनों के पीछे कोरी भावुकता ही नहीं थी; अपितु एक विधिवत् आख्यात दार्शनिक परम्परा भी थी। रूसो का जनवाद, कॉमटे के दर्शन की पाजिटिव विचारधारा (Comte's Positive Philosophy), जर्मन दार्शनिकों का प्रत्ययवाद (Humanitarian Idealism), एच. पी. ब्लेवेट्स्की की थियासॉफिक विचार-धारा, मार्क्स और टाल्स्टाय की समाजवादी या साम्यवादी विचार-धारा आदि ऐसी ही अनेक विचार-धाराएँ रही हैं, जिनका आधार व्यवस्थित विचार-परम्परा पर था। इन्होंने समय-समय पर जनवादी आन्दोलनों का पोषण किया है। भारत की प्रबुद्ध चेतना पर भी इन विचार-धाराओं का प्रभाव समय-समय पर पड़ा है और उससे जनवादी आन्दोलन उभरे हैं। इन विदेशी विचार-धाराओं के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता ने भी साधारण संघर्ष-प्रेमियों को तो 'युद्धस्व विगतज्वरः' (गीता, ३।३०) का सन्देश सुनाया* और बुद्धि-सम्पन्न संचालकों के सम्मुख विशाल मानवतावाद की चिन्तन-धारा प्रस्तुत की। सन् १८८४ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई जिसने सन् १९४७ में विदेशी शासन को उखाड़ फेंका। सन् १८९३ में श्रीमती एनी बेसेण्ट की थियासॉफी विचार-धारा ने भी स्वातन्त्र्य-प्रेम के बीज वपन किए।

इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में स्वातन्त्र्य का भाव अग्रसर हो चला। कवीन्द्र रवीन्द्र, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और योगिराज अरविन्द ने स्वतन्त्रता के मूल्य का आध्यात्मिक विवेचन किया। इनके जीवन-दर्शन में विश्वमानवतावाद की प्रतिष्ठा है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वातन्त्र्य-प्रेम की भावना को पर्याप्त बल मिला और अन्ततोगत्वा देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

इस प्रकार पूरे आधुनिक युग की राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन से स्वातन्त्र्य की भावना और नव-जागरण की वृत्ति आदि से अन्त तक दिखाई देती है। स्वातन्त्र्य की भावना, वस्तुतः मन में तब उदित होती है जब आत्मभाव का प्रसार केवल अपने पर से हटकर अन्य अनेकों में हो जाता है। यह स्थिति तब होती है जब विशुद्ध सात्त्विक भाव के उन्मेष के कारण विश्वसामाजिकता की

---

* स्थानीय दैनिक 'प्रताप' के वर्तमान प्रधान सम्पादक श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य ने जो एक क्रान्तिकारी कार्यकर्ता भी रहे हैं, मुझे बतलाया था कि सशस्त्र क्रान्ति के युग में किसी के पास गीता की पुस्तक का होना उसे क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण समझा जाता था।

भावना के मूल में निहित करुणा या प्रेम के मूल-भाव जाग्रत् हो जाते हैं। आधुनिक युग की पीड़ा, विषमता, दुःख और दैन्य ने सर्वत्र ही विचारकों के मानसिक कल्पना-लोक में भविष्य की सुख-शान्ति और मंगल-कामना के आदर्श प्रस्तुत किए हैं। बुद्धिग्राह्य मार्ग से समष्टिगत मानवतावाद पर पहुँचना, सद्वृत्तियों के उत्थान से, दुर्वृत्तियों का परिहार करके महामानव की उपासना करना भविष्यत् के मंगलमय कल्पनादर्शों की प्रतिष्ठा की आशा आदि तत्त्व इस नव-चेतना के द्वारा प्रकट हुए। ये तत्त्व रहस्य-भावना के कितने अनुकूल हैं इसका विवेचन हम पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में अंग्रेजी कवियों के रहस्यवाद-निरूपण प्रसंग में कर चुके हैं।

इन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुशीलन से प्रकट हो जाता है कि आधुनिक युग में अनेक धार्मिक, सामाजिक सुधारों, पाश्चात्य विचार-धारा के सम्पर्क से आनेवाली बौद्धिकता, नवीन जनवादी आदर्श की प्रतिष्ठा, आधुनिक राष्ट्रीय भावना और स्वातन्त्र्य-प्रेम आदि के कारण जीवन के विविध क्षेत्रों में पुराने सामन्त-कालीन मूल्य ध्वस्त हो गए और नवीन दृष्टियों का उदय हुआ। साधना का क्षेत्र भी पुरानी साम्प्रदायिक सगुणोपासना के विकार-ग्रस्त हो जानेवाले तंग घेरे से निकलकर व्यापक जनवाद के आधार पर विश्व-मानवता की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित हो गया। यह अद्वैत विराट्-तत्त्व रहस्य-भावना और तज्जन्य रहस्यवाद के अत्यन्त अनुकूल है।

ऊपर के इस विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि आधुनिक युग में आकर सगुणोपासना की धारा समाप्त हो गई। हमारे कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि सगुण-भक्ति-क्षेत्र में अनेक प्रकार की विकृतियों के आ जाने के कारण तथा अनेक नवीन सम्पर्कों के कारण जनता का प्रबुद्ध भाग उधर से विमुख होकर नवीनता की ओर आकृष्ट हुआ और इसकी बुद्धि और भाव-प्रसार को नए क्षेत्र मिले। इन नए क्षेत्रों में रहस्यभावना के लिए भी अनुकूलता थी। दूसरी ओर सगुण भक्ति और तत्सम्बद्ध रीति-कालीन काव्यधारा भी बराबर चलती रही।

साहित्यिक

आधुनिक युग की विविध परिस्थितियों ने रहस्य-भावना को पल्लवित होने में अनुकूल वातावरण की सृष्टि की। इन अनेक लोक-परिस्थितियों का प्रभाव आधुनिक युग की साहित्य-रचना पर भी व्यापक रूप से पड़ा और धीरे-धीरे

अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करके हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में रहस्यवादी काव्य की विधिपूर्वक रचना होने लगी। इस अनुच्छेद में वर्तमान युग की साहित्यिक प्रगति का संक्षिप्त परिचय देकर उसमें रहस्यवादी काव्य का उदय दिखाया जायगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक युग के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। रीति-काल की बँधी हुई धारा में चलकर आते हुए हिन्दी-साहित्य को भारतेन्दु जी ने समयानुकूल अनेक धाराओं में प्रवर्तित कर दिया। गद्य को पहली बार साहित्यिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने और उसमें गद्य-काव्य की अनेक नवीन विधाओं को प्रवर्तित करने का श्रेय भी भारतेन्दु जी को है। भारतेन्दु के समय में विविध सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण जनदृष्टि में जो व्यापकता आ रही थी भारतेन्दु ने उसे काव्य में वाणी दी; अर्थात् कविता के विषय-क्षेत्र को रीतिकालीन शृंगार के संकुचित घेरे से बाहर निकालकर उसे व्यापक लोकभूमि पर प्रतिष्ठित किया। अब देश-प्रेम, समाज-सुधार, गो-सेवा, राजभक्ति आदि अनेक नवीन विषयों पर कविता होने लगी। भारतेन्दु के समकालीन उनके प्रेमी लेखक और कवि, जैसे पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन, पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि लेखक तथा कवि भी सर्वतोभाव से भारतेन्दु का अनुसरण कर रहे थे। इन कवियों ने विषय की दृष्टि से तो कविता के क्षेत्र में नए-नए विषयों का उपादान किया, परन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से काव्य के विधान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया।

भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के कारण हिन्दी-काव्य में नूतनता के जो लक्षण दिखाई दिए वे आगे चलकर अनेक प्रभावों के कारण व्यापक होने लगे। काव्य के लिए व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली ग्रहण की जाने लगी। ठा० गोपालशरण सिंह और श्रीधर पाठक ने अपनी रचनाओं में प्रकृति की ओर भी अपना झुकाव दिखाया। इस समय तक देश में अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा का भी पर्याप्त प्रभाव हो चुका था। शिक्षित लोग बँगला के माध्यम से तथा सीधे भी, अंग्रेजी साहित्य की अनेक नूतन विधाओं को अपनाने लगे। अंग्रेजी साहित्य की जो-जो प्रवृत्तियाँ भारतवर्ष के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित हुईं उनमें स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)—जैसा कि स्व० आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसका नामकरण[1] किया है—प्रमुख है। योरोप में अंग्रेजी साहित्य में रोमान्स-

---

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५२३।

वाद का उदय १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तब हुआ था जब वहाँ के साहित्य में मिल्टन के युग की बाह्यार्थमूलक आलंकारिकता (Classicism) अत्यधिक बढ़ गई थी। हिन्दी-साहित्य में भी रीति-कालीन प्रवृत्तियों के रूढ़िग्रस्त हो जाने के उपरान्त उसकी जो प्रतिक्रिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही थोड़ी-बहुत आरम्भ हो गई थी उसका अधिक व्यापक विकास रोमान्सवाद के अनुकरण में हुआ। इसके अन्तर्गत काव्य को जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों के तंग घेरे से बाहर निकालकर उसे स्वाभाविक भावभूमि पर स्थापित करना लक्ष्य रूप में ग्रहण किया गया। ठा० गोपालशरण सिंह ने संस्कृत के प्राचीन कवियों के ढंग के प्रकृति-वर्णनों की ओर जो अपना रुझान दिखाया, उसमें प्रतिक्रिया का वही स्वरूप था। इसके उपरान्त श्रीधर पाठक ने अत्यन्त सरल और हार्दिक ढंग से, खड़ी बोली का माध्यम लेकर, अपनी रचनाओं द्वारा मानव-हृदय के अकृत्रिम ढलाव की सरणियों का प्रकाशन किया। प्राचीन संस्कृत कवियों और वर्ड्स-वर्थ की तरह प्रकृति के विविध रूपों की ओर हृदय का अनुराग पाठक जी की रचनाओं में व्यक्त हुआ। प्रकृति की दिव्य-विभूतियों को अनुप्राणित करने-वाली एक अन्तरात्मा (Spirit) के दर्शन की रहस्यमय अनुभूति भी पाठक जी को हुई। उनकी 'स्वर्गीय वीणा' में संकलित रचनाओं में सबका नियमन करनेवाली उस एक व्यापक सत्ता के दिव्य संगीत की ओर सुन्दर रहस्यपूर्ण संकेत हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत श्रीधर पाठक की रचनाओं में जो रहस्यानुभूति दिखाई पड़ी उसे आधुनिक युग का प्रथम रहस्यवादी काव्य कह सकते हैं। तत्कालीन अन्य सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, जिनका विवेचन इसी प्रकरण में किया जा चुका है, भी इस रहस्य-भावना के उदय में सहायता दे रही थीं।

भारतेन्दु की मृत्यु (सन् १८८४) के कुछ बाद ही हिन्दी-काव्य पर आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जो प्रभाव पड़ा वह भी रहस्यवाद को लाने में सहायक हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हिन्दी-प्रचार का जो व्यापक आन्दोलन चला उसकी क्रमिक सफलता के साथ साहित्य की सामान्य गति में भी तीव्रता आने लगी। सं० १९५७ में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना होने के तीन वर्ष बाद ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में सरस्वती का प्रकाशन होने लगा। द्विवेदी जी के व्यापक प्रभाव से स्वच्छन्दतावाद की उस धारा को, जिसका प्रवर्तन श्रीधर पाठक ने किया था, अवरुद्ध होना पड़ा। काव्य और गद्य का भेद मिटा देने के आग्रह में द्विवेदी

जी ने कविता का जो आदर्श सामने रखा वह नितान्त नीरस और इतिवृत्तात्मक था। द्विवेदी जी के प्रभाव से अनेक लेखक और कवि उनके मार्ग का अनुसरण करते रहे और, फलतः, पर्याप्त परिमाण में वस्तु-वर्णन-प्रधान काव्यों, खण्ड-काव्यों और महाकाव्यों की रचना हुई। इनमें भाषा व्रज के स्थान पर खड़ी बोली रही और पुराने घनाक्षरी छन्दों के स्थान पर संस्कृत वर्णवृत्तों का उपयोग किया गया।

परन्तु द्विवेदी जी का गहरा प्रभाव भी स्वच्छन्दता की प्रकृत धारा को बिल्कुल समाप्त न कर सका, क्योंकि वह धारा नवीन सांस्कृतिक परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थी। द्विवेदी जी के पक्के उपासक श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी, समय के प्रवाह में पड़कर, अपनी व्यक्तोन्मुख स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध जाकर, 'झंकार' में कुछ रहस्यवादी गीत भी गाए। मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि अन्य ऐसे कवि भी उसी समय साहित्य-क्षेत्र में आए और द्विवेदी जी के प्रभाव के विरुद्ध नए प्रकार की काव्य-रचना में लगे रहे जिसमें प्रकृति-प्रेम, देशप्रेम, रहस्यवाद की स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि विशेषताएँ थीं।

सन् १९१० तक आते-आते द्विवेदी जी की नीरस इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध छायावाद के नाम से एक और प्रतिक्रिया आरम्भ हुई जिसने आधुनिक काल पर इतना व्यापक प्रभाव डाला कि पिछले दोनों महायुद्धों के बीच का समय 'हिन्दी-काव्य का छायावाद का युग' ही कहलाता है। हिन्दी-साहित्य में छायावाद के आगमन का बहुत-कुछ कारण वंगीय प्रभाव है। वंग-साहित्य में सर्व-प्रथम ब्रह्म-समाज में गाने के लिए बनाए गए गीतों और भजनों को, उनमें उपलब्ध आध्यात्मिक तत्त्वों के छायाभास (Phantasmata) के कारण, छायावाद कहा जाने लगा।[1] २०वीं शताब्दी के प्रथम दशक में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि में उस शैली का चरम विकास हुआ और उसकी धूम हिन्दी में भी मच गई। छायावाद ने एक ओर तो काव्य के स्थूल बाह्य विधान की प्रतिक्रिया में अभिव्यञ्जन-शैली को सूक्ष्म-परक बनाया और दूसरी ओर विज्ञान-युग के बढ़ते हुए संघर्षों और विषमताओं से पलायन करके मनोवृत्ति को भी अन्तर्मुखी बनाया। छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह लेकर साहित्य में अवतरित हुआ। इसके कारण काव्य की अभिव्यंजन-क्षमता में जो लाक्षणिकता, वचन-भंगिमा, वाग्वैचित्र्य, नवीन पदावलियाँ आदि गुण आए

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५८३।

उनसे हिन्दी-काव्य की निश्चित श्रीवृद्धि हुई है। मनोवृत्ति की अन्तर्मुखता, वर्ण्य विषय की सूक्ष्मता और कल्पना-व्यापार की असाधारणता के कारण छायावादी काव्य में रहस्यवाद को इतना अधिक अवसर मिला कि प्रायः लोगों ने छायावाद और रहस्यवाद को समानार्थक ही मान लिया। इन दोनों शब्दों की समानार्थकता पर हम आगे चलकर यथास्थान विचार करेंगे। अभी, प्रकृत प्रसंग में, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि छायावादी युग में आधुनिक हिन्दी काव्य की रहस्यवादी धारा अपने चरम विकास को पहुँचने में समर्थ हो सकी।

इस प्रकार, संक्षेप में, आधुनिक युग की भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण रहस्य-भावना को उदित होने का अनुकूल वातावरण मिला और पाश्चात्य रोमांसिकता के प्रभाव के कारण जो नए प्रकार का 'स्वच्छन्द' तथा छायावादी काव्य-प्रवाह चला उसके अन्दर इस रहस्य-भावना को काव्य में प्रतिष्ठित होने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त हुआ।

तृतीय परिच्छेद

रहस्यवाद का स्वरूप

(क) आत्मपक्ष

पिछले प्रकरणों में किए गए विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि रहस्य-भावना मनुष्य की एक अत्यन्त स्वाभाविक मनोवृत्ति है और इसका प्रकाशन धर्म, दर्शन, साधना, भक्ति और साहित्य में प्रायः सर्वत्र हुआ है। अंग्रेजी-साहित्य और हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में यह रहस्य-भावना एक निश्चित और सुव्यवस्थित रूप लेकर चली। रूप की इस निश्चित व्यवस्था की समुचित सैद्धान्तिक स्वीकृति के कारण जिस काव्यधारा में इसका विधिवत् सैद्धान्तिक अनुसरण किया गया वह काव्यधारा रहस्यवादी काव्यधारा कही जाने लगी। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग में जिन कारणों से उदित होकर रहस्य-भावना ने काव्य में वादानुगत रूप धारण किया, और उससे जिस प्रकार के काव्य की सृष्टि हुई उस प्रकार के काव्य का परिचय प्राप्त करने से पूर्व वादानुगत रहस्य-भावना या रहस्यवाद के स्वरूप का ही विवेचन कर लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। अतः इस परिच्छेद में रहस्यवाद के आत्मपक्ष और कलापक्ष का विवेचन किया जा रहा है।

रहस्यवाद शब्द 'रहस्य' और 'वाद' दो शब्दों से मिलकर बना है। अमरकोश के अनुसार 'रहस्' शब्द का अर्थ है—एकान्त, निर्जन, गुप्त, गुह्य; और उससे सम्बन्धित वस्तु 'रहस्य' (रहसि भवं = रहस्यं) कहलाती है।[1] इस प्रकार 'रहस्य' का अर्थ है 'एकान्त सम्बन्धित विषय'। वद् = व्यक्तायां वाचि (व्यक्त भाषण) धातु से संज्ञार्थक 'घञ्' लगाकर 'उच्यते अनेन इति वादः' के अनुसार 'वाद' शब्द निष्पन्न होता है—जिसके द्वारा कुछ कहा जाय। किन्तु 'वाद' शब्द अपने सामान्य अर्थ में न प्रयुक्त होकर व्यवहार में विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। शास्त्रों के अन्तर्गत प्रचलित वे मत वाद कहलाते हैं जिनकी स्थापना युक्तियों और प्रमाणों द्वारा विधिपूर्वक की जाती है; जैसे दृष्टिसृष्टिवाद, विवर्तवाद, सत्कार्यवाद, प्रामाण्यवाद, अभिहितान्वयवाद आदि। अतः रहस्यवाद

---

१. अमरकोश—काण्ड २, वर्ग ८, श्लोक २२, २३।
विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः।
रहश्चोपांशु चालिंगे रहस्यं तद्भवे त्रिषु॥

का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ 'वह मतवाद जिसमें उन बातों का उल्लेख हो जिन्हें सब लोग नहीं जानते हैं'।

किन्तु हमारे प्रकृत प्रसंग में 'रहस्यवाद' का यह व्युत्पत्तिगत अर्थ ज्यों का त्यों नहीं लिया गया है। काव्य के सम्बन्ध में रहस्यवाद एक विशेष प्रकार की काव्यधारा के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होता है। जिस काव्य में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रचयिता या कवि की दृष्टि जीवन और जगत् के व्यक्त क्षेत्र से हटकर उसके अव्यक्त पक्ष की ओर, जो कि व्यक्त के भीतर ओतप्रोत है, हो जाती है उसे रहस्यवादी काव्य कहते हैं।[1] दृश्य जगत् के विविध नाम-रूपों में व्याप्त एक अगोचर तत्त्व के भावात्मक आभासों से सम्पन्न काव्य हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग के निर्गुण-पंथी काव्य में, यद्यपि, प्राप्त होते हैं, परन्तु 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग आरंभ में उन काव्यों के लिए नहीं होता था। हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग सन् १९२० के पूर्व कहीं देखने में नहीं आता। २०वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में जब बँगला और अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का प्रचलन हुआ तब उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना के प्रसंग में इस शब्द का प्रचलन आरम्भ हुआ। कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि के काव्य को देशी-विदेशी विद्वानों ने 'मिस्टिक' कहा और उस प्रकार के काव्य की प्रमुख विशेषता 'मिस्टिसिज्म' कहलाई। उसके अनुकरण पर हिन्दी में जो काव्य-रचना हुई उसके लिए 'मिस्टिक' और 'मिस्टिसिज्म' के स्थान पर 'रहस्य-वादी' या 'रहस्यवाद' शब्द का प्रचलन हुआ। 'सुकवि-किंकर' के छद्म नाम से 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख में स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस शब्द के नूतन व्यवहार की ओर संकेत किया है।[2] सन् १९२७ में 'माधुरी' में अवध उपाध्याय ने 'रहस्यवाद' के नाम से एक लेखमाला का प्रकाशन किया। सन् १९२७ में ही आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' के इतिहास के प्रथम संस्करण में इस शब्द का प्रयोग एक

---

१. यही प्रबन्ध, पृष्ठ १।

२. सरस्वती—मई, सन् १९२७—"अंग्रेजी में एक शब्द है 'मिस्टिक' या 'मिस्टिकल'। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने अपने त्रैभाषिक कोष में इसका अर्थ दिया है—गूढ़ार्थ, गुप्त, गुह्य, गोप्य और रहस्य। रवीन्द्रनाथ की यह नए ढंग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है। इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थबोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है।"

निश्चित काव्यधारा के लिए निःसंकोच किया; और सन् १६२८ में उन्होंने एक अलग पुस्तक भी 'हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद' के नाम से प्रकाशित कराई।

इस प्रकार अंग्रेजी-साहित्य के रोमाण्टिक काव्य के प्रभाव से हिन्दी में जो नई काव्यधारा 'छायावाद' के नाम से चली उसकी एक प्रवृत्ति-विशेष के लिए रहस्यवाद शब्द का प्रयोग हिन्दी में चल पड़ा। आगे चलकर यह काव्यधारा ज्यों-ज्यों सुप्रतिष्ठित होती गई, इसके अनुगामियों ने इसके शास्त्रीय विवेचन भी किए और प्रसाद जी[1] तथा महादेवी वर्मा[2] ने वेदों, उपनिषदों, तंत्रों आदि में इसके सद्भाव का अनुसन्धान करके अपने मतवाद की पुष्टि की। किन्तु 'रहस्यवाद' शब्द आज जिस नूतन प्रवृत्ति का द्योतक है वह एक सम्प्रदाय-विशेष की अपने ढंग की मान्यता है और उससे प्रभावित काव्य आधुनिक युग का ही है। उसके भावपक्ष (Matter) और विभाव-पक्ष (Form), दोनों का निर्वाह अपने ढंग से होता है। इस विशेष दृष्टि से देखने के कारण कुछ विद्वान्—जैसे पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—पुराने कबीर आदि सन्त कवियों को रहस्यवादी नहीं मानते।[3]

हिन्दी का आधुनिक रहस्यवादी काव्य छायावादी काव्य की ही एक प्रवृत्ति-विशेष है।[4] बहुधा इन दोनों शब्दों के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है और इन दोनों शब्दों को समानार्थक समझ लिया जाता है। दोनों के लिए अंग्रेजी के एक शब्द 'मिस्टिसिज्म' के व्यवहार के कारण ही यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। वस्तुतः छायावाद का एकांश ही रहस्यवाद का समानार्थक है। जहाँ छायावाद शब्द का व्यापक अर्थ में अर्थात् वर्ण्य-विषय और काव्य-शैली दोनों अर्थों में प्रयोग होता है[5] वहाँ वर्ण्य-विषयक छायावाद और रहस्यवाद समानार्थक हो सकते हैं। परन्तु जहाँ छायावाद शब्द का व्यवहार केवल उस

---

१. 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध'– रहस्यवाद – जयशंकर प्रसाद।

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य।

३. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'—नामवर सिंह, पृ० ३५।

४. 'छायावाद-युग'—शंभूनाथ सिंह, पृ० ७०—"छायावाद-युग की आध्यात्मिक रंग में रँगी कविता की प्रधान धारा रहस्यवाद है।"

५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५८२ और ५८३।

"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है।××××छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

काव्यशैली के लिए ही होता है जो कि द्विवेदी-युग की नीरस इतिवृत्तात्मकता के विरोध में अपनाई गई थी और जिसमें स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की प्रतिष्ठा प्रतीक-योजना और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के आधार पर की गई थी, वहाँ छायावाद और रहस्यवाद अलग-अलग हैं। वस्तुतः इन छायावादी कवियों की ही प्रवृत्ति, छायावाद की और विशेषताओं के साथ, रहस्यवाद की ओर भी रही है; ठीक उसी तरह जिस तरह अंग्रेजी काव्य के रोमाण्टिक कवियों में रोमाण्टिक विशेषताओं के साथ-साथ रहस्यवादी प्रवृत्ति भी थी। किन्तु यह भी आवश्यक नहीं कि छायावाद में सर्वत्र, अव्यभिचारी रूप से, रहस्यवाद हो ही। छायावादी काव्य बिना रहस्यवाद के भी हो सकता है। उदाहरण के लिए प्रसाद जी के स्कन्दगुप्त नाटक के प्रथम अङ्क का यह गीत देखा जा सकता है। इसमें संभोग श्रृंगार की पूर्वानुभूत विविध सुखप्रद चेष्टाओं का वर्णन छायावादी शैली में गूढ़ प्रतीकात्मकता और गहरी लाक्षणिकता के साथ किया गया है। वर्ण्य-विषय स्थूल और लौकिक ही है—

मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निःश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी॥
मैं व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बंदी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला लहरी में मेरे सुख को माप रहा॥

× × ×

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी खड़ा मैं चकित रहा॥
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से॥
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन क्षितिज तट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना॥

स्कन्दगुप्त, पृ० १८।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्ध, 'काव्य में रहस्यवाद', में एक स्थान पर 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' का समान अर्थ में प्रयोग किया है।[1] वहाँ, निःसन्देह, छायावाद शब्द का प्रयोग उस पहले अर्थ में किया गया है

---

१. चिन्तामणि, भाग २—काव्य में रहस्यवाद, पृ० १५४—'छायावाद या रहस्यवाद'।

जिसका उल्लेख उनके 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' के उद्धृत अंश में किया गया है। छायावाद और रहस्यवाद शब्दों की व्याख्या, परिभाषा और उनके परस्पर भेद के सम्बन्ध में समीक्षकों में बड़ा मतभेद है। रहस्यवाद पर भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों पर विचार करते हुए अगले प्रकरण में दोनों का स्पष्टीकरण किया जायगा। अभी हम, अपने प्रकृत-विषय, रहस्यवाद के स्वरूप-निरूपण पर आते हैं।

रहस्यवादी काव्य की मूल विशेषता कवि की परोक्ष के प्रति जिज्ञासा, भाव के द्वारा उस परोक्ष सत्ता का आभास देखना, उसके प्रति असीम वेदना और उससे तादात्म्य की अनुभूति है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक और हिन्दी की छायावादी प्रवृत्ति के भीतर इस भावना का उदय जिस बाह्यार्थ-प्रधानता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ उसमें चित्तवृत्ति बाह्य जगत् की ओर से हटकर 'अहं'-विशिष्ट हो गई। दर्शनों की बौद्धिक क्रिया के द्वारा परोक्ष सत्ता के जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है वह अपूर्ण है। एडवर्ड कारपेन्टर ने 'शब्द-बोध' की प्रणाली को अज्ञान की प्रणाली कहा है।[1] भारतीय दर्शनों में भी परम तत्त्व को बुद्धि और तर्क से परे बताया गया है।[2] भाव की गंभीर दशा में अथवा ब्लेक के शब्दों में कवि-कल्पना द्वारा उस परोक्ष-ज्ञान की उपलब्धि स्वानुभूति (Intuition) के द्वारा होती है। इस स्वानुभूति की वैयक्तिकता के कारण ही रहस्यवाद अहं-परक है। महेन्द्रनाथ सरकार ने भी रहस्यवाद की इस स्वानुभूति-परक परोक्ष-ज्ञानोपलब्धि को माना है जिसे, जैसा कि वे कहते हैं, आत्मा अपनी आन्तरिक उड़ान में प्राप्त करती है।[3] आत्मा अपनी आन्तरिक उड़ान में व्यक्त और दृश्य का सम्बन्ध अव्यक्त और अदृश्य के साथ कराती है जो कि रहस्यवाद की एक सर्वसम्मत विशेषता है।[4] आत्मा की आन्तरिक उड़ान में स्वानुभूति

---

१. Civilization : its Causes and Cure.

२. नैषा तर्केण मतिरापनेया।—कठ० १।२।९।

३. देखिए—'Hindu Mysticism', P. 22.
"Mystic sm is an intuitive approach to truth rather than rational and discursive. ××× mysticism seeks it through the inward flight of the soul."

४. Encyclopaedia of Religion and Ethics—
It is one of the axioms of mysticism that there is a correspondence between the microcosm and macrocosm, the seen and the unseen worlds.

अथवा कवि-कल्पना द्वारा जिस परोक्ष-ज्ञान की उपलब्धि होती है वह व्यक्तिगत होने के कारण रहस्यमय होता है। उसका पूर्णतया वर्णन नहीं किया जा सकता, गूँगे के गुड़ की तरह वह अनिर्वचनीय होता है। मनोवृत्ति की चञ्चलता[1] के कारण यह ज्ञान क्षणिक होता है। इसमें शरीर-व्यापार का अभाव और केवल मानसिक सक्रियता होने के कारण, अथवा वेद्यान्तर के तिरोभाव के कारण, यह 'निष्क्रिय' कहलाता है।[2]

परोक्ष के लिए आत्मा की यह जिज्ञासा और उस तत्त्व से एकतान होने की उत्कट कामना देश-काल-निरपेक्ष भाव से सर्वत्र पाई जाती है और उसका स्वरूप सर्व-सामान्य अनुभूति-गम्य है। सांस्कृतिक परिवेश की भिन्नता के कारण विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में इसके ऐसे विशिष्ट (Sectarian) रूप भी प्राप्त होते हैं जिनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। परन्तु सब में एक तात्त्विक अभिन्नता भी रहती है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी-साहित्य के ब्लेक और कबीर को लिया जा सकता है। दोनों ही साम्प्रदायिक रहस्यवादी हैं। ब्लेक का रहस्य-वाद 'दिव्य-कल्पना-वाद' पर आधारित है और कबीर का अन्तर्मुखी यौगिक साधनाओं पर। परन्तु परोक्ष ज्ञान की उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में तात्त्विक अन्तर नहीं है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में जो रहस्यवाद उपलब्ध होता है उसपर भारतीय दर्शनों की रहस्य भावना, मध्य-कालीन निर्गुण-पंथी काव्य तथा पाश्चात्य रहस्यवादी काव्य का सम्मिलित प्रभाव पड़ा है। उपनिषदों में तो रहस्यवाद की प्रायः समस्त सामग्री सुनियोजित रूप में मिल जाती है।[3] उस एक अद्वैत तत्त्व—जिसका प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है—के भावात्मक आभास और उसके प्रति गंभीर वेदना की प्रेरणा देने के लिए मध्यकालीन संतों और सूफियों के काव्य में पर्याप्त सामग्री है। हाँ, आधुनिक काल में अंग्रेजी कवियों के रहस्य-वाद का ज्ञान होने के कारण रहस्यवादी काव्यधारा प्राच्य और पाश्चात्य दोनों का सुन्दर समन्वय करके चली। इस समन्वय से आधुनिक रहस्यवादी काव्य-

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।—गीता, ६।३५।
२. 'सूरदास'—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५० और ५१।
३. Royce—'World and the Individual', P. 156.
"The Upanishads contain already essentially the whole story of the mystic paths."

धारा ने अपना जो रूप-विधान किया वह मध्ययुगीन संतों के रहस्यवाद से भिन्न है।

मध्ययुगीन रहस्यवाद में जिस सम्प्रदाय-गत साधना का संनिवेश है वह आज के रहस्यवाद में बिल्कुल नहीं है। आज का रहस्यवाद अपनी विशुद्ध वैयक्तिकता के कारण गीतात्मक है अर्थात् परोक्ष अनुभूति के कारण कवि-हृदय में उठनेवाली तीव्र संवेदनाओं के प्रबल उद्गार के कारण इसमें गीति-काव्य की विशेषताएँ आ गई हैं। कबीर में भाव-प्रधान गीतात्मकता के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार की विशेषता है।[1] अतः आज का रहस्यवाद भावानुभूति-प्रधान है और उसकी शैली गीतात्मक है। निर्गुण-पंथ का रहस्यवाद प्रत्यक्ष रूप में धार्मिक साधना को लक्ष्य बनाकर चला है। दार्शनिक और धार्मिक प्रभाव के कारण उन पुराने रहस्यवादी कवियों में गोचर जगत् की अवहेलना का भाव तथा ईश्वर के समक्ष अपनी दीनता[2] का भाव है। नए रहस्यवाद में न गोचर की उतनी उपेक्षा ही है[3] और न उस प्रकार की दीनता ही। इसनें व्यक्ति को महत्त्व दिया गया है।[4] पुराने सन्त कवि अपनी जगत्-पराङ्मुखता के कारण सन्तोष का अनुभव करते थे। परन्तु आज के रहस्यवादी कवियों में, इसके विपरीत, बाह्य परिवेश की विषमता के कारण एक प्रकार का तीव्र असन्तोष है।[5] आज के रहस्यवाद में छायावादी परिष्कार के कारण सौन्दर्य और प्रेम की भावना अधिक संवेग, व्यापक और गहरी है।

आज के रहस्यवाद में आध्यात्मिक प्रेम एक प्रमुख विशेषता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मध्यकालीन सन्तों और सूफियों, दोनों ने ही, अव्यक्त परोक्ष-सत्ता को प्रियतम के रूप में स्वीकार करके उसके प्रति तीव्र वेदना की

---

१. महादेवी वर्मा—यामा (तृतीय संस्करण) की भूमिका, पृ० ७।
"कबीर के रहस्य-भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिकतर उनके विचार ध्वनित होते हैं, भाव नहीं जो गीत का विषय हैं।"

२. प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर।
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर—पंत।

३. उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन?
उनमें अनन्त करुणा है मुझमें असीम सूनापन।—महादेवी।

४ 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'—नामवर सिंह, पृ० ४४।

५. ,, ,, ,, ,, पृ० ३८।

विवृति की है। उस सत्ता के साथ आत्मैक्य की दशा को उन्होंने आध्यात्मिक विवाह कहा है। आध्यात्मिक प्रेम और विवाह की यह भावना ईसाई रहस्य-भावना में भी प्रचलित थी।[1] आज के रहस्यवाद में भी परम, परोक्ष सत्ता को प्रियतम की भावना से गृहीत किया जाता है। आज के रहस्यवादी कवियों में यह भावना महादेवी वर्मा में सबसे अधिक है।[2]

आज के रहस्यवाद में पाश्चात्य मानवतावाद के सिद्धान्तों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इस मानवतावाद का उदय १९वीं शताब्दी की अति-भौतिकता के विरोध में हुआ था। आज के संघर्ष-प्रधान आर्थिक-युग में द्वेष, ईर्ष्या, कलह, संघर्ष आदि दुर्वृत्तियों ने मानवता को खण्डित कर दिया है। आज के रहस्यवादी ने प्रेम और सद्वृत्तियों के एकान्त प्रसार द्वारा असद् वृत्तियों का उन्मूलन करना चाहा और प्रेम के द्वारा अखण्ड मानवता की उपासना की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस भावना की अभिव्यक्ति की है।[3] प्रसाद जी ने भी यही भावना प्रकट की है।[4] साथ ही साथ इसमें संघर्ष से पलायन की वृत्ति भी है।[5] वर्तमान विषमताओं का परिहार करके एक आदर्श भविष्य की कल्पना भी आज के रहस्यवाद में है; परन्तु वह भविष्य है अत्यन्त धूमिल और रहस्यमय लोक में।[6] कामायनी में श्रद्धा के द्वारा मनु को जिस अखण्ड आनन्द की अनुभूति कराई गई है वह एक अपार्थिव लोक में ही होती है। पन्त को भी लौकिक जगत् की अपेक्षा कोलाहल से दूर, कहीं नीरव शान्त स्थान में ही, शान्ति-लाभ हुआ। यह पलायन की प्रवृत्ति वर्ड्सवर्थ के 'The world is too much with us' के भाव से बहुत कुछ साम्य रखती है।

---

१. देखिए—प्रथम परिच्छेद—शीर्षक 'ईसाई धर्म में'।

२. मुस्काता संकेत भरा नभ क्या प्रिय आनेवाले ही हैं।—यामा, पृ० १७९।

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य।

"सौन्दर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एकमात्र आकाङ्क्षा है।"

४. घने प्रेम तरु तले, बैठ छाँह लो भव आतप से तापित और जले।

—स्कन्दगुप्त।

एक बार इस जले जगत् को वृन्दावन बन जाने दो।

५ ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।—प्रसाद।

६. आतप-तापित जीवन सुख की शान्तिमयी छाया के देश।
हे अनन्त की गणना देते तुम कितना मधुमय सन्देश॥

—प्रसाद, कामायनी।

आधुनिक हिन्दी रहस्यवादी काव्य का एक और विशेष गुण प्रकृति की ओर उसकी विशेष दृष्टि है। मनुष्य के भावात्मक प्रसार के साथ प्रकृति का सम्बन्ध बहुत पुराना है। परन्तु उसकी चेतना पर भौतिक सभ्यता के कृत्रिम आवरण ज्यों-ज्यों अधिकाधिक चढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों वह प्रकृति से दूर होता चला जाता है। अंग्रेजी की रोमाण्टिक काव्यधारा में वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति की ओर वापिस जाने का (Back to Nature) संदेश सुनाया। उसने प्रकृति को अन्तश्चेतना से अनुप्राणित देखा। उसके प्रकृति-चित्रण में सर्ववाद (Pantheism) की झलक है। भारतीय हृदय में प्रकृति के प्रति सच्चे अनुराग-पूर्ण जो हार्दिक भाव पहले रहा करते थे और जिनकी अभिव्यक्ति पुराने संस्कृत काव्य में मिलती है उनके संस्कार मध्ययुग में बहुत कुछ लुप्त हो गए थे। वर्ड्सवर्थ, शेली, मेरेडिथ आदि रोमाण्टिक कवियों के संसर्ग से मानो वे पुराने प्रसुप्त भाव फिर जाग उठे। आज के रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति के भीतर एक अन्तश्चेतना (Spirit का दर्शन किया है। प्रकृति के उपादानों में परोक्ष-सत्ता के आभास को देखने की प्रवृत्ति की प्रेरणा मध्ययुगीन सूफी काव्य से भी मिली है। यह अन्तश्चेतना सर्ववाद का ही रूप है। असीम और ससीम का समन्वय प्रकृति ही करार्ती है।[1] प्रकृति के भिन्न प्रतीत होने-वाले झीने परदे के पीछे एक व्यापक तत्त्व छिपा है।

प्रकृति के व्यक्त क्षेत्र की ओर यह जो भावात्मक दृष्टिकोण है वह, विज्ञान के द्वारा हमारी ज्ञान-परिधि के विस्तार के कारण, कुछ अधिक जिज्ञासामय हो गया है। आज विज्ञान के द्वारा प्रकृति के अनेक क्षेत्र, अनेक तथ्य, अनेक नियम उद्घाटित होकर हमारे सामने आ चुके हैं। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान अधिक बढ़ता जाता है त्यों-त्यों हमें हमारे अज्ञान की विशालता का अनुभव भी होता जाता है और अनेक प्रकार की नव-नव जिज्ञासाएँ हमारे कौतूहलमय मानस में भरती चली जाती हैं तथा साथ ही हमारी आकुलता भी बढ़ती चली जाती है।[2]

---

१. महादेवी वर्मा—यामा, तृतीय संस्करण, पृ० ८।

"जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया एक छोर असीम और दूसरा ससीम हृदय में समाया था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व को लेकर जाग उठा।"

२ प्रसाद—कामायनी—

आज का रहस्यवाद वैज्ञानिक युग के बुद्धिवाद का विरोध भी करता है। प्रकृति को बराबर जीतने की कामना, बुद्धि के बल पर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने का अभिमान, यंत्र-कौशल के अधिकाधिक विस्तार से अतिमानवीय शक्ति का संचय करने की दुराशा आदि सभी विज्ञान-युग की प्रवृत्तियाँ अनर्थकारी हैं।[1] कामायनी में इनका दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है। श्रद्धा (हृदय की समस्त सद् वृत्तियों का सामुदायिक रूप) ही जीवन की पूर्णता प्राप्त करा सकती है। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने भी 'युगपथ' की 'बापू के प्रति' कविता में वैज्ञानिक बुद्धिवाद से ग्रस्त मनुष्य की 'मंगल शशि-लोलुपता' का तिरस्कार करके महात्मा गांधी द्वारा प्रतिष्ठित सर्व-मानव-वाद का पोषण किया है।[2]

संक्षेप में, आज के रहस्यवाद में ये ही विशेष-विशेष प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। इन सबका समाहार करके हम इस प्रकार कह सकते हैं कि रहस्यवाद के अन्तर्गत कवि की दृष्टि प्रत्यक्ष जगत् से हटकर परोक्ष की ओर हो जाती है और परोक्ष की ओर उसकी यह प्रतिपत्ति भावनामयी होती है। प्रकृति के प्रति हृदय का सच्चा अनुराग, लौकिक विषमताओं से परे किसी रहस्यमय अज्ञात देश में शान्ति-लाभ करने की कामना, मानवतावादी दृष्टिकोण से परम आनन्दमय आदर्श की कल्पना, बौद्धिक विज्ञानवाद का विरोध, आदि इसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। ये समस्त रहस्यात्मक आभास बौद्धिक क्रिया द्वारा नहीं, अपितु स्वानुभूति (Intuition) द्वारा प्राप्त होते हैं तथा 'गूँगे के गुड़' की तरह अनिर्वचनीय तथा अर्हंविशिष्ट होते हैं। इसकी प्रेरणा के स्रोत भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही हैं।

(ख) कलापक्ष

हिन्दी का आधुनिक रहस्यवादी काव्य जिस प्रकार काव्य-वस्तु की दृष्टि से अपनी निजी विशेषताएँ रखता है उसी प्रकार उसकी अभिव्यंजन-शैली भी अपनी निजी है। मध्य-युग का रहस्यवादी काव्य—निर्गुण-पंथ की ज्ञानाश्रयी

हे अनन्त ! रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता।

१. प्रसाद—कामायनी का आमुख—
"फिर बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना कितना स्वाभाविक है।"

२ "जड़वाद-जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान्।"

और प्रेममार्गी शाखाओं का काव्य वस्तु की दृष्टि से रहस्यवादी था; परन्तु उसकी प्रकाशन-शैली स्थूल अलंकार-प्रधान ही थी। यद्यपि वे सन्त और सूफी कवि अलंकारों में अन्योक्ति या समासोक्ति का ही, जिनमें उपमेय या उपमान—एक न एक पक्ष का अभाव रहता है, आश्रय अधिक लेते थे, तथापि उसमें अलंकार-योजना की आधारभूत स्थूलता का अपलाप नहीं हो पाता था। पहेलियों की तरह का अर्थ-विन्यास और सन्ध्या-भाषा का प्रयोग, वाणी में चमत्कार के साथ, विषय के अनुरूप, दुरूहता को भी उत्पन्न कर देता था। आधुनिक रहस्यवाद की अभिव्यंजना-प्रणाली तथा काव्य के कलापक्ष सम्बन्धी अन्य विधान सर्वथा भिन्न हैं।

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक रहस्यवाद छायावादी काव्य की एक प्रवृत्ति-विशेष है। अतः, वास्तव में, इसका कलापक्ष, न्यूनाधिक, छायावादी काव्य का ही कलापक्ष है। हिन्दी के रीति-बद्ध काव्य की प्रतिक्रिया में जो स्वच्छन्दतावादी (Romantic) प्रवृत्ति श्रीधर पाठक के काव्य में दिखाई देती है उसके अन्तर्गत स्वाभाविक रहस्य-भावना का प्रकाशन अत्यन्त सीधी-सादी और सुबोध शैली में ही हुआ। उसका एक नमूना पाठक जी की 'स्वर्गीय वीणा' की इन पंक्तियों में मिल सकता है—

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥—स्वर्गीय वीणा।

परन्तु दूसरी ओर द्विवेदी जी के प्रभाव से काव्य में जिस नितान्त नीरस इति-वृत्तात्मकता का प्रचार हो रहा था उसकी स्थूलता की त्वरित प्रतिक्रिया लेकर छायावाद सामने आया और उसने अपनी सूक्ष्म-प्रधानता का विस्तार किया। आज का रहस्यवाद इसी नवीन शैली में, नए उपादानों के साथ, प्रकट हुआ है।

आधुनिक रहस्यवाद को व्यक्त करनेवाली भाषा चित्रमयी है। भाषा की इस चित्रमयता का सम्पादन प्रतीक (Cymbol) योजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रतीकों की गम्भीर सांकेतिकता, नूतन अलंकार-विधान और नवीन गीतात्मक छन्द-योजना के द्वारा किया गया है। इस युग में छायावाद के अन्तर्गत भाषा का एक अभूतपूर्व परिष्कार हुआ है। भावावेश की गहरी संवेदना की प्रबल व्यंजना, लाक्षणिकता, वचनभंगी की वक्रता, कोमल-कान्त पद-शय्या आदि गुणों का अत्यन्त सुन्दर विकास इस युग में हुआ। भारतीय काव्य में लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का अधिक विकास किया गया था। योरोपीय भाषाओं में लक्षणा शक्ति का चमत्कार अधिक है और इसी कारण उक्ति की रुचिर वक्रता तथा अर्थ-

प्रकाशन की आकर्षक विविधता उन भाषाओं में अधिक रही है। वहाँ का अलंकार-विधान भी—विस्तार में सीमित होकर भी, लक्षणा-गर्भित होने के कारण—अधिक आकर्षक है। इस युग की नवीन काव्यभाषा पर अंग्रेजी की इस विशेषता का बहुत प्रभाव पड़ा। कहीं-कहीं तो अंग्रेजी की लाक्षणिक पदावलियों का बिल्कुल शब्दानुवाद ही करके रख दिया गया है।[1] स्वभाव से ही मधुर, कोमल और ललित वंग-भाषा के अनुकरण पर श्रुति-रंजक, मनोहर पदशय्या का विन्यास भी आज की भाषा में बहुत अधिक उपलब्ध होता है।[2] आधुनिक रहस्यवादी कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त की भाषा में लाक्षणिकता का गुण सब से अधिक मिलता है। आज के रहस्यवाद की भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्द, अधिकांश, असंयुक्त और छोटे-छोटे ही होते हैं। कठिन तत्सम शब्दों की रुचि इन रहस्यवादी कवियों में नहीं है। परन्तु ये सामान्य और छोटे-छोटे, दो या तीन अक्षरोंवाले शब्द भी इस कौशल के साथ प्रयुक्त किए जाते हैं कि अर्थ की रुचिरता का एक अभिनव द्वार खोलते हुए से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए दो-एक पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

झंझा-झकोर, गर्जन है, नीरद है बिजली-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने है डेरा डाला।

—आँसू—प्रसाद, पृ० १५।

हँस पड़े कुसुमों में छविमान जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत।
वहीं सुख में आँसू बन प्राण, ओस में लुढ़क दमकते गीत॥

—गुंजन—पंत, पृ० १०८।

पीड़ा मेरे मानस में भीगे पट सी लिपटी है।—महादेवी—यामा, पृ० २६।

निराला जी ने अपने जीवन का आरम्भिक भाग बंगाल में व्यतीत किया था। अतः वंग भाषा के प्रभाव से निराला जी की भाषा में संधि-समास की जटिलता और, कहीं-कहीं, दूरान्वय दोष आ गया है—

---

१. उदाहरण के लिए—

गद्यमय जीवन=Prosaic life, सुवर्ण-स्वप्न=Golden dream, स्वप्निल आभा=Dreamy splendour, कनक-प्रभात=Golden morn, आदि-आदि।

२. पपीहे की वह पीन पुकार, निर्झरों का भारी झर झर।
झींगुरों की झीनी झनकार, घनों की गुरु गंभीर घहर
बिन्दुओं की छनती छनकार, दादुरों के वे दुहरे स्वर।

आधुनिक कवि पंत, पृ० १९।

दिवसावसान का समय–मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।—सन्ध्या–अपरा०, पृ० १२।

कहीं क्रिया का अनुसंधान कठिन हो जाता है—

"झर झर झर निर्झर गिरि सर में,
घर मरु, तरु-मर्मर, सागर में।
सरित्-तड़ित-गति-चकित-पवन में,
आनन आनन में रव घोर कठोर,
राग अगर! अम्बर में भर निज रोर।
बादल-राग—परिमल, पृ० १४६।

ऊपर उद्धृत पदों में, प्रसाद की पंक्तियों में, नादानुकृति के कारण एक प्रकार की संवेदन-शीलता है, पंत की ललित पद-शय्या पर, मानों, उनका मर्म खुला जा रहा है; महादेवी की पदावली कोमल वेदना के अनुरूप है, और निराला की पुरुषजनोचित परुष महाप्राणता उनके संधि-समास के गुम्फन से प्रकट हो रही है।

भाषा में भावावेश की आकुल-व्यंजना की अनुरूपता लाने के लिए पंत ने क्रियापदों और लिंग-भेद में, कहीं कहीं मनमानी काट-छाँट की है; परन्तु इससे भाषा की दुर्बोधता ही बढ़ी है—

हों कर्म-निरत जन, राग विरत; रति-विरति-व्यतिक्रम-भ्रम-ममता।
प्रतिक्रिया-क्रिया साधन अवयव है सत्य सिद्ध गति-यति-क्षमता।
पंत—बापू के प्रति–युगपथ, पृ० ६२।

लिंग-व्यवस्था में भी पन्त ने उलट-फेर किया है—

हृदय **के** सुरभित साँस (पुंल्लिंग प्रयोग है)—पंत—पल्लव, पृ० ४।

अथवा अरुण अधरों **की** पल्लव प्रात (स्त्रीलिंग-प्रयोग?)

सौन्दर्य की सुकुमार भावना के कारण पंत ने 'अप्सरा' को 'अप्सरी' करके द्विगुणित स्त्रीत्व की कल्पना की है। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन प्रसाद जी ने भी किया है—

खिले फूल सब **गिरा दिया है**। (स्कन्दगुप्त, पृ० १५)

ऊर्जस्वित था वीर्य अपार। (कामायनी, पृ० १५)

पंत में लाक्षणिकता के रुचिर विधान का आग्रह आरंभ से ही रहा है। उनकी 'वीणा' के कुछ सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल **चुम्बन उलझाया**। (पंत—वीणा, पृ० १४)

× × × ×

अन्धकार का **अलसित अंचल** अब द्रुत ओढ़ेगा संसार। (वीणा, पृ० ३८)

× × × ×

जहाँ स्वप्न **सजते शृंगार**। वीणा, पृ० ५२)

नेत्रों की दीर्घता तथा गीत का सुरीलापन लक्षणा के द्वारा अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुए हैं—

कान से मिले अजान नयन × × अधूरा उसका लचका गान।
(उच्छ्वास की बालिका) पल्लव, पृ० ४।

× × × ×

प्राणों की मर्मर से **मुखरित** जीवन की मांसल हरियाली।
(पतझर—युगपथ, पृ० ११)

प्रसाद जी ने भी अपने चित्रों नें लक्षणा द्वारा अमूर्त भावनाओं को मूर्त बनाने की चेष्टा की है—

जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं,
मुख धोती शीतल जल से। (आशा—कमायनी, पृ० ३१)

× × × ×

जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार-बार जाती सोने।
(आशा—कमायनी, पृ० ३१)

खुलीं उसी रमणीय दृश्य में **अलस चेतना की आँखें**
(आशा—कामायनी, पृ० ४३)

'आँसू' में भी इसी प्रकार के सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग हैं—

ईंधन होता दृग-जल का।—आँसू, पृ० १०।
किसने सुख को **ललकारा**?—आँसू, पृ० ११।
अभिलाषाओं की **करवट** फिर **सुप्त** व्यथा का **जगना**,
सुख का **सपना हो जाना भींगी** पलकों का **लगना**।
(आँसू, पृ० ११)

निराला का लाक्षणिक वैचित्र्य निराला ही है—

हँसता है नद खल् खल्, बहता, **कहता** कुलकुल कलकल,
चौंक, चमक, छिप जाती विद्युत्। व्याकुल श्यामा के **अधरों की प्यास**

शशि छवि विभावरी में **चित्रित** हुई है देख यामिनीगन्धा **जगी**।
(परिमल, पृ० १५०)

महादेवी वर्मा के लाक्षणिक प्रयोग भी बड़े रमणीय और ललित हैं—
उषा के छू आरक्त कपोल, **किलक पड़ता** तेरा उन्मन। (यामा, पृ० ६३)

× × ×

रैन **बोली सज** कृष्ण दुकूल विसर्जन करो मनोरथ फूल।
(यामा, पृ० १८)

× × × ×

इसमें स्मृतियों **की कंपन सुप्त** व्यथाओं का **उन्मीलन**। (यामा, पृ० ६७)

इसी प्रकार आज के रहस्यवादी काव्य की भाषा लाक्षणिकता से भास्वर है। लाक्षणिकता के इस चटकीले प्रयोग ने एक तरफ़ तो भाषा को अत्यन्त चित्रमय बनाया, अभिव्यक्ति में अत्यन्त सुन्दर परिष्कार करके उसे सूक्ष्मता प्रदान की, और दूसरी ओर, स्वभावतः रहस्यमय और सूक्ष्म वस्तु को अपने झिलमिलाते रमणीय आवरण में परिवेष्टित करके और भी स्वप्निल, धूमिल और अस्पष्ट कर दिया। गहरी सांकेतिकता के कारण रहस्यवादी काव्य सामान्य पाठकों के लिए जटिल और दुर्बोध भी हो गया।

रहस्यवादी काव्य की भाषा की चित्रमयता प्रतीक-योजना और अप्रस्तुत-विधान के द्वारा भी सम्पन्न होती है। प्रतीक-योजना की पद्धति अंग्रेजी के रहस्यवादी काव्य में सर्वप्रथम ब्लेक और ईट्स द्वारा प्रवर्तित की गई थी। वंग-साहित्य में इसका समावेश कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं द्वारा हुआ। प्रतीकों का उद्गम ईसाई रहस्यवाद के अन्दर ही हुआ, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।[1] दैवी आभास के रूप में जो आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध होता था उसे प्रकाशित करनेवाले लौकिक प्रतीकों का संकेत भी, उसी आभास के साथ ही, मिल जाया करता था; और उन्हीं प्रतीकों के माध्यम से उस दिव्य-ज्ञान की अभिव्यक्ति होती थी। ब्लेक और ईट्स के ये प्रतीक अत्यन्त दुर्बोध सांकेतिकता और दूरारूढ़ कल्पना से आवृत रहते थे। हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी काव्य में भी, इसी के अनुकरण पर, गूढ़ प्रतीकों का प्रयोग चल निकला।

काव्य के विभाव अथवा कलापक्ष में अप्रस्तुतों का प्रयोग बराबर किया जाता है। ये अप्रस्तुत या उपमान साम्य के आधार पर नियोजित किए जाते हैं।

---

१. यही पुस्तक—ईसाई रहस्यवाद (प्रथम परिच्छेद)।

साम्य दो प्रकार का माना जाता है—सादृश्य = रूप या आकार गत और साधर्म्य = गुणगत या क्रियागत। उपमानों के नियोजन का यह आधार स्थूल है। इनकी स्थूलता की तह में इनके उपादान का सूक्ष्म कारण भी अन्तर्हित रहता है। वास्तव में, बाह्य साम्य के आधार पर रक्खे जानेवाले अप्रस्तुत हमारी भाव-बोध और सौन्दर्य-बोध की क्षमता में प्रस्तुत पक्ष के अभिलषित-मर्म को ग्रहण करने की दृष्टि प्रदान करते हैं। अप्रस्तुत-योजना का मूल-मर्म यही है। अच्छे कवि अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि से ऐसे ही अप्रस्तुतों का विधान करते हैं। हाँ, शास्त्र-पक्ष का जब अतिशय पालन होने लगता है तब, अवश्य, कवियों की यह दृष्टि कुछ कुण्ठित हो जाती है और परम्परा—अपितु अन्ध-परम्परा—के अनुसार ही उपमानों की योजना होने लग जाती है। अस्तु, आधुनिक रहस्यवादी काव्य में अप्रस्तुत-पक्ष की योजना प्रभाव-साम्य के आधार पर की गई। कहीं-कहीं, सूक्ष्मता पर अधिक दृष्टि रहने के कारण, बाहरी समानता का आधार-सूत्र अत्यन्त क्षीण हो गया है और उसका सहारा लेकर मूल अर्थ तक पहुँचने में बाधा भी पड़ती है। अत्यन्त सूक्ष्म साम्य के आधार पर लाए गए ऐसे उपमान ही प्रतीक, चिह्न या उपलक्षण, कहलाते हैं। सुख, आनन्द, यौवन आदि के स्थान पर उषा, प्रभात, मधुकाल का प्रयोग मन में वैसे ही प्रभाव को उत्पन्न करता है जैसा उन मूल वस्तुओं के द्वारा सम्पन्न होता है। प्रतीक-योजना की यह प्रणाली आज के रहस्यवादी काव्य में बहुत अधिक प्रचलित है। बहुत से प्रतीक तो प्रायः सर्व-सम्मत रूप में प्रचलित हो गए हैं; जैसे प्रिया के लिए मुकुल या या कली, प्रेमी के लिए मधुप या कहीं, प्रसंगानुकूल मलयानिल, शुभ्र के लिए कुन्द अथवा रजत, माधुर्य के लिए मधु, दीप्ति या कान्ति के स्थान पर सुवर्ण, अस्पष्ट धुँधले रहस्याभास के लिए स्वप्न या स्वप्निल, मन के कोमल भाव के लिए लहर, विषाद के लिए अन्धकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया आदि, विक्षोभ के लिए झंझा, आदि-आदि अनेकानेक प्रतीक आधुनिक रहस्यवादी काव्य में प्रचलित हो गए हैं। वस्तु की सूक्ष्मता और रहस्यमयता को सम्पन्न करने में प्रतीकों का भी बड़ा हाथ रहता है। सूक्ष्म प्रतीकों के प्रयोग की यह पद्धति रहस्यवादी काव्य में बराबर बढ़ती गई। पन्त ने अपनी रचनाओं के तीसरे चरण में रहस्यवाद का जो नूतन विकास किया है उसमें अत्यन्त गहरे संकेतोंवाले प्रतीकों का प्रयोग उन्होंने किया है। प्रतीक-योजना की यह परम्परा, कुछ परिवर्तित रूप में, प्रयोगवादी काव्य में बराबर चल रही है।

रहस्यवादी कवियों में बालक को पवित्र, मुग्ध और निष्कल्मष ईश्वरीय भाव के प्रतीक-रूप में ग्रहण करने की परम्परा बहुत अधिक प्रचलित है। इसका

आधार बाइबिल की वह उक्ति है जिसमें बालकों के स्निग्ध-मुग्ध हृदय को ईश्वर का राज्य कहा गया है।[1] ब्लेक और वर्ड्सवर्थ ने भी प्राकृतिक और पवित्र जीवन का प्रतीक बालकों को ही बनाया है। पन्त ने तो हृदय की व्यथा-भरी उच्छ्वास और आँसू को बालिका का मूर्तिमान् स्वरूप ही दे दिया है।[2]

पंत ने प्रतीक रूप में बालक का ग्रहण और भी अधिक किया है—

बालक के कंपित अधरों सी। (पल्लविनी, पृ० ३)

'आँसू की बालिका' का माधुर्य कैसे सुन्दर प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया गया है—

'एक वीणा की मृदु झंकार'। (आधुनिक कवि पंत, पृ० ११)

'झंझा में नीम' सांस्कृतिक हलचलों में पड़ा हुआ आज का अस्त-व्यस्त मानव है। 'उत्तरा' के 'स्वर्ण', 'स्वर्णिम ज्योति', 'ज्योति-विहंग' आदि प्रतीक अभिनव अध्यात्म-शक्ति के प्रतीक हैं।

प्रतीक-पद्धति को प्रसाद जी ने भी सुन्दरता के साथ ग्रहण किया है। मुरली उस अन्तर्नाद का प्रतीक है जो अध्यात्म से सम्बन्ध रखता है—

वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा।—कामायनी, पृ० ८५।

× × × ×

जैसे कुछ दूर बजे वंशी—(काम—कामायनी, पृ० ७६)

'आँसू' की इस पंक्ति में एक साथ कई प्रतीक हैं—

झंझा-झकोर, गर्जन है, नीरद है बिजली-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने है डेरा डाला।—आँसू, पृ० १५।

'आँसू' का यह प्रतीक भी बड़ा रमणीय है—

विष-प्याली जो पी ली थी वह मदिरा बनी नयन में,
सौन्दर्य पलक प्याले का अब प्रेम बना जीवन में।—आँसू, पृ० ३२।

निराला जी की प्रतीक-योजना भी बड़ी व्यंजक है। 'जूही की कली' मुग्धा नायिका का उपलक्षण बनकर ही आई है। मानव के परम गन्तव्य का वर्णन निराला जी ने अत्यन्त सुन्दर प्रतीकों के द्वारा किया है—

वहाँ नयनों में केवल प्रात चन्द्रज्योत्स्ना ही केवल गात,

---

१. Whosoever shall not receive the kingdoms of god.
Mark X 15.

२. उच्छ्वास की बालिका, आँसू की बालिका।

रेणु ही छाए रहते पात, मन्द हो बहती सदा बहार।

निराला—परिमल, पृ० ८१।

'तुम और मैं' कविता में 'तुम' और 'मैं' के लिए प्रतीकों की झड़ी ही लगा दी गई है —

तुम मुग्ध-कुसुम कोमल पराग मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष मैं प्रकृति प्रेम जंजीर॥

निराला—अपरा०, पृ० ५८।

महादेवी वर्मा की रचनाओं के क्रमिक नाम विशुद्ध प्रतीकात्मक हैं और उनके आध्यात्मिक जीवन के पूरे इतिहास को प्रकट करते हैं। नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत, दीपशिखा और यामा में क्रमशः लौकिक स्थिति, दिव्य-ज्योति की झलक, पद्मिनी (हृदय) का विकास, विरह-जन्य विषाद, दीप-शिखा सी जलती विरह-वेदना और तादात्म्य के संकेत हैं। रचना के भीतर भी सुन्दर संकेत प्राप्त होते हैं—

स्वर्ग का नीरव उच्छ्वास देववीणा का टूटा तार।—आधुनिक कवि, पृ० १७।

× × × ×

इन्द्र-धनुष सा घन-अंचल में तुहिन-बिन्दु सा किसलय-दल में।

—आ० क०, भाग १, पृ० ३६।

इस प्रकार आधुनिक रहस्यवादी काव्य की भाषा में लाक्षणिकता और प्रतीक-योजना पदे-पदे प्राप्त होती है। इन प्रतीकों में वस्तु को व्यंजित करने के लिए सांकेतिकता रहती है। वर्णन की यह अत्यन्त सूक्ष्म प्रणाली विषय-वस्तु को अव्यक्त रखने में बड़ी सहायक होती है। रहस्य-भावना के मधुर भावावेश को अभिव्यक्त करनेवाले गीत, मानों, इस शैली के स्पर्श से माधुर्य और सौकुमार्य में अवगाहन कर लेते हैं। भाषा की सांकेतिकता यही है क्योंकि इसमें विषय-वस्तु का सीधा वर्णन न होकर उसकी ओर सूक्ष्म संकेत होते हैं। सांकेतिकता के इसी तीव्र प्रभाव के कारण ही रहस्यवादी काव्य में दुर्बोधता आ गई है जो कि सामान्य पाठक की बुद्धि की सीमा से बाहर चली जाती है। प्रसाद, पन्त, निराला आदि कवियों पर भाषा के इस चित्रवाद का ऐसा आकर्षक प्रभाव पड़ा कि इन्होंने शास्त्रीय विवेचन से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी गद्य की रचनाओं में भी इसी शैली का ही प्रयोग किया।

आधुनिक रहस्यवाद जिस छायावादी शैली को अपनाकर चला है उसमें अलंकार-योजना का जैसा सूक्ष्म विधान हुआ है वह एक ऐतिहासिक महत्त्व की

चीज है। प्रतीक-योजना वस्तुतः अलंकार ही है। जैसा कि कह चुके हैं, प्रतीक भी अप्रस्तुत पक्ष के ही उपकरण हैं। फिर भी, अलंकारों के सामान्य प्रचलित रूप का भी इस काव्य में सुन्दर विधान किया गया है। शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों का सद्भाव इसमें मिलता है। अर्थालंकारों में साम्य-मूलक और विरोध-मूलक दोनों प्रकार के अलंकार तो मिलते ही हैं, साथ ही, अंग्रेजी-साहित्य में प्रचलित कुछ अलंकारों, जैसे मानवीकरण (Personification), विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet), नादानुकृत (Onomatopoeia) आदि, को भी प्रयुक्त किया गया है। इस युग की 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' की प्रवृत्ति अलंकार-योजना में भी है। पुराने मूर्त उपमानों की अपेक्षा अमूर्त वस्तुओं को उपमान-पक्ष में स्थान दिया गया है। अलंकारों के विन्यास में, बहुधा, ऐसा कौशल परिलक्षित होता है। मूर्त अमूर्त हो जाता है और अमूर्त मूर्त। कहीं यदि अनुप्रासों द्वारा नाद-सौन्दर्य की मधुर सृष्टि होती दिखाई देती है तो कहीं उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की झड़ी लगी हुई मिलती है। परन्तु इतना होते हुए भी इस काव्य में अलंकारों का वैसा प्रयोग नहीं हुआ है जैसा रीतिकाल में होता था; अर्थात् वे इस रूप में नहीं आते कि केवल शब्दार्थ का चमत्कार उत्पन्न करके मूल-वस्तु को आच्छादित कर लें, अपितु ये अलंकार वस्तु की चारुता को बढ़ाते हैं और वस्तु के अभिलषित रूप-व्यापार को सुन्दर बनाकर प्रस्तुत करते हैं। पंत ने प्रायः भारतीय काव्य-परम्परा की रूढ़ि से बाहर के उपमान ग्रहण किए हैं। मोह, लालसा, आशा आदि सूक्ष्म मनोवृत्तियाँ उपमान रूप में ग्रहण की गई हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान ने अनेक सुन्दर और नवीन उपमानों को पकड़ा है। नीचे रहस्यवादी काव्य में प्रयुक्त होनेवाले अलंकारों में से कुछ के उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

अनुप्रासों का प्रयोग इस काव्यधारा की श्रुतिरंजकता को बढ़ाता दिखाई देता है—

कोमल कपोल पाली में सीधी सादी स्मित रेखा।

(आँसू—प्रसाद) पृ० २२।

कम्पित उनके करुण करों में तारक तारों की सी तान।

(परिमल—निराला) पृ० ३५।

यमक अलंकार भी स्वाभाविक गति से ही आया हुआ प्रतीत होता है—

पास ही रे हीरे की खान। (निराला)।गीतिका, पृ० २७।

जगती जगती की मूक प्यास। (महादेवी) यामा, पृ० १४१।

वीप्सा अलंकार भी अपनी पुनरावृत्ति के द्वारा भाव-सौन्दर्य का साधन करता है—

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर । (पंत) गुंजन, पृ० १०२ ।
उठ उठ री लघु-लघु लोल लहर । (प्रसाद) लहर, पृ० ६ ।

प्रसाद के 'आँसू' का आरंभ ही श्लेष के द्वारा होता है—

जो घनीभूत पीड़ा थी स्मृति सी मस्तक में छाई ।
दुर्दिन में आँसू बनकर है आज बरसने आई ॥—आँसू, पृ० १ ।

इसी तरह के शब्दालंकारों के कारण अभिव्यंजना में सर्वत्र एक ऐसी रमणीयता और सुकुमारता आ गई है जो कि उस विषय की सुन्दरता को बढ़ाती है। आधुनिक रहस्यवादी काव्य में शब्दों का साधारण प्रयोग भी, उनकी कोमलता, श्रुतिसुखदता और भावानुकूलता के कारण, अलंकारमय प्रतीत होता है; फिर जहाँ अलंकार स्वयं आ गए हैं वहाँ तो अभिव्यक्ति की चारुता में एक निश्चित वृद्धि हो ही जाती है।

अर्थालंकारों में मालोपमा की तरह उपमा का प्रयोग होकर बड़ी चारुता उत्पन्न करता है—

तरुवर की छायानुवाद सी, उपमा सी, भावुकता सी ,
अविदित-भावाकुल भाषा सी कटी-छँटी नव कविता सी ,
गूढ़ कल्पना सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय सी ,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी बच्चों के तुतले भय सी ।
(छाया--पंत) पल्लव, पृ० ५६ ।

इसमें जितने भी उपमान रक्खे गए हैं वे सभी अमूर्त भावात्मक सत्ता की वस्तुएँ हैं। ये उपमान, वास्तव में, प्रतीक ही हैं। अत्यन्त सूक्ष्म प्रभाव-साम्य के आधार पर इनका ग्रहण किया गया है। उपमेय-पक्ष का आन्तरिक सूक्ष्म मर्म इन अमूर्तों के द्वारा मूर्त कर दिया जाता है।

रूपक अलंकार के द्वारा भी सुन्दर भाव व्यंजना के चित्र अंकित किए गए हैं—

व्योम-विपिन में नव-वसन्त सा । (पंत—बादल) पल्लव, पृ० १६ ।
विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी । (प्रसाद) कामा०, पृ० ४७ ।
विश्वास-रजत-नग-पद-तल में । (प्रसाद) कामा०, पृ० ११४ ।

व्याजस्तुति —

चिल्लाया किया दूर-दूर दानव ।
बोला मैं 'धन्य श्रेष्ठ दानव' । अपरा०, पृ० १२१ ।

×　　×　　×　　×

ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह करने की मुझको नहीं चाह।

अनामिका—निराला, पृ० १३०

सन्देह—

मद भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं।
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं।

नयन—निराला, परिमल, पृ० ५२

संभावना—

चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।

आँसू—प्रसाद, पृ० २४

विरोध—

शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का।—आँसू, पृ० १०

अन्योक्ति, समासोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार रहस्यवादी वस्तु-वर्णन के अधिक उपयुक्त होते हैं। हिन्दी के पुराने रहस्यवादी काव्य में भी इन अलंकारों का प्रयोग होता था। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तो आरम्भ मे नवीन रहस्यवादी काव्य को 'अन्योक्ति' ही समझते थे।[1] प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों में से किसी न किसी एक पक्ष के निगरण होने के कारण इन अलंकारों से वस्तु के सूक्ष्म-वर्णन में बड़ी सहायता मिलती है—

अन्योक्ति—

हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम।
चूम रहे थे झूम-झूम ऊषा के स्वर्ण कपोल।

× × ×

तुम्हारा इतना हृदय उदार यह क्या समझेगा माली निष्ठुर

परिमल—निराला, पृ० १०३।

माली सुन्दर पुष्प का यथोचित मूल्यांकन न कर सकनेवाला व्यक्ति है। निराला जी की 'बादल के प्रति' और प्रसाद की 'लहर' ऐसी ही अन्योक्तिमय कविताएँ हैं। अन्योक्ति में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की ओर संकेत होता है। इस काव्य में यह अप्रस्तुत-विधान प्रतीक-योजना के अन्तर्गत ही मिलता है।

---

१. 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'—नामवर सिंह, पृ० २०।

प्रातःकाल की पीली पड़ती हुई चाँदनी के वर्णन द्वारा पन्त ने किसी नायिका के क्षीण-सौन्दर्य का संकेत किया है। और वहाँ समासोक्ति है—

पीली वह दुर्बल कोमल कृश देहलता कुम्हलाई।
विवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई।

गुंजन, पृ० ३४।

प्रतीक-योजना के कारण अन्योक्ति और समासोक्ति में भेद करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। प्रतीकों का प्रयोग वास्तव में प्रस्तुत के लिए ही किया जाता है। लेकिन समासोक्ति में प्रकृति-वर्णन आदि प्रसंगों के भीतर आए हुए उपकरण किसी अन्य अप्रस्तुत वस्तु की ओर संकेत करते हैं।

इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार भी प्रतीक-योजना के साथ स्वाभाविक रूप से मेल खा जाता है, क्योंकि इसमें उपमेय-पक्ष को बिल्कुल छोड़ ही दिया जाता है—

बाँधा था किसने विधु को इन काली जंजीरों से।
मणिवाले सर्पों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥

आँसू—प्रसाद, पृष्ठ २१।

अन्योक्ति, समासोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों से जहाँ वस्तु का सूक्ष्म-विधान करने में सहायता मिली है, वहाँ काव्य में दुरूहता भी आई है।

कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध पर आधारित अलंकार भी हैं। बिना हेतु के ही कार्य की उत्पत्ति करनेवाला विभावना अलंकार—

दुख क्या था उनको मेरा जो सुख लेकर यों भागे।
सोते में चुम्बन लेकर जब रोम तनिक सा जागे॥

आँसू—प्रसाद, पृ० ४६।

कारण के होते हुए भी कार्य को न उत्पन्न करनेवाला विशेषोक्ति अलंकार भी है—

अब छुटता नहीं छुड़ाए रँग गया हृदय है ऐसा।
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा कैसा॥ आँसू—प्रसाद, पृ० ३७।

कार्य-कारण की भिन्नदेशता वाला असंगति अलंकार भी है—

मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें।
पी ली थी किसने मदिरा थीं बन्द हमारी पलकें॥ आँसू—प्रसाद, पृ० २५।

इस प्रकार रहस्यादी काव्य में परंपरागत अलंकारों का प्रयोग बराबर मिलता है। वास्तव में, अलंकार उक्तियों के विशेष प्रकार ही हैं जो वस्तु का

प्रभाव बढ़ाने के लिए वाक्य-प्रसार में स्वयं आते चलते हैं। अलंकारों के शास्त्रीय रूप से सर्वथा अपरिचित जन-साधारण भी अपनी बातचीत में, प्रायः स्थान-स्थान पर, अलंकृत प्रणाली का प्रयोग करते रहते हैं। इस काव्यधारा के अलंकारों की विशेषता यही है कि इनका उपमान-पक्ष सुकुमार कवि-कल्पना द्वारा अत्यन्त रमणीयता के साथ आयोजित किया गया है तथा अमूर्त-वस्तुओं का संकलन उपमान-पक्ष में बहुत अधिक हुआ है।

अंग्रेजी-साहित्य के कुछ अलंकारों का प्रयोग भी इस काव्य की मार्मिकता, लाक्षणिकता और चित्रमयता में वृद्धि करता है। जड़ पदार्थों पर मानवीय भावनाओं का आरोप करनेवाला मानवीकरण रहस्य-प्रवृत्ति के बहुत अनुकूल बैठता है—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर, नीरव, अनिमिष एकाकिनि॥
वह शशि-किरणों से उतरी चुपके मेरे आँगन पर।
उर की आभा में खोई अपनी ही छबि से सुन्दर॥

गुंजन—पंत, पृ० ८७।

जब व्यक्तियों के गुणों को निर्जीव वस्तु की ओर संक्रमित कर दिया जाता है तब विशेषण-विपर्यय अलंकार होता है—

यमुने तेरी इन लहरों में किन अधरों की व्याकुल तान।

परिमल—निराला, पृ० १६।

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान।

उच्छ्वास की बालिका—पंत, पल्लव पृ० ४।

नादानुकृति अलंकार में क्रिया के अनुरूप ध्वनि करनेवाले—ध्वननशील—शब्दों का प्रयोग होता है—

रूपसि तेरा घन केश-पाश

सौरभ भीना, झीना-झीना लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल।
चल अंचल से झर झर झरते पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल॥

नीरजा—महादेवी, यामा, पृ० १४०।

निर्झरों की भारी झर् झर्, झींगुरों की झीनी झनकार।
घनों की गुरु गंभीर घहर बिन्दुओं की छनती छनकार॥

आँसू से—पंत, आधु० कवि, २।

छन्द-योजना की दृष्टि से भी रहस्यवादी काव्य की अपनी विशेषता है।

पुरानी काव्यधारा में जिस प्रकार वर्णवृत्त और मात्रिक छन्दों का उपयोग हुआ करता था उस प्रकार का छन्द-विधान इस काव्य में नहीं रखा जाता है। छायावाद-काल की समस्त स्वच्छन्द वृत्तियाँ गीति-शैली में अभिव्यक्त हुई हैं। गीति-शैली में पुरानी छन्द-पद्धति का स्थूल-विधान संवेगों की तदनुरूप सबल अभिव्यक्ति के उतना अधिक अनुकूल नहीं बैठता था। लय के नाद-सौन्दर्य से जो संगीतात्मकता उत्पन्न होती थी वह उस अभिव्यक्ति में चारुता का एक आवरण और चढ़ा देती थी। अतः पुरानी छन्द-व्यवस्था को छोड़कर इसमें लय के अनुसार गीतात्मक पंक्तियों की रचना की गई। उन भिन्न-भिन्न पंक्तियों और पंक्ति-खण्डों को संस्कृत के शब्द-चित्र-काव्य में बननेवाली आकृतियों की तरह सजाया जाने लगा। छन्दों के बन्धन को तोड़ने का प्रयास निराला जी ने सबसे अधिक किया है। छन्दों के इस नूतन-विधान (Free verse) की प्रेरणा का मूल स्रोत अंग्रेजी काव्य में है।

पंक्ति-खण्डों के द्वारा शब्द-चित्र बनाने की प्रवृत्ति पन्त ने दिखाई है—

मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल

आधु० कवि—पंत, पृ० ३६।

निराला जी ने छन्दों के साथ यह क्रीड़ा-कौतुक बहुत किया है—
ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द चञ्चल समीर रथ पर उच्छृङ्खल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा रहित विराट् !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन घोर गगन के !
ऐ सम्राट् !

परिमल—निराला, पृ० ५।

आचार्य शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' के प्रसंग में इस प्रकार के छन्दों को अच्छा नहीं बताया है।[1]

इन स्वच्छन्द छन्दों के अतिरिक्त शेष छन्द गीतात्मक हैं। इनमें से बहुतों में पुराने मात्रिक छन्दों का स्वरूप भी उपलब्ध हो जाता है। बहुत से पदों में लोक-गीतों की विविध गान-प्रणालियों का आरोप भी बैठ जाता है। परन्तु छन्दों की योजना में गुरु-लघु की निश्चित योजना की अपेक्षा गेयता की दृष्टि प्रमुख है। इस प्रकार रहस्यवाद के कलापक्ष की विशेषताओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस धारा में हिन्दी भाषा की अभिव्यंजना-प्रणाली का एक ऐतिहासिक विकास हुआ। वस्तु की सूक्ष्मता के अनुरूप ही शैली की सूक्ष्मता भी है। लक्षणा और प्रतीक-योजना ने भाषा में दुरूह सांकेतिकता को जन्म दिया है। इस कल्पना-प्रधान लाक्षणिक वैचित्र्य और प्रतीक-योजना पर क्रोशे के अभिव्यंजनावाद का प्रभाव है जिसके कारण, कहीं-कहीं अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध, लक्षणा का विस्तार हो गया है। इन दोनों के होते हुए भी रहस्यवाद का कलापक्ष जैसा समृद्ध है वैसी समृद्धि पहले कभी हिन्दी में नहीं देखने में आती।

---

१. काव्य में रहस्यवाद पृ० १३६, १३७।

चतुर्थ परिच्छेद

रहस्यवाद के आलोचक

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रहस्यवादी काव्यधारा का प्रवर्तन होने के उपरान्त यह स्वाभाविक ही था कि समालोचक-गण साहित्य की इस नवीन धारा की विवेचना करते। फलतः रहस्यवाद को विद्वानों ने अच्छी तरह परखा और अपने-अपने अनुसार उसकी व्याख्या, उसका स्वरूप-निर्णय, उसकी उपयोगिता आदि पक्षों पर अपने-अपने मत प्रकट किए। भारतीय साहित्य में वर्तमान रूप का रहस्यवाद एक सर्वथा नई वस्तु थी; अर्थात् समस्त भारतीय-काव्य के आज रहस्यवाद कहे जानेवाले स्थलों को जैसे वैदिक साहित्य, तान्त्रिक और यौगिक साहित्य तथा मध्य-कालीन निर्गुण-पंथी साहित्य—पहले कभी रहस्यवाद कहकर अभिहित नहीं किया गया। 'रहस्यवाद' शब्द के प्रयोग की अर्वाचीनता पिछले प्रकरण में दिखाई जा चुकी है। अतः रहस्यवाद के इस नूतन प्रवर्तन से अधिकांश लोग चौंके और इसकी श्लाघा-गर्हात्मक विविध समालोचनाएँ की गईं। बहुधा इन समालोचनाओं में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए वे वैयक्तिक दृष्टिकोण से ही किए गए और उनमें रहस्यवाद की विवेचना का एक सर्व-सामान्य, परिनिष्ठित रूप स्थिर नहीं हो सका; यहाँ तक कि आज भी, यह प्रश्न अनिश्चित सा ही पड़ा है। आलोचना-जाल की इन उलझनों और विप्रतिपत्तियों का एक कारण और भी है; वह है छायावाद और रहस्यवाद के पारस्परिक भेद-निरूपण की चेष्टा। वास्तव में छायावाद और रहस्यवाद को लेकर हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में जितना मतभेद और उलझन चली उतनी और किसी मतवाद को लेकर नहीं। रहस्यवाद की आलोचना से सम्बद्ध इस प्रकरण में हम, पहले, छायावाद से इसका सम्बन्ध और भेद दिखलाकर, तत्पश्चात् रहस्यवाद सम्बन्धी आलोचनाओं को परखेंगे। कुछ व्याख्याएँ ऐसी भी, इस सम्बन्ध में, मिलती हैं जिनमें अतिशय विवाद-ग्रस्त इन दोनों वादों की व्याख्या सम्मिलित रूप से की गई है।

छायावाद और रहस्यवाद

इस विषय की आलोचना करनेवाले विद्वानों में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट परिलक्षित

होती हैं। कुछ विद्वान् छायावाद और रहस्यवाद को अंशतः या पूर्णतः एक मानते हैं और अन्य इन दोनों को सर्वथा अलग मानते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, जब कि काव्यक्षेत्र में इन शब्दों का व्यवहार मतवाद के रूप में हुआ, प्रायः इन दोनों को एक समझने की प्रवृत्ति ही विद्वानों में अधिक दिखाई देती है। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों इन दोनों के भेद को निर्धारित करने का प्रयत्न सामने आता जाता है और इधर आकर तो, ऐसा लगता है कि एक भेद-सीमा को लोग, कुछ निश्चय के साथ मानने लग गए हैं। निश्चीयमान प्रतीत होती हुई इस भेद-सीमा का उल्लेख आलोचना-प्रसंग में यथास्थान होगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् ११२० के आसपास, जब इन शब्दों का व्यवहार आरम्भ हुआ, दोनों शब्द पर्यायवाची समझे जाते थे। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मई सन् १९२७ की सरस्वती में कवि-किंकर के नाम से लिखे गए अपने लेख में नई कविता के नामकरण का कारण बताते हुए स्पष्ट लिखा—

"इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थ-बोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है।"

इस प्रकार द्विवेदी जी के मत में दोनों शब्द पर्यायवाची थे। दोनों शब्दों के इस प्रयोग-सांकर्य का कारण एक तो—जैसा कि पहले बताया जा चुका है—बाह्य-रूपात्मक है अर्थात् अंग्रेजी के एक Mystic या Mysticism शब्द से ही दोनों शब्दों का अनुवादात्मक सम्बन्ध है। दूसरा कारण विषय-प्रधान है। द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दी-काव्य में भाव और कला दोनों पक्षों से सम्बन्धित जो नई प्रवृत्तियाँ चलीं उन सब के समाहार को, गर्हा और उपहास की भावना से, छायावाद नाम दिया गया। इन प्रवृत्तियों में रहस्य-भावना की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इस रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति, ईसाई भक्तों के छायादृश्य (Phantasmata) और सूक्ष्म प्रतीक (Symbol) का आश्रय लेकर अंग्रेजी कवि ब्लेक और ईट्स, ब्रह्मसमाज तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि की भाँति, की जाने लगी। अतः संस्कृत-शास्त्रों की बहुविख्यात परम्परा—प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति = प्रधान गुण के आधार पर ही नामकरण किया जाता है—के अनुसार छायावाद को रहस्यवाद भी कहा जाने लगा। किन्तु वास्तव में रहस्यवाद उन अनेक प्रवृत्तियों में से एक था जिनका प्रचलन छायावाद के नाम से हुआ। छायावाद में वस्तु और अभिव्यक्ति दोनों का जो सूक्ष्म-विधान हुआ उसमें अस्पष्टता, दुरूहता और धुँधलापन अनभ्यस्त आँख

को इतना अधिक लगा कि वह सूक्ष्म के झीने आवरण में आवृत लौकिक वस्तु-विधान और स्वभावतः अतीन्द्रिय व्यापक चरम सत्ता—जो रहस्यवाद का मूल है—में भेद न कर सकी और उसे सभी कुछ रहस्यमय दिखाई दिया। विषय-वस्तु की दृष्टि से दोनों शब्दों के एकार्थक प्रयोग का यही कारण था।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक आदर्शों का निर्माण वस्तु-प्रधान संस्कृत काव्यों के धरातल पर हुआ था। पुरानी जी० आई० पी० रेलवे में सेवा-कार्य के प्रसंग से जो उन्हें मध्य-भारत में रहना पड़ा उससे उनके दृष्टिकोण में, महाराष्ट्र-संस्कृति के संसर्ग से, कल्पना-विरोधी वास्तविकता भी आ गई थी। इस नवोत्थान का उन्होंने अभिनन्दन नहीं किया और न उसे समझने का प्रयास ही। इस सम्बन्ध में उनके पूर्वग्रह विलक्षण हैं। छायावाद की आध्यात्मिकता को वे केवल अन्योक्ति समझते[1] हैं जो कि वह कदापि नहीं; हाँ, अन्योक्ति उसकी अभिव्यक्ति का साधन चाहे कहीं भले ही बन जाय। छायावाद (अथवा उनके अपने मत से रहस्यवाद) की उन्होंने जितनी छिछली परिभाषा दी वह उनकी विद्वत्ता के कदापि अनुकूल नहीं कही जा सकती। उन्होंने, नीचे की पाद-टिप्पणी नं० १ में संकेतित अपने उसी लेख में, कहा—"छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।"

इस कथन में लक्ष्य-लक्षण की जितनी अनिर्दिष्ट व्यापकता है, जितनी त्वक्-स्पर्शिता है उसके होते हुए भी यदि, रामायण की चौपाइयों के बीसों अर्थों की तरह खींचतान करके, इसे कोई रहस्यवादी चौखटे में फिट करना चाहे तो वह प्रयास व्यर्थ है। परन्तु इसमें द्विवेदी जी का दोष नहीं। प्रथम तो उनके संस्कार पुरातनवादी थे, और दूसरे हिन्दी-काव्य का यह नवीन उत्थान इतना बद्धमूल नहीं हो पाया था कि लोग गंभीर विवेचन की दृष्टि से उसे देखते।

छायावाद और रहस्यवाद को एक माननेवाले आलोचकों में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी हैं। एक स्थान[2] पर उन्होंने 'छायावाद या रहस्यवाद' का प्रयोग किया है। किन्तु शुक्ल जी का यह कथन सोपाधिक है। अपने 'हिन्दी-

---

१. मई १९२७ – सरस्वती—'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' लेख—आ० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी।

२. 'काव्य में रहस्यवाद'—चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ० १५४।

साहित्य के इतिहास' में शुक्ल जी ने इसे स्वयं स्पष्ट करते हुए बताया है[1] कि काव्य-वस्तु की दृष्टि से छायावाद रहस्यवाद ही होता है और काव्य-शैली के व्यापक अर्थ में छायावाद एक काव्य-प्रणाली-विशेष है। इस प्रकार दोनों में आंशिक समानता एवं व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बन्ध है।

आचार्य शुक्ल जी के अपने दृष्टिकोण से उनका यह कथन सर्वथा ठीक है। इस नवीन उत्थान को आ० शुक्ल जी ने बहुत अधिक अच्छा चाहे न समझा हो, पर उन्होंने इसपर विचार अपनी पैनी, नीर-क्षीर-विवेकी और विद्वत्तापूर्ण दृष्टि से ही किया है। बहुत से आलोचकों को इस बात से आपत्ति है कि शुक्ल जी ने छायावाद को केवल एक काव्य-शैली ही क्यों कहा? छायावादी काव्य में शैली के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है।[2] यदि विचार करके देखा जाय तो शुक्ल जी के विरोध में खड़ी की गई इस मान्यता में छायावाद को एक शैली मानने की स्वीकृति तो उनके 'अतिरिक्त' शब्द से ही प्रकट होती है। 'और भी बहुत कुछ' के नाम से जिन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया गया है उन्हें शुक्ल जी ने 'स्वच्छन्दतावाद' के अन्तर्गत ले लिया है। इन स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों में रहस्य-भावना भी है। श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों में शुक्ल जी ने मधुर रहस्यभावना का उल्लेख किया है। फिर न जाने क्यों डा० नामवर सिंह ने कहा कि "शुक्ल जी के स्वच्छन्दतावाद में छायावाद की रहस्य-भावना के लिए जगह न थी।"[3] शुक्ल जी ने छायावाद को स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत ही माना है, जैसा कि डा० नामवर सिंह ने भी उसी स्थान पर कहा है—

"धीरे-धीरे छायावाद सम्पूर्ण रोमांटिसिज्म का वाचक बन गया।"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के अनुसार भी रहस्यवाद छायावाद के अन्तर्गत ही है। उनके अनुसार छायावाद में बहुत से ऐसे लौकिक विषयों का वर्णन भी होता है जो रहस्यवाद की कोटि में नहीं आ सकते। दोनों शब्दों को एक मान लेने के प्रश्न पर उन्होंने कहा है—

"ईश्वर-सम्बन्धी विषयों के लिए यह कथन ठीक है। किन्तु सांसारिक अनेक विषय और तत्त्व ऐसे हैं कि छायावाद की कविता में उनका वर्णन और निरूपण होता है। उन वर्णनों और निरूपणों को रहस्यवाद की रचना नहीं कहा जा

---

१ पृ० ५८३।

२. हिन्दी कविता का क्रान्ति-युग—सुधीन्द्र, पृ० १४४।

३. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २।

सकता। ×× इस प्रकार की कविताओं और वर्णनों के समावेश के लिए भी छायावाद नाम की कल्पना की गई है।[1]

इस कथन में स्पष्टतया ईश्वर-सम्बन्धी वस्तु-वर्णन की उभयनिष्ठता के कारण छायावाद और रहस्यवाद में आंशिक एकता प्रतिपादित की गई है।

डा० रामकुमार वर्मा आरम्भ में छायावाद और रहस्यवाद को एक ही मानते थे। अपनी 'साहित्य-समालोचना' पुस्तक के 'कविता' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद बतलाते हुए लिखा है कि "उसकी छाया में सान्त का अनन्त से मिलाप होता है।"

इस कथन से भी छायावाद के एकांश से ही रहस्यवाद की समानता समझनी चाहिए। अन्यथा हरिऔध जी का जो ईश्वरेतर सम्बन्धी पूर्वपक्ष है उसके लिए इसमें स्थान नहीं रह जायगा।

२ मार्च सन् १९५१ को डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा को अपने द्वारा दिए गए एक इण्टरव्यू में डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी इस मान्यता में परिवर्तन की सूचना दी। रहस्यवाद और छायावाद के अन्तर के सम्बन्ध में प्रश्न किए जाने पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—

"छायावादी कवि का जीवन के क्षेत्र में रागात्मक दृष्टिकोण रहता है और उसकी खिन्नता का कारण कोई ज्ञानातीत अथवा आध्यात्मिक अनुभव न होकर उसके स्वयं का ऐन्द्रिक अनुभव होता है। इसके विपरीत रहस्यवाद में कवि के आध्यात्मिक अनुभव की व्यंजना होती है।"[2]

इस परिवर्तित दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि इधर आकर समालोचकों ने दोनों वादों में भेद-स्थापन के प्रयत्न को जो एक परिनिष्ठित रूप देना चाहा है इस परिभाषा का झुकाव भी उसी ओर है। इस प्रकार की परिभाषाओं की परीक्षा हम इसी प्रकरण में थोड़ा आगे चलकर करेंगे।

छायावाद और रहस्यवाद को एक माननेवालों के पक्ष में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी रहे हैं। उन्होंने प्रसाद जी की साहित्यिक मान्यताओं का संकलन करते हुए उनके रहस्यवादी सिद्धान्त का परिचय देकर कहा—

"इनके शब्दों में वर्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावाद काव्य भी कहते हैं) भारत की निजी सम्पत्ति है।"

---

१. रस साहित्य और समीक्षाएँ—हरिऔध, पृ० १२७।
२. हिन्दी-काव्य पर आँग्ल प्रभाव—डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा, पृ० २१९।

इस वाक्य में कोष्ठ-बद्ध वाक्य वाजपेयी जी के अपने हैं; अन्यथा उन्हें कोष्ठ में बन्द करने की आवश्यकता नहीं थी। फिर प्रसाद जी दोनों वादों को सर्वथा अलग मानते थे। वाजपेयी जी का यह कथन दोनों के आंशिक संवाद को ही प्रकट करता है; क्योंकि माधुरी—अगस्त सन् १९२९ के अपने लेख, 'आधुनिक कविता में छायावाद', के अन्त में उन्होंने स्वयं कहा है—

"इस लेख में छायावाद शब्द का प्रयोग बहुत विस्तृत अर्थ में हुआ है। अंग्रेजी में कविता की जो धारा रोमाण्टिक कहलाती है, उसकी भी बहुत कुछ ऐसी ही प्रगति हुई थी।"

रोमाण्टिसिज्म या छायावाद का एकदेश रहस्य-भावनामय है यह कहा जा चुका है। इसके अन्दर अन्य बहुत सी प्रवृत्तियों का समाहार होने के कारण ही इन्हें छायावाद को शैली मात्र कहने में आपत्ति है। उन्होंने 'जयशंकर प्रसाद' पुस्तक में कहा है (पृ० १५)

"इस छायावाद को हम पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार केवल अभिव्यंजना की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। उसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम और एक स्वतन्त्र दर्शन की उद्भावना है।"

वाजपेयी जी की यह विचार-सरणि डा० नामवरसिंह की विचारधारा से मिलती-जुलती है। रहस्येतर जिन वृत्तियों को इधर छायावाद के अन्तर्गत माना जाने लगा है, शुक्ल जी ने उन्हें स्वच्छन्दतावाद के भीतर स्वीकार किया है और उन भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रकार छायावादी माना है।

अब हम क्रमशः उन आलोचकों को लेते हैं जिन्होंने इन दोनों वादों को बिल्कुल ही भिन्न माना है। इनमें सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद जी का स्थान आता है। अपने सांस्कृतिक निर्माण में प्रसाद जी विशुद्ध भारतीय थे। अतः अपने द्वारा स्वीकृत इन दोनों वादों के मूल उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य में ढूँढ़ निकाले। प्रसाद जी ने दोनों को अलग-अलग ही माना है। उनके मत में अद्वैत भावना पर आधारित 'अहं' का 'इदं' के साथ भावात्मक समन्वय रहस्यवाद है।[1] छायावाद को वे एक शैली ही मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अंगों में तरल-कान्ति लावण्य कही जाती है; अथवा

---

१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—रहस्यवाद, पृ० १९।

मोती के भीतर छाया[1] की जैसी तरलता होती है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की वक्रता भी हुआ करती है जो कि छाया की तरह लोकोत्तीर्ण रूप में अवस्थित रहती है।[2] शब्दार्थ का इस प्रकार छायान्वित प्रयोग उन्होंने प्राचीन साहित्य में प्रचुर मात्रा में बतलाया है। उनकी सम्मति में आधुनिक काल के सूक्ष्म भावों को शब्दार्थ की छाया-परक सूक्ष्म योजना ही वहन कर सकती है।

इस विचार-परम्परा के अनुसार छायावाद एक शैली-विशेष ही है जिसमें शब्दार्थ की योजना एक ऐसी वक्रता के साथ होती है कि उसमें एक विशेष तरल कान्ति या छाया का समावेश हो जाता है। इस मत से आचार्य शुक्ल जी के मत की ही पुष्टि होती है। शब्द में जो वक्रता, या चाहे उसे लाक्षणिकता कह लें, रहती है वही छायावाद का मूल है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शैली के पीछे नूतन सिद्धान्तवाद देखने की बात का उत्तर प्रसाद जी की सामान्य विचार-परम्परा से यों मिल जाता है कि साहित्य-सृष्टि में आधार बनकर रहने-वाले सांस्कृतिक ढाँचों में विविध आवर्तन और प्रतिवर्तन स्वयं ही होते रहते हैं और सदा ही वे अभिव्यक्ति के लिए अनुरूप विधान करते रहते हैं।

प्रसाद जी के उपरान्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन विचार-धारा उपलब्ध होती है जो छायावाद और रहस्य के बीच एक निश्चित सीमा-रेखा खींचने का प्रयत्न करती है। इस विचार-धारा के अनुयायी एक सर्वमान्य परिनिष्ठित परिभाषा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। दो-एक पुराने आलोचक भी अपनी पूर्व मान्यताओं को छोड़कर इस वर्ग में सम्मिलित हो गए हैं। इस विचारधारा का उद्गम महादेवी वर्मा के विवेचनों में है। सर्वश्री रामकृष्ण शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, रामकुमार वर्मा, विश्वम्भर मानव इसके प्रमुख समर्थक हैं। इनकी मान्यताएँ कुछ व्यक्तिगत मतभेदों के साथ एक कोटि में ही आ जाती हैं। यहाँ हम उन पर भी विचार करेंगे।

इस कोटि में सर्वप्रथम स्थान महादेवी वर्मा का है। छायावाद और रहस्य-वाद के सम्बन्ध में वे कहती हैं—

"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रति-बिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान

---

१. छाया=कान्ति—'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः'।—अमरकोष ३।३।१५७।

२. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—यथार्थवाद और छायावाद. पृ० ९२।

पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई। अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। पृथ्वी के लघु तृण और महान् वृक्ष, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत्-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता और मोह-ज्ञान केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।

परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते, और जब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक वह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्म-निवेदन करना इस काव्य का (छायावाद का) दूसरा सोपान है जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।"[१]

इस कथन का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि वास्तव में छायावाद और रहस्यवाद एक ही प्रक्रिया के दो चरण हैं जिनमें छायावाद पहले आता है और तत्सम्बन्धी अनुभूति हो जाने पर ही कवि को रहस्यानुभूति होती है। छायावादी अनुभूति में प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों में—और अपने में भी—एक व्यापक विराट् तत्त्व की एक अद्वैत सत्ता का केवल परिज्ञान हो जाता है। परिज्ञान के बाद, जैसा कि स्वाभाविक है, इच्छा या भाव—और उसमें भी प्रेम—उत्पन्न होता है। प्रेमक्रिया का सांगोपांग निर्वाह हो सके इसके लिए आवश्यक है कि उस सूक्ष्म-तत्त्व को (अपने कल्पनादर्श के अनुरूप) अच्छी से अच्छी आकृति या व्यक्ति के रूपक में बाँधा जाय। तदनन्तर, प्रेम की चरम परिणति—उसमें कवि के व्यक्तित्व का लय—हो जाय। परिज्ञान के बाद की यह सारी प्रक्रिया इसलिए रहस्यवाद कही जाती है क्योंकि यह रहस्यमय है अर्थात् इसमें—प्रेम-प्रक्रिया में—दूसरे का साझा नहीं, यह अपनी ही हो सकती है।

इसके अनुसार प्रकृति में व्याप्त अद्वैत तत्त्व का परिज्ञान छायावाद और

१—'यामा'—महादेवी वर्मा, भूमिका, पृ० ८।

उसपर किसी व्यक्तित्व का आरोप करके प्रेम-भावना में लीन होना रहस्यवाद है क्योंकि यह प्रेम रहस्यमय होता है। क्या उस अद्वैत तत्त्व का केवल परिज्ञान रहस्यमय नहीं है? क्या किसी की चेतना में व्याप्त होनेवाले ऐसे सात्त्विक ज्ञान[1] को कोई दूसरा व्यक्ति स्वरूपतः समझ सकता है? इस ज्ञान में यदि भाव का योग नहीं (केवल छायावाद में) तो इसकी आख्या काव्य कैसे हुई? बौद्धिक क्रिया द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान में और इसमें फिर क्या अन्तर है? जब कि छायावादी हुए बिना कोई रहस्यवादी नहीं हो सकता, क्योंकि पहले प्रथम सोपान पर पैर रखकर ही दूसरे सोपान पर रक्खा जायगा, तो क्या जायसी और कबीर को भी छायावादी माना जाय? छायावाद से पूर्व की दशा में मानव-हृदय और प्रकृति के बीच जिस बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की बात कह-कर दोनों में जिस समान संवेदनशीलता की बात कही गई है वह समान संवेदनशीलता मनोवैज्ञानिक है। अपने सुख-दुःख में प्रकृति ही क्या सभी कुछ प्रसन्न-उदास दिखाई देता है। हाँ, यदि साँस के अनुसार प्रकृति का दार्श-निक अर्थ में प्रयोग हो तो बात दूसरी है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव-सम्बन्ध के स्थान पर यदि हृदय की संवेदनशीलता कहा जाता तो अधिक उपयुक्त होता क्योंकि यह भाव उस एक तत्त्व का, जो कि बिम्ब या रूप-स्थानीय है, ही प्रति-बिम्ब या छाया सर्वत्र देखने में होता है। लेकिन यहाँ तो अद्वैत-दर्शन से पूर्व की लौकिक स्थिति में ही यह कहा जा रहा है! इसी प्रकार की अनेक शंकाएँ महादेवी जी के इस उद्धृत वर्णन से उत्पन्न हो जाती हैं और दोनों के बीच का तात्त्विक-भेद हस्तगत नहीं होता। फिर भी सूत्ररूप में इस मान्यता का सार यह है कि प्रकृति में व्याप्त एक अद्वैत तत्त्व का परिज्ञान छायावाद और उस अद्वैत तत्त्व पर व्यक्तित्व का आरोप करके उससे प्रेम करना रहस्यवाद है।

पहले कहा जा चुका है कि आरम्भ में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने छाया-वाद और रहस्यवाद को एक ही माना। आगे चलकर उन्होंने छायावाद की अनेक प्रवृत्तियों में रहस्यवाद को भी एक प्रवृत्ति-विशेष मान लिया। इसके पश्चात् अपने ग्रन्थ, 'हिन्दी-साहित्य—२०वीं शताब्दी' में उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद से पृथक् बताते हुए कहा—

---

१. गीता – १८।२०।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"

इससे सिद्ध है कि व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक भान को वे छायावाद मानते हैं। रहस्यमयी परोक्ष-सत्ता की ओर संकेत को उन्होंने रहस्यवाद कहा है।[1]

किन्तु 'परोक्ष सत्ता का संकेत' और 'व्यक्त में आध्यात्मिक भान' कोई अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं। अतः उन्होंने बताया कि दोनों में व्यष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि और समष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि का भेद है; पहला छायावाद और दूसरा रहस्यवाद है।[2]

श्री पं० रामकृष्ण शुक्ल ने दोनों का अन्तर समझाते हुए कहा है—

"छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए, छाया मनुष्य की ही, व्यक्त की ही, देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"[3]

शुक्ल जी के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रकृति में जीवन का प्रतिबिम्ब देखना छायावाद और समस्त सृष्टि में ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखना रहस्यवाद है। जीवन चेतन होता है। जड़ को जीवन-युक्त नहीं कहा जाता। प्रकृति सृष्टि का एक बहुत बड़ा अंग है। उसमें चेतन सत्ता तथा उसके परिणाम-स्वरूप होनेवाले विविध जीवन-व्यापारों का आभास भी रहस्यवाद की ही कोटि में आते हैं। प्रकृति को चेतना-युक्त माननेवाले वर्ड्सवर्थ को रहस्यवादी ही कहा जाता है। प्रकृति के विविध व्यक्त-क्षेत्रों में पद्मावती-नागमती या रत्नसेन की (श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी का व्यष्टि पक्ष भी यही है) पीड़ानुभूति का आरोप होने के कारण जायसी को छायावादी कोई नहीं कहता।

इसी प्रकार डा० रामकुमार वर्मा का पूर्व-उद्धृत, परिवर्तित दृष्टिकोण भी दोनों में अन्तर स्थापित करने की चेष्टा करता हुआ बताता है कि छायावाद लौकिक पीड़ा से उत्पन्न होनेवाली कवि की अपनी इन्द्रिय-जन्य अनुभूति है और रहस्यवाद ईश्वरीय प्रेम की आध्यात्मिक इन्द्रियातीत अनुभूति है। वे बताते हैं कि रहस्यवादी अनुभूति आत्मा की है, इन्द्रियों की नहीं। इससे प्रकट होता है कि छायावाद गीतिकाव्य ही है जिसमें कवि अपने हृदय के उन भावों की गहरी अनुभूतियों को प्रकट करता है जो कि लोक-सम्पर्क के फल हैं। छायावाद का यह

---

१. माधुरी—अगस्त १९२९—'आधुनिक कविता में छायावाद'।
२. 'हिन्दी-साहित्य—२०वीं शताब्दी'। ३. आलोचना-समुच्चय।

स्वरूप रहस्यवाद से अवश्य पृथक् है। हाँ, रहस्यानुभूति को आत्मा की इन्द्रियातीत अनुभूति कहना चिन्त्य है। आत्मा, जो कि समस्त ज्ञान का विषयी (Subject) है वह कम से कम अन्तःकरण का, जो कि एक इन्द्रिय ही है,—चाहे वह भीतरी ही क्यों न हो—माध्यम तो ज्ञानार्जन में अपनावेगा ही। छायावाद का यह लक्षण भी अतिव्याप्त है। शैली-विशेष का इसमें समावेश करना पड़ेगा। अन्यथा सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के विनय और आत्म-निवेदन के वे पद भी, जिनमें उन्होंने अपनी मौतिक पीड़ा की तीव्र अनुभूति को वाणी दी है, छायावाद की श्रेणी में आ जावेंगे।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद का स्पष्ट वर्णन किया है, रहस्य के साथ उसे कहीं व्यामिश्रित नहीं किया है। आचार्य शुक्ल जी का स्वच्छन्दतावाद और शैलीवाद दोनों ही उसमें आ जाते हैं। छायावाद को आधुनिक युग का एक विद्रोह मानते हुए वे कहते हैं—

"उपयोगिता के प्रति भावुकता का यह विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का यह विद्रोह है। × × × ×

"× × × × छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है, और अभिव्यक्ति हुई है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा।"[१]

'काव्य के बन्धनों के प्रति विद्रोह' और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति शैली की विशेषता की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। 'विद्रोह' और 'भावात्मक दृष्टिकोण' से छायावाद की अन्य स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ ही इष्ट हैं।

छायावाद और रहस्यवाद को क्रमशः प्रकृति और ईश्वरीय सत्ता से सम्बद्ध बताकर दोनों की अन्योन्य व्यावर्तक परिभाषाएँ देने का जो प्रयत्न महादेवी वर्मा ने सर्वप्रथम प्रकट किया उनको लेकर आज के अधिकांश समालोचक उसे मान्यता देने के पक्ष में दिखाई दे रहे हैं। ऐसे आलोचकों में विश्वम्भर मानव प्रमुख हैं। श्री सुधीन्द्र[१] और प्रो० शिवनन्दनप्रसाद[२] भी इसी सिद्धान्त के माननेवाले हैं। मानव ने 'सुमित्रानन्दन पंत' (पृ० ४५) में कहा है—

---

१ हिन्दी-कविता का क्रान्तियुग, पृ० ३४४।
२. हिन्दी-साहित्य—प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ, पृ० १६९।

"महादेवी वर्मा पहली कवि आलोचक हैं जिन्होंने छायावाद की स्पष्ट व्याख्या दी।"

महादेवी वर्मा के ऊपर उद्धृत अंश के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठाई गई हैं उनकी कोई कल्पना या उत्तर मानव-कृत विवेचन में नहीं है। उसी प्रसंग में आगे पृ० ८४ पर उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर बताया है—

"प्रकृति में चेतना की अनुभूति और प्रकृति के तत्त्वों का पारस्परिक भाव-सम्बन्ध छायावाद कहलाता है। प्रकृति से ऊँचे उठकर आत्मा-परमात्मा का पारस्परिक प्रणय-व्यापार रहस्यवाद की कोटि में आता है।"

अध्यात्मवादी को वे रहस्यवादी नहीं मानते क्योंकि उसमें प्रेम नहीं होता।[1] कदाचित् मानव जी ने यह विचार नहीं किया कि केवल अध्यात्म-दर्शन काव्य का नहीं दर्शन शास्त्र का विषय होता है। अध्यात्म-परक वैदिक सूक्त अथवा उपनिषद् काव्य नहीं कहे जाते। फिर प्रकृति के साथ भाव-सम्बन्ध रखना भी रहस्यवाद ही कहलाता है। अंग्रेजी साहित्य में प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति-परक के अनुसार तीन प्रकार का रहस्यवाद माना जाता है।[2] अन्तिम के उदाहरण वर्ड्सवर्थ हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में प्रेम-परायणता को रहस्यवाद का व्यावर्तक गुण (Connotation) बताकर भी उन्होंने कहा है कि—"रहस्य-काव्य का जन्म प्रायः जिज्ञासा से होता है। इस जिज्ञासा के उपरान्त साधक ब्रह्म का परिचय प्राप्त करता है।"[3] यहाँ जिज्ञासा और परिचय या परित्याग प्रेम के अभाव में रहस्यवादी काव्य को कैसे जन्म देते हैं? इस प्रकार की अनेक संदिग्ध धारणाएँ इस विवेचन से उत्पन्न हो जाती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि छायावाद और रहस्यवाद अत्यन्त विवादग्रस्त विषय रहे हैं। स्वतः विरोधी और एक दूसरे से विरोधी विचारधाराओं का इस प्रसंग में बाहुल्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश मतों का निर्धारण दोनों वादों से सम्बन्धित किसी कवि-विशेष की रचनाओं को पढ़कर उसमें प्राप्त होनेवाली विशेषताओं के आधार पर ही कर लिया गया है। इन एकांग-दर्शी व्याख्याओं में तदतिरिक्त कवियों के व्याख्या की परिधि से अलग हो जाने का भय बराबर रहता है। इन व्याख्याओं की पारस्परिक विप्रतिपत्ति का

---

१. **'सुमित्रानन्दन पंत', पृ० ८६।**
२. **'हिन्दी-काव्य में छायावाद'—दीनानाथ शरण, पृ० ६०।**
३. **सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ९३।**

एक कारण मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना भी है। प्रकृति में कहीं व्यष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि, कहीं मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब-दर्शन, कहीं विराट् तत्त्व का दर्शन, कहीं चेतना की अनुभूति और प्रणय-व्यापार (मानव—महादेवी की रहस्य-भावना, पृ० ३५), कहीं आत्मा के साथ आत्मा का संनिवेश अथवा एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति (शांतिप्रिय द्विवेदी—संचारिणि) आदि-आदि अनेक प्रकार की बातें कही-सुनी जाती हैं। किसी निश्चय पर पहुँचने के पहले मानव और प्रकृति के सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रकृति और मनुष्य के बीच का रागात्मक सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। प्राचीन भारतीय पौराणिक और आख्यान-साहित्य में तो प्रकृति के तत्त्वों में भी मानवीय जीवन-व्यापारों की प्रतिष्ठा की गई थी। वहाँ प्रकृति के जड़ तत्त्व भी मानवीय चेतना से अनुप्रमाणित हैं। उनके प्रति मानव-हृदय का अनुराग है; वे मानव की भाव-दशाओं पर प्रभाव भी डालते हैं। फिर भी संस्कृत और हिन्दी के सामान्य साहित्य में जिस प्रकार प्रकृति को लिया गया है, छायावादी काल की प्रतिपत्ति उससे भिन्न है। यदि कोई पुराने काव्य में किए गए प्रकृति-वर्णनों में छायावाद के अन्वेषण का साहस—नहीं, दुःसाहस—करे तो उसका प्रतिवाद करना व्यर्थ है। अभी हाल ही में एक ऐसे ही प्रयास का दुःसाहस—अथवा मुग्ध साहस— देखने में आया है जिसमें श्री गंगाधर मिश्र नामक एक विद्वान् ने वेदों से लेकर निराला जी तक के हिन्दी-संस्कृत के समस्त काव्य में छायावाद सिद्ध किया है।[1] प्रकृति में विराट् सत्ता का दर्शन (केवल परिज्ञान की दशा में भी), प्रकृति के दृश्य रूप के पीछे एक चेतना (Spirit) की अनुभूति और उसके प्रति प्रणय-व्यापार भी, रहस्यवाद के अन्तर्गत आ जाते हैं। भारतीय वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के अनुसार समस्त चराचर में—जिसमें प्रकृति भी है—एक ही सत्ता का प्रतिबिम्ब है। भाव द्वारा उसकी उपलब्धि काव्य में रहस्यवाद है। वर्ड्सवर्थ इसी प्रकार के रहस्यवादी थे। सूफी कवियों ने भी जिस तन्मयता की दशा में 'प्रेम की पीर' का दर्शन प्रकृति की विभूतियों में किया वह भी शुद्ध रहस्यवाद ही है। सूफी कवियों की प्रकृति की ओर यह प्रतिपत्ति सामान्य काव्य में पाई जानेवाली प्रतिपत्ति से, जो आलम्बन या उद्दीपन के प्रकार की अथवा आलंकारिक होती है, भिन्न है।

---

1. भारतीय काव्य में छायावाद—ले० गंगाधर मिश्र।

प्रकृति में असीम सत्ता की छाया के दर्शन से उत्पन्न होनेवाला प्रणय-व्यापार (मानव) अथवा विस्मय का भाव (दीनानाथ शरण—'हिन्दी-काव्य में छायावाद', पृ० ५८) भी रहस्यवाद ही है क्योंकि यह भावात्मक प्रसार प्रकृति में व्याप्त एक अद्वैत महाचेतन के प्रति ही है। अद्वैत-तत्त्व का बोध होने पर उसके लिए रतिभाव का उदय - विस्मय जिसका संचारी हो सकता है — स्वाभाविक है क्योंकि वह अंगी अपने ही अंश या अंग आत्मा के लिए विकर्षण का कारण नहीं बनता। हाँ, सामान्य संसारी जीवों के ऊपर होनेवाले मलावरण के कारण उनके लिए वह विकर्षक ही रहता है।

आत्मा के आत्मा से सम्बन्ध की जो बात कही जाती है वह भी अद्वैत तत्त्व से ही सम्बन्ध रखनेवाली बात है। अद्वैत के दो रूप होते हैं—ब्रह्म और जगत् का अद्वैत और जीवात्मा और परमात्मा का अद्वैत। एक आत्मा से दूसरी आत्मा के अद्वैत की अनुभूति भी एक उभयनिष्ठ तत्त्व के आधार पर ही होती है और वह तत्त्व एक सर्वव्यापक परमात्म-तत्त्व ही है।

प्रकृति में व्यष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि, मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब-दर्शन अथवा एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति आदि उक्तियों में जो दृष्टिकोण है वह छायावादी काव्य से पहले के भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। इसमें कवि अपने व्यष्टिगत अथवा व्यक्तिगत लौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब प्रकृति में देखता है। सर्वचेतनवाद का यह उपयोग—जिसे मानवीकरण (Personification) कहते हैं—अपने अन्तर की लौकिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का सूक्ष्म साधन है। जैसे निराला जी की 'जूही की कली' में लौकिक प्रेम और शृंगार की भावना को व्यक्त करने के लिए जूही की कली तथा उस दृश्य की अन्य वस्तुओं को उपलक्षण बनाया गया है। यह छायावाद है। परन्तु, जब ऐसे ही उपलक्षणों के सहारे ईश्वरीय सत्ता से सम्बन्धित अनुभूतियों का प्रकाशन होगा, तब वह रहस्यवाद का विषय होगा। प्रकृति के इन मानवीकृत तत्त्वों का प्रयोग मानव-जीवन की अन्तर्दशाओं को प्रतिबिम्बित करने के लिए जब होता है तब वे प्रतीक रूप में ही ग्रहण किए जाते हैं और उनसे समासोक्ति के ढंग पर कोई लौकिक रूप-व्यापार ही व्यक्त होता है। इस दृष्टि से देखने पर छायावाद को एक शैली कहा जा सकता है।

यद्यपि छायावाद की इतनी विस्तृत पर्यालोचना हमारे मूल विषय में नहीं है तथापि हमें इसपर इतना ध्यान इसलिए देना पड़ा क्योंकि आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्राप्त होनेवाली ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के इतना अधिक निकट हैं कि एक को समझने के लिए, व्यावर्तन के दृष्टिकोण से, दूसरे का समझना

अत्यन्त आवश्यक है; और साथ ही इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद और भ्रान्तियाँ प्रचलित रही हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट मत है कि अव्यक्त अलौकिक परोक्ष सत्ता की ओर भाव द्वारा उन्मुख होना रहस्यवाद है चाहे वह स्थूल-प्रधान शैली में हो या सूक्ष्म-प्रधान शैली में। छायावाद एक ऐसी आधुनिक काव्यधारा है जिसकी शैली, निश्चित रूप में, सूक्ष्म लाक्षणिकता और प्रतीक-योजनामय है, छन्द जिसमें बन्धन-हीन हैं और वस्तु-रूप में जिसमें लौकिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली हृदय की वैयक्तिक अनुभूतियों का स्वच्छन्द (लोक-मर्यादा के सामाजिक भय से सर्वथा निर्मुक्त) प्रकाशन किया जाता है। छायावाद की इन सभी विशेषताओं में अभिव्यंजना-प्रणाली की सूक्ष्मता का गुण सर्वप्रधान है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इन रूढ़िमुक्त प्रवृत्तियों को—जिन्हें आ० शुक्ल जी ने स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत लिया है अपनाते हुए भी छायावादी नहीं हैं। लौकिक वस्तु-विन्यास को आधार बनाकर चलनेवाला 'कामायनी' महाकाव्य छायावादी शैली का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जाता है। लौकिक मर्यादाओं से परे होने के कारण अव्यक्त ईश्वरी सत्ता को किसी रहस्यवादी महाकाव्य के बन्धन में नहीं बाँधा जा सका है। आचार्य शुक्ल जी, हरिऔध जी, प्रसाद जी, डा० नगेन्द्र आदि ने भी न्यूनाधिक इसी मत को माना है। छायावादी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों में रहस्यवाद भी एक प्रवृत्ति है।

इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद का अन्योन्य व्यावर्तक विवेचन हो जाने के पश्चात् हमें अब यह देखना है कि रहस्यवाद के सम्बन्ध में विद्वानों के क्या मत-मतान्तर हैं।

सन् १९२० के आस-पास, जब कि 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग आरम्भ ही हुआ था, रहस्यवाद की आलोचना-प्रत्यालोचना भी आरम्भ हो गई थी। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी रहस्यवाद और छायावाद में किसी प्रकार का भेद नहीं करते थे और इसके सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ कितनी उपहासात्मक, निन्दात्मक और अतात्त्विक थीं यह इसी प्रकरण में दिखाया जा चुका है; उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसके पश्चात् इस वाद की आलोचना के प्रसंग में एक सुव्यवस्थित आलोचक के रूप में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल मिलते हैं।

आ० शुक्ल जी ने रहस्यवाद की आलोचना बड़े विस्तार और सूक्ष्म विवेचन के साथ की है। आधुनिक हिन्दी-काव्य में जिस रूप में रहस्यवाद चल रहा है उस रूप में उन्हें वह पसन्द नहीं था। उनके काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण

गो० तुलसीदास जी के साहित्य के आधार पर हुआ था। उनका काव्यादर्श व्यक्त-पक्ष और लोक-मंगल की साधना को मुख्य मानकर निर्मित हुआ था। सूफी कवियों और आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी श्रीधर पाठक आदि कवियों की उस रहस्य-भावना को, जो अन्य विषयों के साथ-साथ स्वाभाविक मनोवृत्ति के रूप में प्रकट हो जाती है, उन्होंने स्वाभाविक और काव्य के उपयुक्त समझा। आधुनिक कवियों के रहस्यवाद को उन्होंने, अस्वाभाविक, वादग्रस्त, साम्प्रदायिक आदि बताकर, असीम, अव्यक्त और अनन्त को काव्यक्षेत्र से बाहर की वस्तु बताया। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद का मूल भी भारतीय नहीं है। सामी पैगम्बरी धर्मों में सम्प्रदायगत सैद्धान्तिक आपत्तियों के कारण भावमार्ग से परोक्ष-ज्ञान का उदय उन्होंने माना है। इसी कारण उनके काव्य में रहस्य-भावना का समावेश होना वे मानते हैं। इस प्रकार का धार्मिक रहस्यवाद भारतवर्ष के तान्त्रिकों, योगियों, रासायनिकों आदि में ही रहा है। काव्यक्षेत्र में उसका संनिवेश कभी नहीं किया गया।

हिन्दी का आधुनिक रहस्यवादी काव्य अंग्रेजी कवियों की ईसाई साम्प्रदायिकता के तत्त्वों से निर्मित है जो कि भारतीय-परम्परा के लिए अस्वाभाविक हैं। हमारे यहाँ अव्यक्त की जिज्ञासा (बौद्धिक) रही है, उसकी लालसा (भावात्मक) नहीं।[1] अज्ञात के प्रति हृदय के राग को वे तभी तक स्वाभाविक और काव्योपयुक्त मानते हैं जब तक कि वह इसी जगत् से सम्बन्ध रखता है। जीवन में अज्ञात के प्रति राग की आवश्यकता और व्यक्त, गोचर जगत् में ही अज्ञात की स्थिति पर उन्होंने कहा है—

"इस अज्ञात के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक स्थान है जिस प्रकार ज्ञात के राग का। ज्ञात का राग बुद्धि को नाना तत्त्वों के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त करता है और उसकी सफलता पर सन्तुष्ट होता है। अज्ञात का राग मनुष्य के ज्ञान-प्रसार के बीच-बीच में छूटे हुए अंधकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है तथा बुद्धि की असफलता और शान्ति पर तुष्ट होता है। अज्ञात के राग से इस तुष्टि की दशा में मानसिक श्रम से कुछ विराम-सा मिलता जान पड़ता है। × × × × शिशिर के अन्त में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई देती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत

---

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८१।

सुन्दर और मधुर आरोप आपसे आप होता है। ××× विश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी वृत्ति को अन्तर्मुखी करते रहते हैं।"[1]

प्रकृति के ऐसे ही अव्यक्त क्षेत्र में रूप-विधान करने के लिए अत्यन्त उत्सुक कल्पना जहाँ तक रहस्य-विधान करती है, वहाँ तक रहस्यवाद काव्य या मनोविज्ञान की सीमा के भीतर रहता है। परन्तु जब कल्पना दूरारूढ़ रूप-योजना या भावना में प्रवृत्त होकर अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार कराने लग जाती है तब वादग्रस्त और साम्प्रदायिक रहस्यवाद की सृष्टि होती है जिसे वे ठीक नहीं समझते। ऐसी दशा में अज्ञात या अगोचर किसी 'रूप' में उपस्थित होता है। उसके इस 'कल्पनात्मक' रूप को ही 'आलम्बन' बनाकर सारा 'औत्सुक्य' इसी के लिए प्रकट किया जाता है। वे कहते हैं—

"कल्पनात्मक रूपों के इसी आलम्बनत्व की प्रतिष्ठा करके साम्प्रदायिक रहस्यवाद काव्यक्षेत्र में खड़ा हुआ।"[2]

इस साम्प्रदायिक रहस्यवाद को वे इसी लिए ठीक नहीं समझते कि उसमें रहस्यानुभूति का कोई व्यक्त आधार नहीं होता। ऊहात्मक, दूरारूढ़ और अस्वाभाविक कल्पना का आश्रय लेकर वह चलता है। जहाँ और-और मनोवृत्तियों के बीच स्वाभाविक रहस्य-भावना व्यक्त होती है वहाँ वह बड़ी मधुर और रमणीय होती है—

"स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर होती है, इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं। उसका अनुभव ऊँचे कवि और-और अनुभूतियों के बीच, कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर, करते हैं। पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का सिद्धान्त-मार्ग (Creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।"[3]

इससे स्पष्ट है कि वस्तु-वर्णन के बीच आवश्यकता पड़ने पर यदि रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की जाय तो वह काव्य के सामान्य स्वरूप के प्रतिकूल नहीं होगी। परन्तु यदि केवल रहस्यवाद के लिए ही कवि लोक-भूमि को छोड़

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १२९-३०।
२. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ११५।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० १३०।

कर रहस्य-लोक में कल्पना के पंखों द्वारा उड़ने लग जाय तो वह काव्य की आत्मा के प्रतिकूल होगा; और वह अनुभूति भी अवास्तविक होगी। जायसी और कबीर साधना के प्रसंग में रहस्यवादी हुए। वादग्रस्त रहस्यवाद, जो आज चल रहा है, वास्तविक भावभूमि से ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

स्वाभाविक रहस्यवाद में प्रकृति के रूपों की संश्लिष्ट रूप-योजना होती है। संश्लिष्ट रूप-योजना के साथ-साथ भावों और विचारों की अखण्ड धारा बहुत दूर तक मिली हुई चलती है। इसी कारण उसमें चरित-काव्य या प्रबन्ध-काव्य का आश्रय भी ले लिया जा सकता है और लिया भी गया है। परन्तु साम्प्रदायिक रहस्यवाद में प्रकृति की अलग-अलग कुछ वस्तुओं की, जो कि अब रूढ़ हो गई हैं, विशृंखलित झलक ही रहती है। इस रूप-योजना में अन्विति का अभाव होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति केवल छोटे-छोटे मुक्तकों या गीतात्मक रचना-खण्डों में ही हो पाती है।[1]

आधुनिक हिन्दी काव्य की रहस्यवादी धारा पर उन्होंने अभिव्यंजनावाद (Expressionism), कलावाद (Art for art's sake) और प्रभाववाद (Impressionism) का प्रभाव माना है। इन वादों के चक्कर में आकर ही इस काव्य की रहस्य-भावना व्यक्त जगत् और जीवन से नितान्त असंबद्ध हो गई।

इस प्रकार आ० शुक्ल जी ने अपने व्यक्तवादी और लोक-संग्रही दृष्टिकोण से रहस्यवाद पर विचार किया है। स्वाभाविक और प्रकृत रहस्यवाद के वे विरोधी नहीं। वादग्रस्त रहस्यवाद को वे ठीक नहीं समझते थे। संसार में कोई भी एक वस्तु सबकी सन्तुष्टि का कारण बन जाय यह सम्भव नहीं। हमारे यहाँ ही नहीं, योरोप में भी ऐसे विचारकों और काव्य-प्रेमियों की संख्या बहुत अधिक रही है जो रहस्यवाद को ठीक नहीं समझते थे। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी प्रख्यात पुस्तक Principles of Literary Criticism में अत्यन्त उपहासास्पद ढंग से रहस्यवादियों की चर्चा की है।[2]

रहस्यवादी काव्य में बुद्धि-तत्त्व, वस्तु-विन्यास, छन्द और लय का जो अव्यवस्थित विधान रहता है उसके सम्बन्ध में एक समालोचक, ए० बी० डे० मिल ने

---

१. **'काव्य में रहस्यवाद'**,—पृ० १२९।

२. "A Diligent search will still find many Mystic Beings... ......sheltering in verbal thickets."

अपनी पुस्तक—Literature in the Century (Nineteenth Century Series) में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

"A Chaos of impression, thought or feelings thrown together without rhyme, which matters little, without metre, matters more and often without reason which matters much."

वाल्ट ह्विटमैन के मुक्त छन्द (Free Verse) विधान के अनुकरण में रहस्यवादी काव्य में छन्द और लय के अभाव की जो प्रवृत्ति चली उसकी निन्दा करते हुए स्वयं रहस्यवादी कवि, ईट्स, ने व्यवस्थित छन्द-विधान से उत्पन्न होनेवाले नाद-सौन्दर्य की ओर अपना झुकाव प्रकट किया।[1]

रहस्यवादी कविताओं को योरोप में अधिकांश लोग 'निम्न कोटि की कविता' समझा करते थे। इसका पता एक रहस्यवादी कविता की परिचायक भूमिका से लगता है।[2] आयर्लैंड के काव्य-कोष में संगृहीत ईट्स की कविताओं की आलोचना के सम्बन्ध में ब्लेक की रहस्यवादिता पर खेद प्रकट करते हुए कहा गया है कि यदि ब्लेक ने अपनी प्रतिभा को नीरस प्रतीकवाद के सीमाहीन मरुस्थल में न छोड़ दिया होता तो उसकी रचनाएँ अमर होतीं।[3] ईट्स के लिए वहीं कहा गया है कि ब्लेक से भी अधिक प्रतिभाशाली ईट्स अपनी प्रतिभा को विनाश के भयानक क्षेत्र में नष्ट करने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखला रहे हैं।[4]

इस प्रकार की समालोचनाएँ विचार-धारा का एक पक्ष सामने रखती हैं। इनकी तार्किक उपपत्तियाँ शिथिल नहीं हैं। आधारभूत दृष्टिकोण ही आलोचना

---

१. 'Ideas of Good and Evil'—W. B. Yeats.

२. 'Studies of Contemporary Poets'—Mary Sturgeon. "× × no one need begin to fear that he is to be fobbed off with inferior poetry in that account."

३. Treasury of Irish Poetry—
"and led him into limitless desert of dry symbolism."

४. 'Treasury of Irish poetry'—
"× × and one thinks with dismay that a finer and stronger genius than Blake's may some day lose itself in that limitless dreary waste."

के ढाँचे को बदल देता है। ऐसी दशा में 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'[1] कहकर ही सन्तोष करना पड़ता है। परन्तु, जब रहस्यवाद काव्य की एक सुप्रतिष्ठित धारा के रूप में गृहीत हो गया है तब उसकी निष्पक्ष समालोचना, उस काव्य के विशेष मानदण्ड के आधार पर, करना उचित ही है।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में बा० श्यामसुन्दरदास जी ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका मत है कि रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है।[2] अखिल सृष्टि का संचालन करनेवाली शक्ति को जानने की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है। पर बुद्धि द्वारा उसको उस रूप में नहीं जाना जा सकता जिस रूप में ज्ञात वस्तुओं को जाना जा सकता है। 'अपनी लगन से जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो गए हैं उन्होंने जब-जब अपनी अनुभूति का निरूपण करने का प्रयत्न किया है तब-तब अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया है।'[3]

उस अज्ञात शक्ति पर पिता, माता, प्रिया, प्रियतम, पुत्र, सखा आदि रति-भाव-व्यंजक सम्बन्धों का आरोप किया जाता है। मूर्ति और अवतार रूप में गृहीत महापुरुषों के पीछे स्थित ईश्वरत्व भी रहस्य-भावना का द्योतक है। परन्तु भारतीय रहस्य-भावना सर्वात्मवाद-मूलक है। "चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्म-वाद कविता के क्षेत्र में जाकर, कल्पना और भावुकता का आधार पाकर, रहस्यवाद का रूप पकड़ता है।"[4] ब्रह्मवाद के कारण रहस्यवादी प्रकृति के कण-कण में ईश्वरीय सत्ता को देखता है।

रहस्यवाद का यह विवेचन बाबू साहब ने कबीर आदि सन्त कवियों के सम्बन्ध में किया था। अतः आधुनिक काव्य के रहस्यवाद के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन इसमें नहीं मिलता है। उनके मत में अज्ञात की जिज्ञासा पर रति-भावात्मक सम्बन्धों का आरोप, सर्वात्मवादी दृष्टि रहस्यवाद की विशेषताएँ हैं। लगन के द्वारा सिद्ध लोग ही इस भावुकतामय आभास को प्राप्त कर पाते हैं।

रहस्यवाद के व्याख्याताओं में प्रसाद जी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब आलोचक—विशेषतया आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—रहस्यवाद को 'अभारतीय'

---

१. रघुवंश—६।३०, कालिदास।
२. कबीर-ग्रन्थावली—भूमिका—बा० श्यामसुन्दरदास, पृ० ५४।
३. ,, ,, ,, ,, ,, ५५।
४. ,, ,, ,, ,, ,, ५६।

तथा 'अंग्रेजी और बँगला साहित्य की नकल' कहने लगे[1] तब प्रसाद जी ने इसकी व्याख्या की और इसे विशुद्ध भारतीय सिद्ध किया।

साहित्य-शास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों की जो व्याख्याएँ प्रसाद जी ने दी हैं उनका आधार दार्शनिक है। उन्होंने दर्शन की आधार-भूमि पर रहस्यवाद को खड़ा करके वेदों, उपनिषदों, तान्त्रिकों, रासायनिकों, सिद्धों, योगियों, सन्तों, सूफियों, कहीं-कहीं भक्तों, संस्कृत नाटकों आदि में सर्वत्र रहस्यवाद को सिद्ध किया है। प्रसाद जी का रहस्यवाद आनन्द-भावना को लेकर चलता है। काव्य को वे सबसे बड़ा अध्यात्म समझते हैं।[2] 'कविः मनीषी परिभूः' के श्रुतिवाक्य के अनुसार कवि को उन्होंने मनीषी (आध्यात्मिक) कहा है।[3] कवि और कवि-कर्म पर अध्यात्म का आरोप उन्होंने इसलिए किया है कि काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना जाता है। काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति होती है। काव्य में श्रेय (सत्य) और प्रेय (चारु) दोनों का समन्वय है। आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।[4] काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।[5]

दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित काव्य और रहस्यवाद की इस व्याख्या को सामान्य-अदार्शनिक भाषा में यों कहा जा सकता है कि श्रेय सत्य (तात्त्विक चरम सत्ता) साधारण लौकिक जनों के लिए प्रेम (आनन्दमय सौन्दर्य) से अलग रहता है। आत्मा की मनन-क्रिया की विशेष अवस्था में अर्थात् जब कवि साधारणीकरण की रसानन्दमयी अन्यजन-विलक्षण दशा में होता है तब श्रेय का प्रेय के साथ ग्रहण होता है। यही काव्य है। तात्पर्य यह है कि कवि का अपना चैतन्य उस महाचैतन्य (श्रेय) को उसके अपने स्वाभाविक गुण, परम सौन्दर्य, के साथ ग्रहण कर लेता है और उसे अपने में और उसमें असंदिग्ध (विकल्पहीन) ऐक्य का दृश्य मिल जाता है। साधारण व्यक्तियों को यह नहीं होता। कवि मनीषी या द्रष्टा होने के कारण उस अ-लोक-सामान्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है। आत्मा को अपने वास्तविक मूल-स्वरूप (ब्रह्म)

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३ और २१।
२, ३. ,, ,, ,, ,, प्राक्कथन, पृ० ३।
४. ,, ,, ,, ,, पृ० ११।
५. ,, ,, ,, ,, पृ० १९।

की संकल्पात्मक (निश्चयात्मक) अनुभूति होने से ही यहाँ आशय है, जैसा कि 'अहं ब्रह्मास्मि' के महावाक्य में विहित है। इसमें भी सर्व संशयों का नाश माना गया है।[1] आत्मा की यही संकल्पात्मक मूल अनुभूति जब काव्य में मुख्य (प्रधान) धारा (विषय) बन जाती है तब रहस्यवाद होता है।

इस सारे कथन का अभिप्राय यही है कि भावदशा में आत्मा का अद्वैत-तत्त्व-बोध अर्थात् परोक्ष व्यापक सत्ता की अनुभूति रहस्यवाद है। इतने दार्शनिक प्रपंच का कारण एक तो इसकी भारतीयता की व्यंजना करना और दूसरे प्रसाद जी की सहज दार्शनिक प्रकृति है। किन्तु जैसा कि आ० शुक्ल जी ने कहा है कि यद्यपि रहस्य-भावना अभारतीय नहीं है; परन्तु वेद, उपनिषद्, तन्त्र रसायन और योग काव्य नहीं माने जाते। रसानन्द को लक्ष्य बनाकर चलने-वाले नाटक भी आनन्दमयी रहस्य-भावना का प्रदर्शन नहीं करते। रस के आनन्द का ब्रह्मानन्द-सहोदर होना उसे ईश्वरीय अलक्ष्य सत्ता से सम्बद्ध नहीं बनाता। लोक में प्रतिष्ठित आनन्द का तत्त्व, यद्यपि सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म की आनन्दात्मकता का ही व्यक्त लौकिक स्वरूप है, परन्तु वह अपनी सभी अभिव्यक्तियों में ईश्वरीय नहीं होता। प्रसाद जी की मान्यता में केवल इतनी आपत्तियाँ ही हैं; फिर भी रहस्यवाद का तात्त्विक स्वरूप इसमें अक्षुण्ण है।

मानव और प्रकृति के जिस सम्बन्ध को लेकर छायावाद कहा जाने लगा है उसे प्रसाद जी प्रकृति या शक्ति का रहस्यवाद कहते हैं। उनके विचार में यह अद्वैत-रहस्यवाद है। वे कहते हैं—"यह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।"[2]

इस भावना में 'अहं ब्रह्मास्मि' से आगे का भाव, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', जो कि ब्रह्म और जगत् के अद्वैत से सम्बन्ध रखता है, व्यक्त होता है।

रहस्यवाद का परिचय देते हुए हरिऔध जी ने कहा है[3] कि कवि के हृदय-दर्पण पर ईश्वर की लोक-नियामक सत्ता का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, अपनी-अपनी अनुभूति और मेधाशक्ति के द्वारा इसी का वर्णन वे करते आए हैं।

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ भाग० १।२।२१।

२. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० ३९।

३. 'रस, साहित्य और समीक्षाएँ'—हरिऔध—पृ० १३०, १२५।

इसका यथातथ्य ज्ञान असंभव है। इसी प्रतिबिम्ब के वर्णन का नाम रहस्यवाद है। रहस्यवाद में एक प्रकार की गम्भीरता और गहनता है।

हरिऔध जी की यह सीधी-सादी व्याख्या रहस्यवाद का परिचय-मात्र देती है। काव्य के इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित सिद्धान्त-पक्ष का इसनें समावेश नहीं है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक बा० गुलाबराय जी ने भी रहस्यवाद पर वस्तृत विचार किया है। उन्होंने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"रहस्यवाद उस भाव प्रधान मनोदशा की शाब्दिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो व्यक्ति और विश्व के मूल में स्थित चरम सत्ता के अव्यक्त या व्यक्त रूप के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने पर या करने की इच्छा से प्राप्त होती है।"[1]

यह परिभाषा रहस्यवाद के स्वरूप का ठीक प्रकार से प्रकाशन करती है। 'चरम-सत्ता के व्यक्त रूप के साथ रागात्मक सम्बन्ध की दशा की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जब भक्त अपने विश्वास और श्रद्धा के अतिरेक की भाव-योग की दशा में उपास्य के व्यक्त-रूप के पीछे रहनेवाले अव्यक्त रूप का व्यक्त रूप से अभेद देखता है तब इस प्रकार का सम्बन्ध होता है।[2] आगे चलकर वहीं फिर कहा गया है कि रहस्यवाद के प्रसंग में ऐसी भक्ति-भावना की समीक्षा नहीं की जा सकती।[3]

श्री गुलाब राय जी की पुस्तक का जैसा नामकरण है 'रहस्यवाद और हिन्दी-कविता,' उसके विषय की व्यापकता की दृष्टि से परिभाषा में 'व्यक्त' शब्द का समावेश चाहे भले ही कर लिया जाय, पर, वस्तुतः रहस्यवादी काव्य जिस रहस्य-भावना को लेकर चलता है उसकी दृष्टि से यह शब्द अनावश्यक ही है।

इसी प्रकरण में की गई छायावाद की विवेचना के प्रसंग में हमने अनेक ऐसे आलोचकों के मत देखे हैं जिन्होंने छायावाद और रहस्यवाद में भेद बताने का प्रयत्न करते हुए रहस्यवाद की व्याख्या भी की है। श्रीमती महादेवी वर्मा, पं० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सुधीन्द्र, श्री विश्वम्भर मानव, प्रो० शिवनन्दनप्रसाद, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि विद्वानों के मतों का उल्लेख, इस प्रसंग में, किया जा चुका है; और उनके मतों के गौरव-लाघव पर भी विचार किया जा चुका है। विद्वानोंके

---

१ 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता'—बा० गुलाबराय, पृ० १।

इस दल ने आध्यात्मिक अनुभूति, समष्टि-सौन्दर्य-दृष्टि, प्रकृति में व्याप्त अव्यक्त सत्ता पर मधुर व्यक्तित्व का आरोप करके उसके प्रति प्रेम-व्यापार द्वारा उससे तादात्म्य प्राप्त करना आदि-आदि विशेषताओं को रहस्यवाद माना है। रहस्यवाद सम्बन्धी इन मान्यताओं की सीमा और उनके औचित्य पर भी हम विचार कर चुके हैं।

छायावाद के सम्बन्ध में विद्वानों में जितना अधिक मतभेद हमें मिलता है, रहस्यवाद के सम्बन्ध में उतना अधिक नहीं मिलता है। प्रायः सभी विद्वानों के मतानुसार रहस्यवाद की विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

रहस्य-भावना मनुष्य की अत्यन्त स्वाभाविक वृत्ति का परिणाम है। दृश्य और व्यक्त जगत् के पीछे एक ऐसी व्यापक, अदृश्य, अगोचर सत्ता वर्तमान है जो कि भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले नामरूपों में समान रूप से व्याप्त है। इसको जानने की इच्छा मनुष्य में स्वभावतया उत्पन्न हो जाती है। बौद्धिक व्यापार द्वारा जब उसे जानना सम्भव नहीं होता तब कविजन भाव द्वारा उसका आभास प्राप्त करते हैं तथा अपने में और उसमें एवं जगत् में और उसमें एकात्मता की अनुभूति करते हैं। भाव द्वारा मिला हुआ उसका आभास उसके प्रति उत्कट रति-भाव उत्पन्न कराता है और फलस्वरूप उसके प्रति अनेक लौकिक सम्बन्धों की—विशेषतया मधुर दाम्पत्य-सम्बन्ध की—उद्भावना हो जाती है। विरह की तीव्र पीड़ा की मार्मिक अनुभूति करता हुआ साधक अन्त में उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। ये रहस्यात्मक अनुभूतियाँ रहस्य-द्रष्टा के अपने निजी अनुभव होते हैं। इन अनुभवों का वर्णन पूर्णतया कर सकना सम्भव नहीं है।

बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त होते-होते पश्चिम की नवीन चेतनाओं का प्रभाव हमारे देश के अनेक सांस्कृतिक क्षेत्रों में पड़ने लगा। साहित्य में भी नवीन दृष्टियाँ उदित हुईं। आलोचना के मान बदले। समाजवादी दृष्टिकोण से प्रभावित आलोचकों ने रहस्यवाद की व्याख्या भी सामाजिक पृष्ठभूमि पर की। अज्ञात और असीम के प्रति उत्कट अभिलाष से भरी हुई रहस्यवादी कवि की दृष्टि ज्ञात-सीमाओं के प्रति तीव्र असन्तोष से भरी हुई है। "यह असन्तोष और महत्त्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति की है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने के लिए आकुल हो रहा था।"[1] ज्ञात-सीमा के बाहर उसने समस्त विषमताओं का परिहार कर लिया था। रहस्यवाद में एक सार्वभौम तत्त्व की जो भावना निहित

---

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह, पृ० ३८।

है उसे 'आधुनिक विश्ववाद की ही आध्यात्मिक छाया'[1] के रूप में नए समालोचकों ने माना है। किन्तु रहस्यवाद में जिस मदहोशी की इच्छा प्रकट की जाती है वह वस्तु-स्थिति को भूलने के लिए है।

इसी प्रकार रहस्यवाद की अन्यान्य विशेषताओं की व्याख्या नवीन सामाजिक विश्ववादी आदर्शों के अनुकूल की जाने लगी है। वस्तुतः जीवित साहित्य सामयिक प्रत्यावर्तनों और प्रगतिशील नए मूल्यों का संकलन करता चलता है और इसी में उसका जीवन निहित है। संभव है आगे चलकर जो नवीन उत्थान-पतन हमारे सामने आवें वे किसी नूतन व्याख्या को प्रस्तुत करें।

रहस्यवाद की इन सामान्य प्रवृत्तियों का, जिनका परिचय हमें विद्वानों के भिन्न-भिन्न मतों का अध्ययन करने से हुआ है, ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् आज के रहस्यवाद के सम्बन्ध में दो-एक विशेष तथ्यों का विचार भी कर लेना चाहिए। साधारणतया रहस्यवाद का सम्बन्ध धर्म, दर्शन अथवा अध्यात्म से माना जाता हैं। हिन्दी के पुराने रहस्यवादी कवि नश्वर और दुःखात्मक जगत् से उदासीन होकर ईश्वर-मार्ग के अनुगामी हुआ करते थे। उनकी अपनी आस्था के अनुसार उनका साधन-मार्ग होता था। उसी पर चलकर वे अपनी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार रहस्य-भावना में प्रवृत्त होते थे तथा ईश्वर-सिद्धि करते थे। उनका जीवन सद्वृत्तियों के विकास में लगा रहता था और अपनी साधना के कारण उन्हें तत्त्वोपलब्धि वास्तव में होती थी। आज के रहस्यवाद में यह बात नहीं है। प्रायः जितने भी कवि आज रहस्यवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं उन सबका निजी जीवन सामान्य सांसारिक जन का सा है। छायावादी प्रवृत्ति के सांस्कृतिक कारणों ने उन्हें रहस्यवादी बनाया है।[2] विश्व की विषमता, नवीन जीवन-दर्शन, विज्ञान की वृद्धि के कारण उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ ज्ञान-प्रसार और तत्सम्बन्धी चिन्तन आदि कारणों ने उन्हें रहस्यवादी बनाया है। आज के जीवन-दर्शन में जिस सर्वमानवतावाद की प्रतिष्ठा की गई है उसकी अनुभूति आज कल्पना द्वारा की जा रही है, वास्तविक साधना द्वारा नहीं।

छायावादी भावना वास्तव में द्विवेदी-युग की भौतिकता के प्रतिवर्तन के रूप में उदित हुई। धर्म के साम्प्रदायिक विधि-विधानों का यह युग नहीं है। दार्शनिक

---

१. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवरसिंह: पृ० ४६।

२. 'छायावाद रहस्यवादी प्रवृत्ति का प्राधान्य है।'—डा० नगेन्द्र। ''रहस्यवाद और हिन्दी कविता''—प्रेमनारायण टण्डन, पृ० ११२।

चिन्तन की उपलब्धियों को भावुकता और कल्पना के साथ काव्य में उतारने में आज के कवि सफल हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। साधना के अभाव, और वृत्ति के निर्वाह की सचाई की विशेषता का इन कवियों में उल्लेख करते हुए 'मानव' ने इनके रहस्याभास की सम्भाव्यता को भी इस प्रकार कहा है[1]—

"अपनी वृत्ति की सजगता और निर्वाह कवि की सच्ची साधना है। × × × × पर पथ पर चलते हुए भी गन्तव्य स्थान बराबर मन में घुमड़ता रहता है।"

रहस्यवाद वास्तव में दर्शन और अध्यात्म की उपलब्धियों को काव्य में भावुकता के साथ संनिविष्ट करता है। परन्तु सभी प्रकार का अध्यात्म-चिंतन रहस्यवाद की श्रेणी में नहीं आता। कुछ लोग केवल आध्यात्मिक चिंतन-धारा का वर्णन काव्य में देखकर चट उसे रहस्यवाद समझने लग जाते हैं। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए निराला जी की नीचे दी हुई कविता में केवल अध्यात्म-चिन्तन है; रहस्यवाद नहीं—

> व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद।
> भेद उपजाता भ्रम— माया जिसे कहते हैं। (निराला)

दर्शन और अध्यात्म का केवल वर्णन ही देखकर कुछ लोगों ने मीरा और तुलसी को भी रहस्यवादी कहने का साहस किया है। मीरा की साधना में सूफियों के प्रभाव से कहीं रहस्यवाद की झलक दिखाई दे जाती है, जैसा कि हम प्रथम प्रकरण में दिखा चुके हैं। परन्तु वह मीरा की प्रधान प्रवृत्ति नहीं है। इसी प्रकार अंग्रेज समालोचक, स्पर्जन, के आधार पर गोस्वामी तुलसी-दास जी के 'केशव कहि न जाय का कहिये' पद में आध्यात्मिक रहस्यवाद बताना भी अनुपयुक्त है।[2] 'अलख' को कड़ी फटकार देनेवाले गोस्वामी जी ने इस पद में ईश्वर की लीला-सृष्टि की विलक्षणता बतलाकर सीधी-सादी भक्ति करने का उपदेश दिया है।

जैसा कि कह चुके हैं, आधुनिक रहस्य-भावना का उदय छायावाद के अन्तर्गत हुआ है। छायावाद का कला-पक्ष लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और सूक्ष्म-प्रतीक-योजना के कारण वस्तु-वर्णन का अत्यन्त सूक्ष्म-विधान करता है। प्रेम और सौन्दर्य के वर्णन भी छायावाद में अत्यन्त संवेगमय, गंभीर और व्यापक प्रभाव-

---

१. 'महादेवी की रहस्य-साधना'—'मानव', पृ० ४४।
२. सद्गुरुशरण अवस्थी—'रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप'।

वाले हैं। हृदय की स्वच्छन्द गति के प्रवाह में इनका विनियोग लौकिक क्षेत्र में यथेच्छ होता है। इस कारण छायावादी रचनाओं में अनेक स्थानों में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कहाँ लौकिक आलम्बन है और कहाँ अलौकिक। प्रसाद जी के 'आँसू' में इसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उनके समसामयिक जानकार लोग उसका आधार पार्थिव बताते हैं। परन्तु वर्णनों से उसकी अलौकिकता स्पष्ट झलकती है।

आज का रहस्यवाद वैयक्तिकता की चेतना से बहुत अधिक व्याप्त है। वस्तु-वर्णन की दृष्टि से पुराने रहस्यवादी कवि एक निश्चित दार्शनिक प्रणाली में, जो कि उनके सम्प्रदाय की परम्परा के अन्तर्गत होती थी, रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति करते थे। परन्तु आज के रहस्यवादी कवियों ने, दर्शन का पर्याप्त अध्ययन करके भी, अपने रहस्यवाद का उसे आधार नहीं बनाया। इस युग में पुरानी रूढ़ियों से दबे हुए व्यक्ति ने अपने उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया है। कवियों ने बाहरी जगत् में अपने मनोजगत् का ही प्रसार देखा है। फल स्वरूप रहस्यवादी काव्य में अव्यक्त प्रियतम के प्रति अपने निजी सुख-दुःख, व्यथा-वेदना, आकांक्षा आदि भावों की संवेगमयी व्यंजना की गई। आत्म-प्रसार की इस चेष्टा में विश्व की विषमताओं से प्रताड़ित 'अहं' को शान्ति और सान्त्वना मिली। रहस्यवादी काव्य में वैयक्तिकता अथवा अहं-परायणता का यही कारण है।

आज के रहस्यवाद में प्रकृति का भी बहुत योग है। छायावादी काव्य में प्रकृति को जितना वैभव मानवीकरण आदि नई पद्धतियों में प्राप्त हुआ था उस पूरे वैभव के साथ प्रकृति का उपयोग रहस्यवादी काव्य में मिलता है। प्रकृति सम्बन्धी इस रहस्यवाद पर अंग्रेजी कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। पन्त जी के रहस्यवादी काव्य में प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद ही अधिक है। छायावाद में प्रेम और सौन्दर्य की भावना का जो सूक्ष्म परिष्कार हुआ उसकी अभिव्यक्ति भी रहस्यवादी काव्य में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। प्रसाद, महादेवी यदि प्रेम-भावना-विशिष्ट हैं तो निराला जी का रहस्यवाद आध्यात्मिक अधिक है।

हिन्दी-काव्य के आधुनिक युग में जो रहस्यवादी धारा चली है उसकी प्रमुख विशेषताएँ इसी प्रकार हैं। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा इस धारा के प्रमुख कवि हैं। डा० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि इस धारा के अन्य कवि हैं।

पंञ्चम परिच्छेद

रहस्यवाद के प्रमुख कवि—प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही नवीन प्रवृत्तियों का उदय होना आरंभ हो गया। इन नई प्रवृत्तियों में से जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की पुरानी रूढ़िबद्ध धारा को विषय-विस्तार की ओर अग्रसर किया, बहुतों का सूत्रपात स्वयं भारतेन्दु ने अपने कृती कर-कमलों से किया था। इन प्रवृत्तियों में कविजनों के हृदय की वह अकुलाहट, जो कि पुराने रीति-काव्य की शास्त्रीय परम्पराओं के तंग घेरे से निकलकर उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण में साँस लेने के लिए थी, प्रकट हो रही थी। भारतेन्दु के जीवन-काल में ही श्रीधर पाठक ने, हृदय की स्वच्छन्द गति का अनुसरण करते हुए, मानव और प्रकृति के क्षेत्र में अपनी सरल और अकृत्रिम भावधारा को प्रवाहित किया। इसी हार्दिक भाव-प्रवाह के बीच कहीं-कहीं पाठक जी की वृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक रूप से रहस्यात्मक भी हो गई है। काव्य की इस स्वच्छन्द धारा के चलने के कुछ समय पश्चात् ही द्विवेदी जी की नीरस इतिवृत्तात्मकता के विरोध में हिन्दी में छायावाद का आगमन हुआ। सन् १९१३ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' का जब प्रथम बार प्रकाशन हुआ, तब कुछ कवि छायावादी शैली में परोक्ष को लक्ष्य बनाकर गीत-रचना करने में प्रवृत्त हुए। श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय ने इस नवीन रहस्यवादी प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए काव्य-रचना की। ये रचनाएँ उस समय की प्रमुख साहित्यिक मासिक पत्रिका, सरस्वती, में प्रकाशित होती रहती थीं। गुप्त जी की इस प्रकार की रहस्यवादी रचनाओं का एक संग्रह, आगे चलकर, 'झंकार' के नाम से प्रकाशित हुआ। मुकुटधर पाण्डेय के रहस्यवादी गीत भी 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे; पाण्डेय जी की रचनाओं के प्रकाशन का काल सन् १९२० के कुछ पहले से आरम्भ होकर कुछ आगे तक का है। उसी समय पं० बदरीनाथ भट्ट के कुछ गीत भी सन् १९१३ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी यदा-कदा रहस्यवादी गीत लिख दिया करते थे। उनकी दो-एक रचनाएँ सन् १९१५ और १९१६ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। उसी समय राय कृष्णदास की रचनाएँ भी सामने आईं।

इसी बीच, बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में, इस काव्यधारा में अवगाहन करने के लिए एक अमर कलाकार की प्रतिभा उतरी। हमारा अभिप्राय स्व० बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी से है। प्रसाद जी ने छाया, रहस्य के अमर गीत गाए। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्रीमती महादेवी वर्मा भी छाया, रहस्य लोक के भव्य कलाकार के रूप में प्रकट हुए। यह बृहच्चतुष्टयी हिन्दी-साहित्य को ईश्वर की अमर देन है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी इस काव्यधारा का अनुसरण उत्साह-पूर्वक किया। डा० रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, नरेन्द्र शर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि इस धारा के अन्य कवि हैं। इन प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और बहुत से साधक भी इस काव्य-धारा का पोषण करने में लगे रहे।

रहस्यवादी काव्य की इस प्रमुख धारा के अतिरिक्त लौकिक वृत्त के बीच में उस स्वाभाविक रहस्य-भावना का प्रकाशन भी, जैसा कि श्रीधर पाठक कर चुके थे, कहीं-कहीं हुआ। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खण्डकाव्य—'स्वप्न' में प्रकृत प्रसंग के बीच कहीं-कहीं रहस्य-भावना का आभास दिया है। रहस्य-वादी प्रवृत्ति को आत्म-प्रकाशन के लिए दूसरा क्षेत्र गद्य-गीतों का मिला। गद्य-गीत लिखने की परम्परा का सूत्रपात करने की आदि-प्रेरणा श्री रवीन्द्र-नाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' से मिली है। उसी के आदर्श पर हिन्दी में गद्य-गीतों की रचना राय कृष्णदास, वियोगी हरि आदि ने की जिनमें रहस्योन्मुख आध्यात्मिक प्रवृत्ति की रमणीय अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी की आधुनिक रहस्यवादी काव्यधारा का प्रवाह-क्षेत्र प्रायः यही है। अब हम इस धारा की प्रमुख बृहच्चतुष्टयी के द्वारा अनुष्ठित रहस्यवाद का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं तथा इसके उपरान्त अन्य रहस्यदर्शियों का विवरण भी दिया जायगा।

स्व० बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित परिवार में सं० १६४६ में हुआ था। १५ वर्ष की आयु से ही प्रसाद जी ने काव्य-रचना आरंभ कर दी थी। प्रसाद जी पहले व्रजभाषा में ही काव्य-रचना करने लगे थे। उनकी आरंभिक रचनाएँ, जो व्रजभाषा में हैं, 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुई थीं। सन् १६१३ में प्रसाद जी ने खड़ी बोली में रचना करना आरंभ किया और कानन-कुसुम, महाराणा का महत्त्व, करुणालय और प्रेम-पथिक के नाम से, उसी समय, उनके कुछ काव्य-संग्रह निकले। 'कानन-कुसुम'

में साधारणतया वैसी ही रचनाएँ हैं जैसी द्विवेदी-युग में प्रायः निकला करती थीं। 'महाराणा का महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' अतुकान्त काव्य-संग्रह हैं। सन् १९१८ में 'झरना' प्रकाशित हुआ। सन् १९२७ में 'झरना' का जो दूसरा संस्करण निकला उसमें नई रहस्यवादी कविताओं का संकलन था। उसी समय 'लहर' का प्रकाशन भी हुआ। सन् १९३१ में प्रसाद जी की विशिष्ट रचना 'आँसू' प्रकाशित हुई। उसके चार वर्ष बाद सन् १९३५ में प्रसाद जी की अमर कृति कामायनी का प्रकाशन हुआ और उसके दो वर्ष पश्चात् प्रसाद जी का निधन हो गया।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। प्रसाद जी भावुक और सरल-हृदय कवि थे। बहुमुखी प्रतिभा उन्हें ईश्वर से वरदान के रूप में प्राप्त हुई थी। प्रसाद जी की कवि-कल्पना अत्यन्त सुकुमार थी और सदा मनोरम रूप-विधान करने में प्रवृत्त रहती थी। वे चाहे नाटक लिखते, चाहे उपन्यास अथवा कहानी, उनका कविरूप सदा सबके ऊपर रहता। जीवन में उन्हें जो अनेक प्रकार के संघर्ष और असफलताओं का सामना करना पड़ा, उसने उनकी प्रवृत्ति को दार्शनिक बना दिया था। आरंभिक काल में उनकी वृत्ति दुःखवाद का आधार लेकर चलनेवाले बौद्ध दर्शन की ओर रही; परन्तु आगे चलकर दार्शनिक साहित्य के अधिकाधिक अनुशीलन के द्वारा वे आनन्द-वादी वेदान्त-दर्शन और फिर शैव-आगम की ओर झुक गए। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की रचना में दर्शन मानों एक आधार-भूमि के समान है। अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का निर्माण प्रसाद जी ने दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही किया है, जैसा कि हम पिछले प्रकरण में दिखा चुके हैं।

प्रसाद जी का सरस भावुक हृदय प्रेम और सौन्दर्य की मधुमयी भावना में सदा लीन रहा है। प्रेम और सौन्दर्य की मादक भावनाओं को भी प्रसाद जी ने दार्शनिक रूप में ग्रहण किया है। प्रसाद जी की प्रेम और सौन्दर्य की भावना लौकिक क्षेत्र में भ्रमण करती हुई अध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाती है। कहीं-कहीं तो प्रेम और सौन्दर्य के लौकिक-अलौकिक रूप में भेद करना भी कठिन हो जाता है। इसी कारण आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को प्रसाद जी के सम्बन्ध में यों कहना पड़ा—

"अतः इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस प्रसार के लिए रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।"[1]

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५९२-९३।

आचार्य शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण, कम से कम, 'आँसू' पर तो घटि होता ही है, क्योंकि प्रसाद जी के समसामयिक कुछ जानकार लोगों क ऐसा मन्तव्य है कि 'आँसू' के प्रेम का आलम्बन लौकिक है। जो हो आँसू में ऐसे स्थल पर्याप्त हैं, जिन्हें हम यथास्थान देखेंगे, जिनसे इस प्रेम कं आध्यात्मिकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रसाद जी ने प्रेम और सौन्दर्य को 'काम-कला की सौन्दर्योपासना'[1] कहकर इन भावों की दार्शनिकता की ओर संकेत किया है। स्थूल ऐन्द्रियक रूप से आगे बढ़कर प्रसाद जी ने प्रेम के विशुद्ध व्यापक रूप को पहचाना था—

घने प्रेमतरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।—स्कन्दगुप्त, पृ० ५४।

इसी प्रकार सौन्दर्य की भावना भी अव्यक्त के रूप को अधिक से अधिक सुन्दर बनाने के लिए है। प्रसादजी ने सौन्दर्य के उत्कर्ष का विलक्षण योग संघटित किया है—

चंचला स्नान कर आवे चंद्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी वैसी॥ आँसू, पृ० २४।

× × ×

लावण्य शैल राई सा जिसपर वारी बलिहारी।
उस कमनीयता कला की सुषमा थी प्यारी प्यारी॥ आँसू, पृ० २०।

अलौकिक सौन्दर्य से सम्पन्न यही अव्यक्त सत्ता प्रसाद जी के लिए साध्य है। जगत् के भिन्न नाम-रूपों में इसकी सत्ता छिपी है। माया के कारण जीव, इसी का स्वरूप होते हुए भी, अपने को भूल जाता है। जीव की आत्मा अपने मूल-स्वरूप की जब विकल्प-हीन अनुभूति काव्य में करने लगती है तभी उसे रहस्यवाद कहते हैं।[2] जीव को उसकी सत्ता का आभास कहीं न कहीं मिल ही जाता है और 'कौन ?' का एक बड़ा प्रश्न उसके सामने आ जाता है। अव्यक्त की उपलब्धि का मार्ग श्रद्धा का आश्रय लेकर ही पूरा हो पाता है। बुद्धि तो बीच में ही रह जाती है।

प्रसाद जी के रहस्यवाद का स्रोत भारतीय दर्शन—विशेषतया शैव आगम—

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—प्रसाद, पृ० २१

२. "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।" 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—प्रसाद, पृ० १९।

हैं। कामायनी में साधना की समस्त प्रक्रिया शैव आगम के अनुसार है। इस तत्त्व के प्रति तीव्र जिज्ञासा, वेदनामय प्रेम, बुद्धिवाद का विरोध आदि सभी आवश्यक बातें प्रसाद जी के रहस्यवाद में हैं। प्रसाद जी के रहस्यवाद की समस्त प्रक्रिया में प्रेम और सौन्दर्य की वृत्ति प्रधान है। अतः प्रसाद जी प्रेम और सौन्दर्य के रहस्यवादी कवि कहे जाते हैं। 'प्रेम-पथिक' और 'कानन-कुसुम' में, जिनमें काव्य-शैली पुराने ढंग की और वर्णन वस्तु-प्रधान हैं, रहस्यवाद के मौलिक तत्त्व प्राप्त होने लगते हैं। उनमें ईश्वर के व्यापक निर्गुण रूप पर आस्था, उसके प्रति हृदय की प्रेमवृत्ति, उसकी विचित्र लीला के प्रति विस्मय आदि तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होते हैं जो कि आगे चलकर रहस्यवादी काव्य में परिणत हो जाते हैं।

'प्रेम-पथिक' में प्रसाद जी ने ईश्वर की लीला की विचित्रता का स्पष्ट वर्णन किया है—

लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है।

प्रेम-पथिक, पृ० ३।

'कानन-कुसुम' में कवि ने ईश्वर के अव्यक्त रूप का वर्णन करते हुए उसके प्रेम और कारुण्य-भाव का स्मरण किया है—

जयति प्रेमनिधि! जिसकी करुणा नौका पार लगाती है।
जयति महासंगीत! विश्व-वीणा जिसकी ध्वनि गाती है॥

कानन-कुसुम—वंदना, पृ० ३।

इसी में कवि ने व्यक्त सगुण-रूप की एकदेशता से हटकर ईश्वर के उस रूप को नमस्कार किया है जो सर्वव्यापी है और जिसकी उपासना कोई भी कहीं भी कर सकता है—

जिस मन्दिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है।
जिस मन्दिर में रंक नरेश समान रहा है॥
जिसके हैं आराम प्रकृति कानन ही सारे।
जिस मन्दिर के दीप इन्दु दिनकर औ' तारे॥

कानन-कुसुम—नमस्कार, पृ० ४।

ईश्वर के इस रूप का सौन्दर्य भी ऐसा है कि जिसको देखने से कभी तृप्ति नहीं होती है—

देख लो जीभर इसे देखा करो इस कलम से चित्त पर रेखा करो।
लिखते लिखते चित्र वह बन जायगा, सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायगा॥

कानन-कुसुम—सौन्दर्य, पृ० ५१।

ऐसे विचित्र सौन्दर्य के प्रति प्रेम आपसे आप उत्पन्न हो जाता है। उस प्रेम की पीड़ा भी इतनी गंभीर होती है कि पीड़ा के सामने पीड़ा का आलंबन तिरोहित हो जाता है—

इसे तुम्हारा एक सहारा किया करो इससे क्रीड़ा।
मैं तो तुमको भूल गया हूँ पाकर प्रेममयी पीड़ा॥

कानन-कुसुम—हृदय-वेदना, पृ० २३।

इस प्रकार आरंभ की इन रचनाओं में रहस्यवाद के बीज बराबर प्राप्त होते हैं। इसके उपरान्त सन् १९२७ में 'झरना' का जो द्वितीय संस्करण निकला उसमें प्रसाद जी ने छायावादी शैली को अपनाया। छायावाद का आवरण पहन-कर प्रसाद जी की रहस्य-भावना अधिक सूक्ष्म, संवेदनशील और व्यापक होकर अपने वास्तविक रूप में सामने आई। 'लहर' का प्रकाशन भी उसी समय हुआ है। इन दोनों रचनाओं में ही सौन्दर्य, प्रेम और वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म, मार्मिक और व्यापक रूप में हुई है और आध्यात्मिक पक्ष का स्पर्श करती हुई परिलक्षित होती है।

वेदना के भार से लदा हुआ कवि जैसे-तैसे प्रियतम के दरवाजे पर पहुँच जाता है और द्वार खोलने का अनुरोध करता है—

शिशिर-कणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम का मारुत लेकर शीतलता का भार॥

× × ×

सुप्रभात मेरा भी होवे इस रजनी का दुःख अपार।
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो, प्रियतम, खोलो द्वार॥

खोलो द्वार—झरना—पृ० २१।

किसी अज्ञात विश्व में रहनेवाले प्रियतम के अनुपम सौन्दर्य की एक किरण धरा पर विचरण करने के लिए आ जाती है और यहाँ शिशु के से स्वच्छ, अनघ और मुग्ध मानस में वह प्रतिफलित होती है—

किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती सी तुम कौन?
अरुण शिशु के मुख पर सविलास, सुनहरी लट घुँघराती कान्त
नाचती हो जैसे तुम कौन? उषा के अंचल में अश्रान्त।

झरना—किरण, पृ० २८।

वृक्षों के नीचे छाया-प्रकाश का मधुमय खेल हुआ करता है। इस छाया-प्रकाश की तरह ही यहाँ भी कोई व्याप्त है—

कौन ? प्रकृति के मधुर काव्य सा वृक्ष पत्र की मधुछाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है अमृत सदृश नश्वर काया में॥[1]

रहस्य-भावना का यह उदय और उसके प्रति सहज जिज्ञासा का यह भाव अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु, कवि की दृष्टि में यह अव्यक्त भर जाता है तब चारों ओर शून्य, पीड़ा, उदासी और विषाद के भाव ही भरे हुए उसे दृष्टि-गोचर होते हैं—

आँसू का बादल बन जाता फिर तुषार की वर्षा होती[2]—

फिर तो व्यक्ति निर्झर की तरह उद्भ्रान्त होकर अपने प्रियतम के अनुसंधान में भटकता फिरता है—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर बिलखाता, ठुकराता, फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में अपने ही चरणों में गिरता[3]—

जीवन की यह विषादमयी अमा तभी तक है जब तक उस मुखचन्द्र का दर्शन नहीं होता—

अमा को करिए सुन्दर राका।

फल नव-प्रकाश जीवन-धन ! तव मुखचन्द्र-विभा का।
मेरे अन्तर में छिपकर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय-मरुत हो फहरे प्रेम-पताका॥

झरना, पृ० ६५।

लहर में आकर कवि की अभिव्यक्ति प्रौढ़तर और रहस्य-भावना अधिक निर्दिष्ट हो जाती है। झरना के पुराने मात्रिक छन्दों की अपेक्षा 'लहर' की गीतियाँ अधिक संगीतमयी हैं। उनमें हृदय के प्रबल संवेगों की अभिव्यक्ति को प्रकट करने की क्षमता अधिक आ गई है। छायावादी सूक्ष्मता में लिपटकर अव्यक्त-शीला रहस्य-भावना और भी धुँधली और अस्पष्ट हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इधर आकर कवि को जीवन में अनेक कटु अनुभव, असफलताएँ, विद्वेष, प्रतारणा और कुचक्र के वात्या-चक्रों का सामना करना पड़ा है। फलस्वरूप कवि के मन में निराशा और विषाद के स्तर अधिकाधिक सघन होकर चढ़ गए हैं। इन विषमताओं का समाधान कवि को किसी अनन्त

१. झरना—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३०।
२., ३. झरना—जयशंकर प्रसाद, पृ० ३१।

दूर देश में मिलता है। अतः अपनी जीवन-नौका के कर्णधार से कवि प्रार्थना करता है कि मुझे वहीं ले चल—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।

लहर, पृ० १४।

'कोलाहल की अवनी' से दूर, क्षितिज के उस पार, अखिल श्रमों से विश्राम है, अमर जागरण है और वहाँ दिव्य ज्योति का प्रकाश है—

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से जहाँ सृजन करने मेला से,
अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे। लहर, पृ० १४।

इस विश्राम का अधिकार सभी को है। देखो, यह नदी भी इसी लिए सागर की ओर दौड़ी जा रही है—

विश्राम माँगती अपना
जिसका देखा था सपना।—लहर, पृ० १६।

वेदना के भार से कवि का मानस बुरी तरह आक्रान्त है। जलते हुए इस मन में शीतल चन्दन तभी घुल सकता है जब वह करुणा करे। कवि की अधीर याचना है—

आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे!
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो वह जीवन गीत सुना जा रे,
खिंच जाय अधर पर वह रेखा जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा, वह स्मित का चित्र बना जा रे!

लहर, पृ० २८।

यदि कहीं वह इस याचना को मान ले और स्नेहाङ्क-मिलन के बन्धन में अपने को बँधवा दे तो निश्चय ही यह जला हुआ मन, एक बार फिर, वृन्दावन की तरह सरस और हरा-भरा हो जाय।

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-घन इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो॥ लहर, पृ० २६।

पर, ऐसे भाग्य कहाँ! उधर उसकी निष्ठुरता और इधर वेदना बढ़ रही है—

निधरक तूने ठुकराया जब मेरी टूटी मृदु प्याली को।
उसके सूखे अधर माँगते तेरे चरणों की लाली को॥

× × ×

प्राणों के प्यासे मतवाले ओ झंझा से चलने वाले।
ढलें और विस्मृति के प्याले, सोच न कृति मिटनेवाली को॥

लहर, पृ० ४२।

यह वेदना मन में जमती चली जाती है और उचित अवसर पाकर आँसुओं की झड़ी के रूप में बरस पड़ती है—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
स्मृति सी मस्तक में छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
है आज बरसने आई।

आँसू—पृ० १४।

आँसू इसी गम्भीर वेदना की कहानी है। इधर आकर प्रसाद जी की रचना-सामर्थ्य और भी अधिक प्रौढ़ हो गई है। आँसू के छोटे से, मधुर, संगीतात्मक छन्द में हृदय की आकुल संवेदना मर्मस्पर्शी ढंग से प्रकट होती है। कहीं प्रिय के अपार्थिव रूप-सौन्दर्य के अपूर्व चित्र हैं, कहीं प्रियतम की निष्ठुरता का प्रकाशन, कहीं उपालम्भ और कहीं पीड़ा का विविध आभास। भाषा और शैली भी पहले से अब और अधिक निखर गई है। लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता के आकर्षक संयोग से वस्तु-वर्णन और भी अधिक सूक्ष्म हो गए हैं। भावुक कल्पना वस्तु और कला के अनूठे संयोग खड़े करती है। वास्तव में 'आँसू' इस योग्य है कि इसमें प्रदर्शित प्रतिभा और सौन्दर्य का अगला चरण 'कामायनी' बन सके।

कवि का हृदय उस असीम के प्रति वेदना के कारण बिल्कुल उजड़ गया है, और इतना ही नहीं, उसमें सदा ही व्याकुल कर देनेवाले भाव उठा करते हैं—

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती।
है हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती॥

आँसू, पृ० १।

झंझा झकोर गर्जन है नीरद है बिजली-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥

आँसू, पृ० १५।

कवि व्याकुल होकर अपने उस प्रिय को पुकारता है। पर वहाँ कौन उत्तर

दे ? वह तो पुकार को क्षितिज की टक्कर से वापिस भेजकर, मानो, पुकारने-वाले को चिढ़ा रहा है—

आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती बिलखाती सी पगली सी देती फेरी ॥ (पृ० ८)

कवि के प्रणय-सिन्धु में विरह-वेदना की दाहक बड़वाग्नि बराबर जलती रहती है। प्रियतम के रूप-जल में नेत्र सदा निमग्न रहते हैं—

बाड़व ज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिन्धु के जल में।
प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में ॥ (पृ० १०)

विरोधाभास अलंकार का यह प्रयोग वेदना की प्रभविष्णुता में एक चमत्कार सा पैदा करता है। महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार यक्ष की वेदना की प्रतिष्ठा प्रकृति के विराट् प्राङ्गण में की है, उसी प्रकार आँसू में भी विरह की अत्यन्त सुन्दर व्यापक व्यंजना है—

नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी दिखलाई देती लूटी। (पृ० १०)

पृथ्वी के ऊपर छाया हुआ नीला आकाश मानों इस लुटी हुई पृथ्वी के मुक्त-केश-कलाप हैं जिनको सँवारकर बाँधने की सुधि पहले ही खो चुकी है।

विरह-दशा की अनेक परिस्थितियों का समावेश कवि ने आँसू में किया है। संज्ञा-हीनता धीरे-धीरे आ रही है—

वह एक अबोध अकिंचन बेसुध चैतन्य हमारा (पृ० ११)
तथा—..........भींगी पलकों का लगना (पृ० ११)

'अभिलाषाओं की करवट' व्यग्र उत्कण्ठा भाव को प्रकट करती है। 'भींगी पलकें' अविरल अश्रु-मोचन के कारण हैं। कवि को उस समय और भी अधिक पीड़ा होती है जब 'वह' दुःखकथा को सुनता हुआ भी उसपर ध्यान नहीं देता है—

रो-रोकर सिसक-सिसककर मैं कहता करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी ॥ (पृ० १५)

जिसके लिए इतनी वेदना का आटोप संचित हो गया है, वह कौन है ?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के।
थे केवल जीवन संगी कल्याण कलित इस मग के ॥ (पृ० १६)

जिस प्रकार राका-शशि को देखकर समुद्र स्वयं उद्वेलित हो जाता है उसी प्रकार उस 'चिर सुन्दर सत्य' को देखकर मन उसके प्रति स्वयं आकृष्ट हो जाता है—

परिचय राका जलनिधि का जैसे होता हिमकर से।
ऊपर से किरणें आतीं मिलती हैं गले लहर से॥ (पृ० १८)

इसी प्रकार उस राका-शशि को देख मन की कामना का सिन्धु विक्षुब्ध हो जाता है।

कामना सिन्धु लहराता छवि पूरनिमा थी छाई।
रतनाकर बनी चमकती मेरे शशि की परछाँई॥ (पृ० ३३)

छवि का अक्षय-भण्डार वह प्रिय कभी-कभी अत्यन्त अस्पष्ट रूप में अपना आभास दिखाकर मोहित कर जाता है; जैसे संध्या के भुटपटे में कोई सुन्दर वस्तु अपना क्षणिक आभास दिखाकर लुप्त हो जाय—

छाया नट छवि परदे में सम्मोहन वेणु बजाता।
सन्ध्या कुहुकिनि अंचल में कौतुक अपना कर जाता॥ (पृ० ३३)

परन्तु अब तो इस चेतना से, जो कि विरहानुभूति कराती रहती है, यह निःसंज्ञ भाव ही अच्छा मालूम देता है जो कि मिलनानुभूति का सुख प्रदान करता है—

मादकता से तुम आए संज्ञा से चले गए थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते थे, उतरे हुए नशे से॥ (पृ० ३३)

इसी प्रकार आँसू में विरह-वेदना की गम्भीर अभिव्यक्ति बराबर चलती रहती है। कवि की सौन्दर्याभिभूत आँखों को इतने मार्मिक ढंग से रोते देखकर ही प्रसाद जी को प्रेम और सौन्दर्य का रहस्यवादी कवि, प्रायः, कहा जाता है।

इन आँसुओं के आलंबन का जो परिचय इस विवेचन में दिया गया है उससे इस प्रेम की आध्यात्मिकता का साक्ष्य मिलता है। परन्तु कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल हैं जहाँ यह आलम्बन लौकिक प्रतीत होता है; जैसे—

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए। (पृ० १६)

अथवा

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से। (पृ० २१)
(केश-पाश से संयुक्त शशि-मुख)

अथवा

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली। (पृ० २१)

अथवा

मुख कमल समीप खिले थे दो किसलय दल पुरइन के। (पृ० २३)
(मुख और नेत्र)

विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे ! (पृ० २३)

(दन्त-पंक्ति पर शोभित ओष्ठपुट)

थी किस अनंग के धनु की वह शिथिल शिंजिनी दुहरी।
अलबेली बाहुलता या तनु छवि-सर की नव लहरी॥ (पृ० २४)

किन्तु इनके साथ ही एकाध पंक्ति ऐसी लगी पाई जाती है जो इस विधान की अपार्थिवता का स्पष्ट उल्लेख कर देती है—

उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था। (पृ० २४)

अथवा

जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए। (पृ० १६)

अथवा

मधु-राका मुसकाती थी पहले देखा जब तुमको।
परिचित से जाने कब से तुम लगे उसी क्षण मुझको॥ (पृ० १७)

अथवा

थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में। (पृ० २०)

इस प्रकार के वर्णन बराबर आध्यात्मिकता का संकेत करते रहते हैं। उस अव्यक्त 'चिर-सुन्दर' सत्ता को मानवीय रूप के आकार में बाँधने का यह जो यत्किञ्चित् प्रयत्न, ऊपर उद्धृत पंक्तियों में, किया गया है वह उसको, थोड़ा-बहुत, इंद्रिय-गोचर करने की भावना से ही है। फिर, रहस्यवाद में अव्यक्त सत्ता पर नरत्व या नारीत्व का आरोप करके उसके प्रति हृदय के भावों को व्यापारित करने की प्रथा रहस्य-सम्प्रदाय में पहले भी थी और अब भी है।

आँसू के उपरान्त, प्रसाद जी की ही नहीं अपितु समस्त हिन्दी-साहित्य की अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित रचना, कामायनी, आती है। कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि शैव तन्त्र, प्रत्यभिज्ञा, है। कामायनी में आरम्भ में तो सामान्य अव्यक्त सत्ता से सम्बन्धित रहस्य-भावना ही दृष्टिगोचर होती है; परन्तु अन्त में नटराज के रूप में जिस परम-शिव-तत्त्व का दर्शन होता है, वह प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के आधार पर ही है। रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति प्रकृति के विविध उपादानों के माध्यम से, यद्यपि, होती है, परन्तु प्रसाद जी में प्रकृति के प्रति वैसा आकर्षण और अनुराग नहीं था जैसा कि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के हृदय में था। प्रसाद जी ने भी प्रकृति को मानव-जीवन से प्रतिबिम्बित दिखाया है। परन्तु पन्त जी की तरह वे एक चेतना का दर्शन प्रकृति में नहीं कर सके हैं।

कामायनी में रहस्यवाद की सारी प्रक्रिया अत्यन्त सुन्दर रूप में, प्रौढ़ अभिव्यक्ति के साथ, प्रकट हुई है।

दुःखों के घात-प्रतिघात से आहत होकर व्यक्ति के मन में कौतूहल और जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होता है—

कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।

आशा—कामायनी, पृ० ३२।

प्रकृति की समस्त शक्तियों का संचालन करनेवाली एक अव्यक्त सत्ता है अवश्य। वही अपने एक भ्रूभंग मात्र से सबको अस्त-व्यस्त कर देती है—

विश्वदेव, सविता या पूषा, सोम, मरुत्, चंचल पवमान।
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान,
किसका था भ्रूभंग प्रलय सा जिसनें ये सब विकल रहे।
अरे! प्रकृति के शक्ति चिह्न ये फिर भी कितने निबल रहे॥

कामा०, पृ० ३३।

उस सूक्ष्म सत्ता को स्वीकार करना पड़ता ही है। प्रकृति के सभी तत्त्व उस सत्ता का संकेत करते हैं। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि वह कैसा है; और न इस विषय में बुद्धि ही काम देती है—

"सिर नीचा कर जिसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?
हे अनन्त! रमणीय कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट्! हे विश्वदेव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान।"
मंद गँभीर धीर-स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान।

इस अज्ञान-ग्रन्थि को सुलझाने का प्रयत्न जीवन में ही हो सकता है, अतः जीवन वरणीय है। परन्तु उसका उद्देश्य क्या है—

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी? जीकर क्या करना होगा?
देव बता दो अमर वेदना लेकर कब मरना होगा॥

कामा०, पृ० ३६।

क्षितिज के उस पार, कहीं दूर, तारों के झिलमिल प्रदेश में मधुर रहस्य-लोक है जहाँ पहुँचकर अखण्ड विश्रान्ति प्राप्त होती है—

आह कल्पना का सुन्दर वह जगत मधुर कितना होता।
सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो सोता जगता।

× × × ×

तम के सुन्दरतम रहस्य हे, कान्ति किरण रंजित तारा,
व्यथित विश्व के सात्त्विक शीतल बिन्दु, भरे नव रस सारा।
आतप तापित जीवन-सुख की शान्तिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना देते तुम कितना मधुमय संदेश।

कामा०, पृ० ४५,४६।

परन्तु उस रहस्य-लोक का भेद जान लेना बड़ा कठिन है। बढ़ता हुआ ज्ञान ज्यों-ज्यों हमारी ज्ञात-सीमा का विस्तार करता है त्यों-त्यों, मानों, हमारी दृष्टि उस आलोक की तीव्रता से व्यर्थ होती जाती है—

ओ नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना।
आवरण स्वयं बनता जाता आलोक रूप तनता जितना॥

कामा०, पृ० ७३।

उस रहस्य का भेदन करने के लिए ही चन्द्रमा भी दिनरात चक्कर लगाया करता है, परन्तु सफल नहीं होता—

चल चक्र वरुण के ज्योति भरे व्याकुल तू क्यों देता फेरी।
तारों के फूल बिखरते हैं लुटती है असफलता तेरी॥

कामा०, पृ० ७३।

इस जिज्ञासा की उलझन में मनु भी उद्विग्न हैं—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी वह सब क्या छाया उलझन है?
सुन्दरता के इस परदे में क्या अन्य धरा कोई धन है।

मेरी अक्षय निधि! तुम क्या हो? पहचान सकूँगा क्या न तुम्हें?
उलझन प्राणों के धागों की सुलझन का समझूँ मान तुम्हें!

परन्तु, मनु! समझ लो, दर्शन के द्वारा उसे कोई नहीं समझ सकता, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करे—

सब कहते हैं 'खोलो, खोलो, छवि देखूँगा जीवन-धन की',
आवरण स्वयं बनते जाते हैं भीड़ लग रही दर्शन की।

कामा०, पृ० ७६।

यहाँ 'दर्शन' का श्लेष उक्ति में एक विशेष सार्थक चमत्कार उत्पन्न कर देता है।

इस परम तत्त्व पर एक बड़ा ही आकर्षक और नयनाभिराम आवरण चढ़ा हुआ है। श्रुति भी कहती है –

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। (वाज० सं० ४०।१७)

यदि कहीं वह आवरण उठ जाय तो कितना अलौकिक दृश्य सामने आ जाय—

चाँदनी सदृश खुल जाय कहीं अवगुण्ठन आज सँवरता सा,
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा लहरों में मस्त विचरता सा।
अपना फेनिल फन पटक रहा मणियों का जाल लुटाता सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।

कामा०, पृ० ७६।

इस प्रकार कामायनी में रहस्य-सत्ता के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं जो कि सामान्य रहस्यवादी प्रकार के हैं। संकेतों की प्राप्ति, उनका प्रकाशन और उनकी योजना अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक है। किन्तु कामायनी के रहस्यवाद पर शैव आगम का प्रभाव भी हम कह चुके हैं। कामायनी के अन्तिम भाग में इसी प्रकार की तान्त्रिक रहस्य-भावना उपलब्ध होती है। उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ नीचे दिया जा रहा है।

कामायनी का दार्शनिक सिद्धान्त, बुद्धिवाद का विरोध करके, सामरस्य के श्रद्धा-सम्मत मार्ग का प्रतिपादन करता है। बुद्धि चिन्ता का ही पर्याय है—

बुद्धि, मनीषा मति, आशा चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।—कामा०,पृ० १४।

बुद्धि के व्यामोह में पड़कर एक बार तो देव-सृष्टि विलीन हो ही चुकी थी; फिर दुबारा, मनु ने इड़ा के पीछे लगकर संघर्ष और अशान्ति को पाया। स्नेहमयी श्रद्धा उन्हें 'विषमता की पीड़ा से व्यस्त' संसार से बाहर ले गई, हिमालय के शुभ्र, अपार्थिव अंचल में। श्रद्धा की कृपा से वहाँ, सामने क्षितिज के शुभ्र-शिखर पर, नटराज के दिव्य-दर्शन हो रहे हैं—

वह शून्य असत् था अन्धकार, अवकाश पटल का वार पार;
बाहर भीतर उन्मुक्त सघन, था अचल महा नीला अंजन।
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन, थे निर्निमेष मनु के लोचन;
इतना अनन्त सा शून्य सार, दीखता न जिसके परे पार।

कामा०, पृ० २५६।

यह भूमिका स्वयं रहस्य, रोमाञ्च, भय, विस्मय आदि भावों को उत्पन्न करती है। धीरे-धीरे उसमें स्पन्दन हुआ और मनु ने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखा कि प्रकाश की किरणों से एक दिव्य आकृति बन रही है—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल, आवरण-पटल की ग्रन्थि खोल,
तम-जल निधि का बन मधुमंथन, ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन।

वह रजत गौर उज्ज्वल जीवन, आलोक पुरुष ! मंगल चेतन,
केवल प्रकाश का था कलोल मधु किरनों की थी लहर लोल ।

कामा०, पृ० २६० ।

यही नटराज हैं—

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित ।

कामा०, २६० ।

नटराज के विश्वव्यापी विराट् शरीर का विस्तार गीता के विश्वरूप-दर्शन से भी अधिक स्पष्ट है और इसमें नूतन वैज्ञानिक उपलब्धियों का समावेश भी है—

लीला का स्पंदित आह्लाद वह प्रभा पुंज चितिमय विलास,
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर, झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर ।
बनते तारा हिमकर दिनकर, उड़ रहे धूलिकण से भूधर,
शृंगार सृजन थे युगल पाद – गतिशील अनाहत हुआ नाद ।
बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल, युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल,
विद्युत् कटाक्ष चल गया जिधर कंपित संसृति बन रही उधर ।
चेतन परमाणु अनन्त बिखर, बनते विलीन होते क्षण भर,
यह विश्व झूलता महादोल परिवर्तन का पट महा खोल ।

कामा०, पृ० २६१ ।

इस महाचिति का स्वरूप दर्शन करने के बाद उसमें लीन होने की भावना स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है । मनु भी चिल्ला उठे—

देखा मनु ने नर्तित नटेश हतचेत पुकार उठे विशेष
यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल, उन चरणों तक, दे निज संबल
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल पावन बन जाते हैं निर्मल
मिटते असत्य से ज्ञान-लेश, समरस अखण्ड आनन्द वेष ।

कामा०, पृ० २६२ ।

श्रद्धा मनु को ले चली । दुर्गम मार्ग, श्वास रुद्ध करनेवाला पवन, पैरों के नीचे से ठोस आधार भी निकल गया, मनु घबरा रहे हैं; परन्तु श्रद्धा अडिग चली जा रही है । दिशा, काल आदि के समस्त परिवेशों को पार कर श्रद्धा मनु को नितान्त निराकार देश में ले गई । वहाँ मनु ने सामने तीन, अत्यन्त दीप्त प्रकाश बिन्दु देखे जो त्रिभुवन के प्रतीक से दिखाई देते थे । ये तीनों ज्ञान, इच्छा और क्रिया के स्वरूप हैं ।

त्रिदिक् विश्व, आलोक-बिन्दु भी तीन दिखाई पड़े अलग वे
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानों, वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
मनु ने पूछा, "कौन नए ग्रह ये हैं? श्रद्धे! मुझे बताओ।
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस इन्द्रजाल से मुझे बचाओ।"

कामा०, पृ० २६६।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया के श्वेत, अरुण और कृष्ण गोलक हैं। कर्म के चारों ओर भीषण कर्मजाल घूम रहा है; इच्छा-बिन्दु के चारों ओर लालसा की पुतलियाँ चक्कर लगा रही हैं और ज्ञान-बिन्दु के आसपास बुद्धि-वैभव के अणु, जिनमें तृप्ति नहीं है, चक्कर काट रहे हैं। यही त्रिपुर कहलाता है। सामान्य दशा में तीनों अलग-अलग पड़े रहते हैं—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की?
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की। (पृ० २८०)

किन्तु सामरस्यमयी श्रद्धा ने हँसकर उनकी ओर देखा, और एक ज्योति की रेखा ने उनको मिलाकर तीनों का समन्वित रूप, जो कि जीवन की पूर्णता है, मनु को दिखलाया। मनु आनन्द-विभोर—

स्वप्न, स्वाप, जागरण, भस्म हो, इच्छा क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

(पृ० २८१)

इसके आगे फिर एक रहस्यमय दिव्य लोक की, जहाँ अखण्ड आनन्द है, यात्रा है। वहाँ भेदभाव नहीं, समरसता और आनन्द है—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥

कामा०, पृ० ३०२।

प्रसाद जी के तन्त्र-सम्मत रहस्यवाद का यही स्वरूप है। वास्तव में यह साधनात्मक रहस्यवाद है। सामरस्य की सिद्धि, एक प्रकार से, भाव-योग के द्वारा ही होती है। पुराने संतों की अन्तःसाधना में भी इसी प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूतियों का वर्णन आता है। परन्तु इसकी कल्पना अधिक विशुद्ध और भव्य है और यह हिन्दी-साहित्य में एक नवीन वस्तु है।

विज्ञान के द्वारा आज विश्व के जिन नवीन तथ्यों का ज्ञान हमें हुआ है उनका उपयोग भी प्रसाद जी ने यत्र-तत्र किया है। अणुओं, परमाणुओं और विद्युत्कणों का प्रयोग प्रसाद जी ने कई जगह किया है—

आकर्षण-विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य। कामा०, पृ० २८।

अणुओं को है विश्राम कहाँ यह कृतिमय वेग भरा कितना।

कामा०, पृ० ७३।

परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिए।

कामा०, पृ० ८०।

......विद्युत्कण मिले झलकते से। कामा०, पृ० ८१।

डारविन के विकासवाद की गूँज भी प्रसाद जी में दिखाई देती है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म-रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है।

कामा०, पृ० ८३।

वस्तु-वर्णन के बीच, कहीं-कहीं, प्रसाद जी में दार्शनिकता का उदय हो जाता है—

एक जवनिका हटी पवन से प्रेरित माया-पट जैसी।
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी हरी-भरी फिर भी वैसी॥ कामा०, पृ० ३६।

यहाँ दार्शनिक भाषा के सहारे प्रसाद जी ने दृश्य-परिवर्तन का वर्णन बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से किया है।

इस प्रकार प्रसाद जी के रहस्यवाद का यही स्वरूप है। आस्था और विषमताओं ने प्रसाद जी को रहस्यवादी बनाया था। उपनिषदों और तन्त्रों से प्रसाद जी को रहस्यवाद की सामग्री मिली। सौन्दर्य-दर्शन और गहरी प्रेमानुभूति प्रसाद जी में अधिक है। उनका सामरस्य का सिद्धान्त सर्वमानव-हित-वाद को लेकर चला है। कुछ लोग, ऊपर कहे हुए त्रिपुर-विजय को लोक-बाह्य बताकर प्रसाद जी पर पलायन का दोषारोपण करते हैं। परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह व्यक्तिवाद का समय था, और फिर, आसपास की विषमताओं से ऊबकर कहीं अलग जाकर निश्चित होने की भावना मनुष्य-मात्र में स्वाभाविक है। श्रद्धा का सामरस्य-सिद्धान्त भी तो इसी विश्व में द्वन्द्व-हीन मानवता की चेतना का ज्ञान कराता है—

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता
मानव, कह रे! "वह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में निराला जी का प्रमुख स्थान है। छायावाद के प्रवर्तकों में निराला जी की भी गणना की जाती है। निराला जी का जन्म सन् १८९८ में बंगाल के महिषादल राज्य में हुआ था। इनका वंशानुगत निवास, यद्यपि, अवध के बैसवाड़ा मण्डल के गढ़ाकोला ग्राम में है, परन्तु इनके पिता, जीविका के प्रसंग से, महिषादल चले गए थे। निराला जी की शिक्षा-दीक्षा वहीं वंग-प्रदेश में हुई थी। आगे चलकर अपने घर, उत्तर प्रदेश में, आकर निराला जी ने हिन्दी का अध्ययन भी किया। निराला जी का शिक्षा-क्रम नवीं कक्षा से आगे नहीं चल पाया। अपने स्वतन्त्र अध्यवसाय के बल पर इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू आदि का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। दर्शन की ओर निराला जी की रुचि विशेष रही है। स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विचार-धाराओं से निराला जी विशेष प्रभावित हुए हैं।

निराला जी का जीवन, वास्तव में, संघर्षों, विषमताओं और विडम्बनाओं के समाहार की करुण कथा है। हमारा यह बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे उच्च कोटि के साहित्यिक-प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार भी केवल साहित्य-सेवा द्वारा ही अपने लौकिक जीवन का योग-क्षेम नहीं वहन कर सके हैं। स्व० प्रेमचन्द जी का जीवन लौकिक संघर्षों से युद्ध करते-करते ही क्षीण हो गया था। निराला जी की दशा भी, कुछ न्यूनाधिक, इसी प्रकार की रही है। निष्ठुर दैव भी श्रेष्ठ प्रतिभाओं पर मुक्तहस्त होकर विषमताओं की अजस्र वर्षा करता रहता है। कहा जाता है कि भक्त-वत्सल भगवान् अपने प्रिय-भक्तों का ऐहिक सर्वस्व इसलिए हरण कर लेते हैं कि वे सब तरफ से द्वन्द्व-निर्मुक्त होकर एकमात्र उनके हो जायँ। मैं समझता हूँ कि दैव भी भावी कलाकारों पर विपत्ति-वर्षा, निःसंकोच भाव से, इसी लिए करता है कि उनकी कला दुःख के संस्पर्श से अमर हो जाय, क्योंकि कारुण्य की पृष्ठभूमि पर ही, बहुधा, अमर कला की सृष्टि होती है।

अस्तु, नितान्त अबोध बाल्यावस्था में ही निराला जी की माता का निधन हो गया। तारुण्य की देहली पर पैर रखने के कुछ समय बाद ही निराला जी इन्फ्लुएंजा की कृपा से, २० वर्ष की वय में ही, पितृ-विहीन भी हो गए। पिता की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त ही, उनकी पत्नी, मनोहरा देवी, का भी देहान्त हो गया। एक पुत्र और एक पुत्री के रूप में केवल अपनी स्मृति

निराला जी के पास छोड़कर मनोहरा देवी ने निराला जी के भाव-प्रवण हृदय को तीव्र वेदना पहुँचाई। प्रथम महायुद्ध के बाद इन्फ्लुएंजा की जो भीषण महामारी फैली उसने परिवार के अन्य लोगों से भी निराला जी को पृथक् कर दिया। थोड़ा और आगे चलकर उनकी प्रिय पुत्री सरोज ने भी असमय में ही अपनी ऐहिक लीला का संवरण करके उनके कवि-मानस पर भारी आघात किया। आदिकवि की तरह निराला जी का पुत्री-शोक काव्य का रूप लेकर प्रकट हुआ। 'सरोज-स्मृति' कविता में सरोज के प्रति पिता का कर्तव्य न निबाह सकने के कारण निराला जी ने गहरी आत्मग्लानि और अपनी तत्कालीन दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण किया है। अपनी रचनाओं के सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने की आशा, जब वापिस आई हुई रचनाओं से, दुराशा में बदल जाती, तब थोड़े-बहुत अर्थलाभ का अवसर भी हाथ से निकल जाता था। उस समय कवि को जो कष्ट होता था उसका करुण विवरण उन्होंने स्वयं दिया है—

> पर सम्पादक गण निरानन्द वापस कर देते पढ़ सत्वर
> दे एक-पंक्ति-दो में उत्तर!
> लौटी रचना लेकर उदास ताकता हुआ मैं दिशाकाश
> बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर व्यतीत करता था गुन-गुनकर
> सम्पादक के गुण; यथाभ्यास पास की नोंचता हुआ घास
> अज्ञात फेंकता इधर-उधर भाव की चढ़ी पूजा उनपर।
> —अनामिका, पृ० १२२।

इसी तरह आर्थिक दलदल में फँसी हुई जीवन-गाड़ी बड़ी कठिनता से चलती रही। अन्त में बड़े प्रयत्नों से निराला जी को रामकृष्ण-मिशन के पत्र, समन्वय, में कार्य करने का अवसर मिला। किन्तु वहाँ एक वर्ष ही काम कर सके होंगे कि निराला जी को उसे छोड़ देना पड़ा। सन् १९२३ में निराला जी को 'मतवाला' का सम्पादन-कार्य मिला। यहाँ निराला जी का यथेष्ट सम्मान हुआ। परन्तु, अधिक समय तक वे 'मतवाला' में भी न ठहर सके। फिर कभी लखनऊ और कभी अपने गाँव में निराला जी का अनिर्दिष्ट जीवन व्यतीत होने लगा। बीच-बीच में वे बहुत अधिक अस्वस्थ भी रहते रहे। इधर आकर निराला जी इलाहाबाद के दारागंज में रहने लगे हैं। उनका शरीर भी, इधर, पर्याप्त अस्वस्थ रहा है; मानसिक आघातों ने विक्षिप्तता का रूप भी धारण कर लिया है।

निराला जी शरीर से दीर्घकाय और शक्तिशाली रहे हैं। कसरत-कुश्ती से उनके शरीर में जो महाप्राणता और स्वभाव में जो निर्भीकता और अक्खड़पन आया है उसने उनके काव्य को भी पुरुषोचित ओज और महाप्राणता दी है। शरीर और स्वभाव में इस परुषता के होते हुए भी वे हृदय से बड़े भावुक और उदार रहे हैं। 'किसी भाई' का दुःख देख सकना उनके लिए असंभव है। अपनी 'अधिवास' कविता में 'एक भाई' का दुःख-निवारण करने के लिए वे मुक्ति से भी, जो कि जीव का शाश्वत अधिवास है पराङ्मुख हो गए हैं। उनकी इस पर-दुःख-कातरता ने उनके काव्य पर भी पर्याप्त प्रभाव डाला है।

साहित्य के क्षेत्र में निराला जी का आगमन सन् १९१५ के आसपास समझना चाहिए। साहित्य और समाज दोनों में वे क्रान्ति का सन्देश लेकर आए। छायावाद के प्रवर्तकों में निराला जी की गणना होती है। छायावादी युग में मुक्त-छंदों के प्रचार का श्रेय निराला जी को है। वे समझते हैं कि जिस प्रकार पुराने युग में मनुष्य अनेक प्रकार के बंधनों से जकड़ा हुआ था उसी प्रकार कविता भी छन्द के बंधन में बुरी तरह जकड़ी हुई थी। मनुष्य की तरह उसकी स्वच्छन्दता भी अभीष्ट है।[1] आरंभ में उनके इस मुक्त-छन्द-विधान का पर्याप्त विरोध हुआ। पर दुर्जेय निराला को अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलते देखकर, धीरे-धीरे केवल विरोध ही शान्त नहीं हो गया अपितु पीछे चलने-वाले अनेक व्यक्ति भी साथ हो लिए। अपना मार्ग निराला होने के कारण ही 'मतवाला' के सम्पादन-काल में 'मतवाला' के जोड़ पर 'निराला' उपनाम निराले निराला जी ने ग्रहण किया था। सौन्दर्य, प्रेम, रहस्य-भावना आदि छायावादी प्रवृत्तियों की गीतात्मक अभिव्यक्ति निराला जी ने अपनी रचनाओं में अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से की है। लोक-दुःख को न सह सकने की जो गहरी भावुकता उनके हृदय में थी उसकी अभिव्यक्ति भी बराबर सहज भाव से उनकी रचनाओं में होती रही है। समाज की भीषण विडम्बनाओं और क्रूर दैव के कठोर अट्टहासों पर उनकी दृष्टि पड़ी है। उनकी 'विधवा' समाज का एक ऐसा ही दृश्य है। निराला जी के इस प्रकार के चित्रणों का मूल्याङ्कन करते हुए महादेवी वर्मा ने इनकी महत्ता स्वीकार की है।[2] निराला जी सामाजिक रूढ़ियों में भी

---

१. परिमल—प्रथम संस्करण—भूमिका, पृ० ६।

२. आधुनिक कवि—१. महादेवी वर्मा—भूमिका, पृ० १५।

"××× सामाजिक आधार पर 'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी' में तपःपूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।"

क्रान्ति चाहते थे। लोक-दुःख का परिहार करने की कामना लेकर चलनेवाल मार्क्सवादी दर्शन निराला जी को इसी लिए प्रभावित कर सका और फलतः उन्होंने प्रगति के नए प्रयोग अपनी कविता में किए। जेठ के प्रखर निदाघ की खरी दुपहरी में छायाहीन मार्ग पर पत्थर तोड़नेवाली, दीना, हीना, श्रान्ता, क्लान्ता श्रमिक महिला उनके अनुराग का भाजन बन सकी। 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसे तुच्छ और नगण्य ग्रामीण चरित उनकी कला के संस्पर्श से जन-जन की सहानुभूति प्राप्त कर सके। समाज के असह्य भार-जैसे भूखे भिखारी मनुष्यों को छोड़कर बन्दरों को मालपूआ खिलानेवाले गोमती के किनारे के एक मन्दिर के पुजारी, उनके व्यंग्य-विद्रूप के शिकार बने। इस प्रकार निराला जी ने प्रगति का मार्ग अपनाया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हिन्दी-काव्य में चलनेवाले नए प्रयोगों की धुन में निराला जी ने हिन्दी में गजलें भी लिखीं जो 'बेला' नामक संग्रह में संकलित हैं। निराला जी, वास्तव में, बहुमुखी प्रतिभा के ऐसे कलाकार हैं जिन्हें आदर कम और उपेक्षा अधिक मिली है। आलोचना, कहानी, उपन्यास, काव्य सभी दिशाओं में उनकी प्रतिभा ने समान रूप से संचरण किया है। निराला जी के मुख्य काव्य-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं; इधर पिछले वर्षों के घोर अस्वास्थ्य और मानसिक विकृति की दशा में भी, थोड़ी सी प्रकृतिस्थता होने पर ही, निराला जी साहित्य-रचना के कार्य में लगे रहे हैं—

अनामिका (१९२३)	अणिमा (१९४३)
परिमल (१९३०)	नए पत्ते (१९४६)
गीतिका (१९३६)	बेला (१९४६)
अनामिका (१९३७) परिवर्द्धित संस्करण	अपरा (१९४८)
तुलसीदास (१९३९)	अर्चना (१९५०)
कुकुरमुत्ता (१९४२)	आराधना (१९५३)

गीतगुंज (१९५३-५६)

आधुनिक रहस्यवादी काव्यधारा में भी निराला जी का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। निराला जी का रहस्यवाद आध्यात्मिक वर्णनों से विशेष सम्बन्ध रखता है। महादेवी वर्मा की तरह निराला जी ने विरह और भावुकता की गंभीर व्यंजना नहीं की है। उनके रहस्यवाद में बुद्धि द्वारा किया हुआ आध्यात्मिक चिन्तन प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है। निराला जी ने भारतीय प्राचीन दर्शनों का अध्ययन तो किया ही था, साथ ही स्वामी विवेकानन्द की विचार-

धारा से भी वे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुए थे। माया, अद्वैत, मुक्ति, विराट् तत्त्व आदि का वर्णन निराला जी ने उपनिषदों के आधार पर किया है। वंगीय विचारधारा के अनुसार ईश्वर की 'माँ' के रूप में कल्पना भी निराला जी ने की है। वस्तुतः निराला जी नितान्त निर्गुण-अद्वैतवादी नहीं रहे हैं। सिद्धान्त रूप में अद्वैत-सम्बन्धी दार्शनिक विवेचनों को मानते हुए भी निराला जी ने भक्ति को ही उस परम तत्त्व की उपलब्धि का साधन माना है। 'परिमल' के 'पंचवटी प्रसंग' में एक ओर तो राम के मुख से उन्होंने दार्शनिक तत्त्व-निरूपण कराया है, और दूसरी ओर लक्ष्मण के मुख से भक्ति की वरेण्यता प्रतिपादित कराई है। राम कहते हैं कि जीव और ब्रह्म वास्तव में एक ही हैं; केवल माया ने दोनों को अलग कर दिया है। समस्त सृष्टि और जीव एक ही तत्त्व से प्रकाशित हैं। जीव, जब माया की इस लीला को समझकर, जागता है, तब उसे अद्वैत दृष्टि प्राप्त हो जाती है—

व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद, भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते हैं।
व्यष्टि औ' समष्टि में समाया वही एक रूप, चिद्घन, आनन्दकन्द
चेतावनी देती जब चेतना कि छोड़ो खेल, जागता है जीव तब
योग सीखता है वह योगियों के साथ रह,
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता (परिमल, पृ० २३०-३१)

द्वैत-भाव माया-विलसित भ्रम है। लेकिन इसमें होकर ही अद्वैत की ओर जाना पड़ता है—

द्वैत-भाव ही है भ्रम। तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से, भ्रम के पार जाना है।

परिमल, पृ० २३४।

निराला जी के अनुसार यह अद्वैत-सिद्धि योग के द्वारा ही होती है, जैसा कि ऊपर की उद्धृत पंक्तियों से प्रकट हो रहा है।

इसी प्रसंग में निराला जी ने भक्ति को भी मान्यता दी है। लक्ष्मण स्पष्ट कह रहे हैं—

मुक्ति नहीं जानता मैं भक्ति रहे काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैशगन्ध।
पीता रहूँ सुधा इन्दु सिन्धु से बरसती हुई, तो सुख मुझे अधिक होगा।

परिमल, पृ० २२३

इसी मान्यता के अनुसार निराला जी 'आराधना' में सब कुछ छोड़कर राम-राम जपते दिखाई देते हैं—

कृष्ण कृष्ण राम राम
जपे हैं हजार नाम—(पृ० १२)

× × ×

कामरूप हरो काम जपूँ नाम राम राम—(पृ० १४)

'अधिवास' नामक कविता में मुक्ति को छोड़कर 'एक भाई' का दुःख दूर करने की कामना निराला जी में दिखाई दे रही है—

कहाँ ? मेरा अधिवास कहाँ ? क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?

जीव का जहाँ शाश्वत निवास है उस मोक्ष-धाम में समस्त गतियाँ समाप्त हो जाती हैं। उसकी सिद्धि के लिए निराला जी ने अद्वैत का ग्रहण किया, किन्तु मन में जब तक करुणा का आवेश है वे 'एक निज भाई' के दुःख को देखकर उसके पास से हट नहीं सकते—

भला उस गति का शेष सम्भव है क्या ?
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई, देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे, झट उमड़ वेदना आई
उसके निकट गया मैं धाय, लगाया उसे गले से हाय !
फँसा माया में हूँ निरुपाय, कहो फिर कैसे गति रुक जाय।

(अधिवास—परिमल)—पृ० ९८-९९।

वास्तव में निराला जी का हृदय ऐसा ही पर-दुःख-कातर रहा है। ऐहिक कष्टों की लम्बी परम्परा के बाद मिलनेवाली अच्छी खासी रकमों को निराला जी दीन-दुखियों को, अत्यन्त निर्मम होकर, दान कर देते रहे हैं। एक बार तो, कहा जाता है, एक लम्बी धनराशि उन्होंने व्यवसाय के रूप में भिक्षा-वृत्ति करने-वाली एक स्त्री को इसलिए दान कर दी कि उसे फिर भिक्षा न माँगनी पड़े। पौरुष, ओज, महाप्राणता, निर्भीकता, कठोरता, संघर्षवीरता आदि गुणों के साथ हृदय की कोमलता, भावुकता, दयार्द्रता और पर-दुःख-कातरता निराला जी के व्यक्तित्व में विरोधी गुणों के समन्वय का अपूर्व आकर्षण उत्पन्न करते हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के प्रभाव से निराला जी ने ईश्वर की कल्पना मातृ-रूप में भी की है—

जिनके कटाक्ष से करोड़ों शिव-विष्णु-अज
कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह, कोटि-इन्द्र-सुरासुर

जड़ चेतन मिले हुए जीव जग, बनते पलते हैं—नष्ट होते हैं अन्त में—
सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती है आदि शक्ति रूपिणी,
शक्ति से जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है, माता हैं मेरी वे।

परिमल, पृ० २२२।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' से भी निराला जी पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। 'परिमल' का यह प्रार्थना-गीत तथा इसी प्रकार की अन्य प्रार्थनाएँ भी गीताञ्जलि की प्रार्थनाओं के आधार पर ही लिखी गई हैं। छन्द और लय भी बँगला जैसी ही है—

जीवन प्रात समीरण सा लघु विचरण निरत करो।
तरु तोरण तृण-तृण की कविता, छवि मधु सुरभि भरो,
अंचल सा न करो चंचल, क्षण-भंगुर, नत नयनों में स्थिर दो बल,
अविचल उर—

प्रार्थना—परिमल, पृ० ८।

आध्यात्मिक अद्वैत का प्रकाशन निराला जी ने 'मैं' शैली में किया है। जीव ब्रह्म का ही अंश है, इसी आधार पर निराला जी ने 'तुम और मैं' कविता में अनेक ऐसे रूप-व्यापारों की योजना की है जिनपर यह अंशांशी-भाव घटित होता है—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचलगति सुर सरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त-कामिनी कविता;

अपरा, पृ० ५८

कहीं-कहीं ये परस्पर-सम्बद्ध रूप-व्यापार पारस्परिक मधुर सम्बन्ध का प्रकाशन बड़ी ही सुकुमार भाव-व्यंजना के साथ करते हैं—

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भव-सागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त-पुरुष मैं प्रकृति प्रेम-जंजीर।
तुम आशा के मधुमास, और मैं पिक-कल-कूजन-तान,
तुम मदन-पंच-शर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अम्बर मैं हूँ दिग्वसना।
तुम चित्रकार-घन-पटल श्याम मैं तड़ित्-तूलिका-रचना।

अपरा, पृ० ५६।

कहीं-कहीं इसी वर्णन में पुरुषोचित पौरुष भी व्यक्त होता है—

तुम नाद-वेद-ओंकार-सार मैं कवि शृंगार-शिरोमणि।

अपरा, पृ० ६०।

इसी प्रकार निराला जी ने अध्यात्म-चिन्तन के क्षणों में माया पर भी विचार किया है। माया का आवरण बड़ा ही रमणीय होता है। यह जीव को, अपनी रमणीयता में फाँसकर, दुःख-द्वन्द्व के मार्ग पर अग्रसर करती है और अन्त में अपने कड़ुवे फल खाने के लिए देती है। निराला जी ने माया की इन विशेषताओं का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

तू किसी के चित्त की है कालिमा, या किसी कमनीय की कमनीयता ?
तू किसी भूले हुए की भ्रान्ति है, शान्ति-पथ पर या किसी की गम्यता ?
यक्ष-विरही की कठिन विरह-व्यथा या कि तू दुष्यन्त-कान्त-शकुन्तला ?
या कि कौशिक-मोह की तू मेनका, या कि चित्त-चकोर की तू विधु-कला ?
तू किसी वन की विषम-विष-वल्लरी या कि मन्द समीर गन्ध विनोद की ?
सुप्त सुख की सेज पर सोती हुई हो रही है भैरवी तू नागिनी ?

परिमल, पृ० ७२-७३।

इस प्रकार के दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन के अतिरिक्त निराला जी ने अव्यक्त-तत्त्व के साथ अपने हृदय के भावात्मक सम्बन्ध की व्यंजना भी मधुर गीतात्मक शैली में की है। माया अथवा अज्ञान के अँधेरे के उस पार कोई अव्यक्त रहता है। उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा का निम्नांकित भाव अत्यन्त स्वाभाविक है—

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल पल के स्रोत जल-जग, गगन घन-घन-धार
(रे, कह)
गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर लहर-कच-कर कमल-मुख पर
हर्ष-अलि-हर स्पर्श-शर, सर, गूँज बारम्बार (रे, कह)

गीतिका, पृ० १४।

इस पंक्तियों में संधि-समास की संश्लिष्टता वंगीय प्रभाव के कारण आई है। इस प्रकार की समास-शैली का हिन्दी में प्रचलन न होने के कारण इसमें अर्थ-क्लिष्टता भी है।

यह अव्यक्त तत्त्व हमारे समीप ही है, हम इसे जान न सकें यह हमारा दोष है—

पास ही रे हीरे की खान, खोजता कहाँ और नादान।
कहीं भी नहीं सत्य का रूप अखिल जग एक अन्ध तम कूप

ऊर्मि घूर्णित रे मृत्यु महान खोजता कहाँ यहाँ नादान।

गीतिका, पृ० २७।

वह परम तत्त्व भीतर ही कठोर साधना द्वारा प्राप्त होता है, बाहर नहीं। सिद्धि का मार्ग भी सरल नहीं है—

चक्र के सूक्ष्म छिद्र के पार बेधना तुझे मीन शर मार
चित्त के जल में चित्र निहार, कर्म का कार्मुक कर में धार
मिलेगी कृष्णा सिद्धि महान खोजता कहाँ उसे नादान।

गीतिका, पृ० १८।

जीव वास्तव में स्वयं ब्रह्म है।

स्पर्श मणि तू ही अमल अपार, रूप का फैला पारावार,
व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार, कामिनी की लज्जा, शृंगार
खोलते खिलते तेरे प्राण, खोजता उसे कहाँ नादान।

गीतिका, पृ० १९।

निराला जी ने अव्यक्त तत्त्व को नारी रूप में भी देखा है। वह एक विराट् नारी रूप है; प्रकृति के तत्त्व उसके भिन्न-भिन्न अंग हैं; रूप उसका परम भास्वर है—

कौन तुम शुभ्र किरण-वसना, सीखा केवल हँसना, केवल हँसना,
शुभ्र किरण-वसना,
मन्द मलय भर अंग-गन्ध मृदु बादल अलकावलि कुंचित ऋजु
तारक-हार चन्द्र-मुख मधु-ऋतु, सुकृत-पुंज-अशना,
चंचल कैसे रूप-गर्व-बल तरल सदा बहती कल कल कल।
रूपराशि में टलमल-टलमल-कुन्द धवल-दशना।

गीतिका, पृ० ३४।

प्राण-प्रिय परम-तत्त्व के प्रेम में सारी सृष्टि विरह-विधुरा हो रही है—

प्राण-धन को स्मरण करते नयन झरते नयन झरते?
स्नेह ओत-प्रोत, सिन्धु दूर, शशि-प्रभा दृग
अश्रु-ज्योत्स्ना-स्रोत।
मेघमाला सजल नयना, सुहृद उपवन को उतरते!
दुःख-योग, धरा विकल होती जब दिवस-वश
हीन ताप-करा,
गगन-नयनों के शिशिर झर, प्रेयसी के अधर भरते।

गीतिका, पृ० ५२।

निराला जी ने प्रकृति के तत्त्वों पर मानवीय भावों का आरोप करके, उनके आधार पर भी, अव्यक्त के शब्द-चित्र अंकित किए हैं। गगन में धीरे-धीरे सन्ध्या-सुन्दरी का आगमन हो रहा है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी धीरे धीरे धीरे
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु जरा गम्भीर, नहीं है उसमें हास-विलास। (परिमल, पृ० १०६)

सन्ध्या का यह वर्णन केवल मानवीकरण द्वारा किया हुआ प्रकृति-वर्णन नहीं है। दिन-भर की जीवन-यात्रा के बाद विश्राम और शान्ति देने का उसका गुण आध्यात्मिकता की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है—

मदिरा की वह नदी बहाती आती, थके हुए जीवों को वह सस्नेह,
प्याली एक पिलाती, सुलाती उन्हें अंक पर अपने।
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने।
परिमल, पृ० ११०।

इसी प्रकार खिले हुए कमल को दिव्य-सौन्दर्य-धाम अव्यक्त का प्रतीक बनाया गया है—

वन्य-लावण्य लुब्ध संसार देखता छवि तरु बारंबार,
सहज ही नयन सहस्र अजान, रूप-विधु का करते मधुपान
रूप की सजल प्रभा में आज, तुम्हारी नग्न कान्ति, नव लाज
मिल गए एक प्रणय में प्राण, रुक गया, प्रिय तब मेरा गान
परिमल, पृ० ४०, ४१।

अव्यक्त के प्रति महादेवी वर्मा ने माधुर्य-भाव की व्यंजना की है। परन्तु निराला जी निस्पृह साधक की भाँति उनके स्पर्श से विश्व को पवित्र किए जाने की कामना करते हैं—

पावन करो नयन
रश्मि, नभ-नील पर
सतत, शत रूप धर
विश्व-छवि में उतर,
लघु कर करो चयन।

ऐहिक परिस्थितियों से दुःख, असन्तोष और उसके फल-स्वरूप विषाद और उदासी रहस्यवाद के मूल में रहती है। नीचे की पंक्तियों में निराला जी ने जीवन में दुःख और क्रन्दन की ओर दृष्टिपात किया है—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा अन्तर वज्र कठोर, देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अन्ध तम-निशि न कभी हो भोर।
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता इतना क्रन्दन-अभिनन्दन
हो मेरी प्रार्थना विफल हृदय कमल के जितने दल
मुरझाएँ, जीवन हो म्लान, मुग्ध सृष्टि में मेरे प्राण,
प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की, मेरा जग हो अन्तर्धान
तब भी क्या ऐसे ही तम में अटकेगा जर्जर स्पन्दन!

अपरा, पृ० ६०।

भौतिक विषाद की ओर संकेत इन पंक्तियों में भी किया गया है—

कुछ न हुआ, न हो, मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
मेरे पास तुम रहो।
मेरे नभ के बादल यदि न हटे—चन्द्र रह गया ढका।

अपरा, पृ० १३१।

और भी—

गहन है यह विश्व कारा—स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।
× × ×
प्रिय मुझे वह चेतना दो देह की, याद जिससे रहे वंचित गेह की
खोजता फिरता न पाता हुआ, मेरा हृदय हारा।

अपरा, पृ० १३४।

निराला जी के रहस्यवाद में अध्यात्म की प्रमुखता होने के कारण योग और अन्तःसाधना की आवश्यकता भी मानी गई है। 'पंचवटी प्रसंग' कविता में राम अद्वैत-तत्त्व का मर्म समझाकर अद्वैत-सिद्धि के लिए योग की आवश्यकता बताते हैं—

× × ×
जागता है जीव जब।
योग सीखता है वह योगियों के साथ रह
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता

मन बुद्धि और अहंकार से है लड़ता जब
समर में दिन दूनी शक्ति उसे मिलती है।

परिमल, पृ० २३२।

इसी प्रकार की अन्तःसाधना का वर्णन निराला जी ने 'राम की शक्ति पूजा' के सम्बन्ध में भी किया है। राम की शक्ति-पूजा का प्रसंग निराला जी ने 'देवीभागवत' से लिया है। इस ओर प्रवृत्ति होने का कारण स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शक्ति-उपासना का प्रभाव है।

राम किस प्रकार देवी की उपासना में लीन हैं—

क्रम क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस।

× × ×

प्रति जप से खिंच खिंच होने लगा महाकर्षण,
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी पद पर
दो दिन निष्पन्द एक आसन पर रहे राम
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम
आठवाँ दिवस मन ध्यान युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध
हो गए दग्ध जीवन के तप के समारब्ध

अनामिका, पृ० १६२,१६३।

शक्ति की साधना का यह मार्ग स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के शक्ति-उपासना-मार्ग के अनुसार है। हिन्दी-काव्य के आधुनिक रहस्यवाद में साधना की अवतारणा निराला जी ने ही की है।

अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण निराला जी साधारण वस्तु-प्रधान काव्य-वर्णन में भी रहस्यवाद की अवतारणा करने में सफल हुए हैं। हमारा अभिप्राय उनके 'तुलसीदास' काव्य से है। अत्यन्त व्यक्त और बाह्य-वस्तु-प्रधान इस खण्ड-काव्य के प्रसंगों में रहस्यवाद की उद्‌भावना निराला जी ने जिस सुन्दरता से की है वह उनकी मौलिक कल्पना और नवीन-उद्भावना-शक्ति का परिचायक है। राजापुर के एक साधारण नागरिक, तुलसीदास चित्रकूट-भ्रमण के लिए जाते हैं। वहाँ की रमणीय प्रकृति को देखकर उनको ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति एक दिव्य चेतना से ओत-प्रोत है। यह अनुपम दृश्य

देखकर वे भाव-तन्मय हो जाते हैं। तन्मयता के इन क्षणों में उन्हें प्रकृति से एक दिव्य-सन्देश उपलब्ध होता है। इस प्रसंग की उद्भावना निराला जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से की है। तुलसीदास को ऐसा लग रहा है जैसे वे जड़ से चेतन की ओर बढ़ रहे हों। प्रकृति के रमणीय रूप ने जिस 'सत्य' को अपने में छिपा रक्खा है वह धीरे-धीरे तुलसीदास के सामने प्रकट हो रहा है। 'सत्य' का यह आभास मिलते ही वे आकाश के स्तर पर स्तर पार करते ऊपर उठते चले जा रहे हैं। उनका ऊर्ध्वगामी मन देखता है कि भारत की दैवी-संस्कृति का सूर्य अज्ञान-राहु से आक्रान्त हो गया है। वे उसका उद्धार करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस तरह निराला जी ने बड़ी ही चतुरता से आध्यात्मिक तत्त्व के साथ नूतन राष्ट्रीय चेतना का समन्वय किया है। इसके उपरान्त तुलसीदास का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है। प्रकृति में दिव्य आभास के बाद ही उन्हें वहीं अपनी अतिवल्लभा पत्नी की आवृत्ति दिखाई देती है। मोह में फँसकर उनका जिज्ञासु मन नीचे उतर आता है।

पत्नी की इस स्मृति से व्याकुल होकर वे घर आते हैं। परन्तु पत्नी उसी दिन अपने भाई के साथ मायके चली गई है। वे भी उसी समय ससुराल पहुँच जाते हैं। सामने पत्नी विक्षुब्ध भाव से खड़ी है। रत्नावली के केश खुल गए हैं, आँखों से ज्वाला निकल रही है। उस ज्वाला में उसका रूप भस्म हो रहा है और शरीर की नग्न वास्तविकता तुलसीदास के सामने प्रकट हो रही है और वे हतप्रभ और अवाक् देख रहे हैं। यह अद्भुत दृश्य उनके मन में प्रसुप्त दिव्य-संस्कार का निवारण कर देता है। इस प्रकार समस्त कथानक का संघटन निराला जी ने अपूर्व रहस्यमय ढंग से किया है।

तुलसीदास प्रकृति के रूप में दिव्य सत्य की छाया इस प्रकार देख रहे हैं—

> केवल विस्मित मन, चिन्त्य नयन
> परिचित कुछ भूला, ज्यों प्रियजन—
> ज्यों दूर दृष्टि की धूमिल-तन तट-रेखा,
> हो मध्य तरंगाकुल सागर
> निःशब्द स्वप्नसंस्काराम
> जल में अस्फुट छवि छायाधर यों देखा।

तुलसीदास, १५वाँ पद।

प्रकृति का कण-कण पुकार-पुकारकर उनसे कह रहा है—

> कहता प्रति जड़, "जंगम जीवन ! भूले थे अब तक बंधु ! प्रमन ?
> यह हताश्वास मन भार श्वास भर वहता;

तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि, देखो यह धूलि-धूसरित छवि
छाया इसपर केवल जड़ रवि खर दहता।

तुलसीदास, १७वाँ पद।

इस दिव्य सन्देश ने उनके मन को व्याकुल कर दिया है और मन निर्बन्ध होकर उड़ रहा है—

बहकर समीर ज्यों पुष्पाकुल वन को कर जाती है व्याकुल।
हो गया चित्त त्यों कवि का तुलकर उन्मन,
वह उस शाखा का वन-विहंग उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग।
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन।
दूर, दूरतर, दूरतम, शेष, कर रहा पार मन नभोदेश।
सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर,
छोड़ता रंग फिर-फिर सँवार उड़ती तरंग ऊपर अपार।
सन्ध्या-ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अम्बर तर।

(२२,२३)[1]

तुलसीदास का ऊर्ध्वगामी मन 'दूर, दूरतर, दूरतम' जाकर क्या देखता है—

उस मानस दूर देश में भी, ज्यों राहुग्रस्त आभा रवि की।
देखी कवि ने छवि, छाया सी, भरती सी—
भारत का सम्यक् देशकाल; खिंचता जैसे तम-शेष जाल।
खींचती, बृहत् से अन्तराल करती सी— (२४)

इसके पश्चात् इसी छाया-चित्र में भारतीय-संस्कृति के पराभव का भव्य चित्र है जिसे देखकर तुलसीदास मन में निश्चय करते हैं—

करना होगा यह तिमिर पार, देखना सत्य का मिहिर-द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर, रह सत्य-मार्ग से स्थिर निर्भर—
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय। (३५)

परन्तु सत्यान्वेषण के ईश्वरीय मार्ग में माया की अनेक बाधाएँ सामने आती हैं। तुलसीदास के इस मार्ग में, 'वाम-सरिता' की तरह दुस्तर, 'वामा' सामने आ जाती है—

उस क्षण उस छाया के ऊपर, नभ-तम की-सी तारिका सुघर;

---

१. ये संख्याएँ 'तुलसीदास' के पदों की संख्याएँ हैं। इस प्रसंग में उद्धृत पदों का संख्या-निर्देश आगे भी इसी प्रकार किया जा रहा है।

आ पड़ी, दृष्टि में, जीवन पर, सुन्दरतम
प्रेयसी प्राण-संगिनी, नाम शुभ रत्नावली सरोज-दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम। (३७)

पर यही विघ्न-रूपिणी वामा आगे चलकर भव्य योगिनी के रूप में कल्याण-परम्परा का द्वार उद्घाटित करती दिखाई देती है—

बिखरीं छूटी शफरी-अलकें, निष्पात नयन-नीरज-पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता;
निःसंबल, केवल ध्यान-मग्न, जागी योगिनी अरूप-लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता—(८३)

तदनन्तर यह योगिनी तुलसीदास के इस निर्मर्यादित प्रेम की निन्दा करने लगी और तुलसीदास का—

जागा जागा, संस्कार प्रबल, रे, गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा वामा वह न थी अनल-प्रतिमा वह;
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान, हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह। (८६)

यदि वह वामा न थी, तो क्या थी? वह थी अखिल-विश्व की विराट् माता शारदा—

देखा, शारदा नील-वसना, हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री,
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर फूटीं तर अमृताक्षर-निर्झर,
यह विश्व-हंस, हैं चरण सुघर जिसपर श्री। (८७)

इस वरदात्री ने कवि को फिर ऊर्ध्वगामी बनाया और अपार्थिव लोक में उठता हुआ कवि समष्टि-भावापन्न हो गया—

दृष्टि से भारती से बँधकर कवि उठता हुआ चला ऊपर,
केवल अंबर—केवल अंबर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य-प्रसर धूसर समुद्र शशि-तारा-हर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर, रेखा। (८८)

ऊर्ध्वगामी होकर तुलसीदास 'गोस्वामी तुलसीदास' के रूप में प्रकट हो सके।

इस प्रकार निराला जी ने, कामायनी की तरह, प्रसंग के भीतर रहस्य की योजना सफलतापूर्वक की है। कामायनी की रहस्य-योजना दर्शन-विशेष के आधार पर है, यहाँ सामान्य है। 'तुलसीदास' का कथानक छोटा होने के

कारण कामायनी की तरह विस्तार से रहस्य-योजना करने का अवसर इसमें नहीं मिल सका है। फिर भी, कल्पना, उद्भावना और वर्णन-नैपुण्य में किसी प्रकार की हीनता नहीं है।

रहस्य-भावना के अन्तर्गत आध्यात्मिक अद्वैत और अव्यक्त के गीत गाकर भी निराला जी लोक-बाह्य, लोक-निरपेक्ष पलायनवादी नहीं रहे हैं। लोक के दुःख-दैन्य पर उनकी दृष्टि बराबर रही है। स्वातंत्र्य-प्रेम और राष्ट्रीयता के भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने किस प्रकार 'तुलसीदास' जैसी रचना में भी मार्ग निकाल लिया, यह हम अभी देख चुके हैं। सामाजिक और साहित्यिक सभी प्रकार की विकृत रूढ़ियों के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह का स्वर ऊँचा करके क्रान्ति का आवाहन किया है। 'उद्बोधन' और 'मुक्ति' नाम की कविताओं में निराला जी ने नव-निर्माण की ओर संकेत किया है। 'नव-निर्माण' का यह सन्देश, 'भविष्य की मंगलाशा' की भावना के, जो कि आधुनिक रहस्यवाद की एक विशेषता है, अनुरूप है—

आँखों में नव-जीवन की तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।
बार-बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झंकार,
उठा तू भैरव निर्जर राग।
पुनर्वार काँपे पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश।
पुनर्वार गाएँ नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक छा जाए विश्वास।

अनामिका, पृ० ६७।

'मुक्ति' के निम्नांकित गीत में विद्रोह का प्रखर स्वर निराला जी की ओजस्विता और महाप्राणता के अनुरूप है—

तोड़ो तोड़ो तोड़ो कारा पत्थर की, निकलो फिर,
गंगा जलधारा!
गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती!
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुव-तारा।—
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा!

अनामिका, पृ० १३७।

दुःख, दैन्य, संघर्ष की ओर दृष्टि होने के कारण निराला जी प्रगतिशील काव्य की ओर आकर्षित हुए। समाज के विद्रूपों और विडम्बनाओं की ओर निराला जी की भावुक दृष्टि गई। 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'नए पत्ते' आदि युद्धोत्तर-कालीन रचनाओं में निराला जी ने सामाजिक विकृतियों पर व्यंग्य-विनोद-पूर्ण आक्षेप किए हैं। काव्यशैली में भी इधर आकर निराला जी ने परिवर्तन स्वीकार किया है। 'बेला' में उर्दू-साहित्य की गजलें तथा अन्य बहरों के नए प्रयोग भी किए गए हैं। इधर आकर, शैली भी सरलता और स्पष्टता की ओर झुकती दिखाई देती है। नवीनता की ओर झुकते हुए भी निराला जी ने मनोविश्लेषणवाद और फ्रायड के काम-सिद्धान्त की अवतारणा अपने काव्य में नहीं की है। उनकी आन्तरिक प्रवृत्ति भक्ति, दर्शन और अध्यात्म की ओर ही झुक रही है। 'सहस्राब्दि' और 'बुद्ध के प्रति' कविताओं में विज्ञानवाद का खण्डन भी निराला जी ने किया है। आज का विज्ञान किस प्रकार अहित कर रहा है—

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा; सुख के लिए खिलौना जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन; केवल पैसे
आज लक्ष्य में हैं मानव के; × × × ×
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।

अपरा, पृ० १५१।

इस रोग की चिकित्सा आध्यात्मिक है—

× × × मानव न रहे करुणा से वंचित;
फूटें शत-शत उत्स सहज मानवता जल के,
यहाँ-वहाँ पृथ्वी में सब देशों में छलके;
छल के, बल के, पंकिल भौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्हीं से, हुई तुम्हीं से ज्योति प्रदर्शित

भगवान् बुद्ध के प्रति—अपरा, पृ० १५१-५२।

इधर जीवन की सन्ध्या के समीप आकर संघर्षों और शारीरिक कष्टों के कारण कवि का वह आत्म-विश्वास, जो भौतिक अभावों को नगण्य समझता था, कम हो रहा है। कवि अपने को अकेला और क्षयिष्णु देख रहा है—

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सान्ध्य-वेला
पके आधे बाल मेरे, हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती जा रही, हट रहा मेला,
जानता हूँ, नदी झरने जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला।

अणिमा।

इस विषाद और नैराश्य में कवि की वृत्ति फिर 'अर्चना' और 'आराधना' की ओर झुकी है—

तिमिरदारन मिहिर दरसो। ज्योति के कर अन्ध कारा-
गार जग का सजग परसो।
लो गया जीवन हमारा अन्धता से गत सहारा;
गात के सम्पात पर, उत्थान देकर प्राण बरसो।
क्षिप्रतर हो गति हमारी खुले प्रति-कलि-कुसुम-क्यारी
सहज सौरभ से समीरण पर
सहस्रों किरण बरसो!

अर्चना—अपरा, पृ० १७४।

कभी निराला जी सगुण भक्तों की तरह सूर्यवंशी दाशरथि राम की महिमा का स्मरण करते हैं—

राम के हुए तो बने काम, सँवरे सारे धन, धान, धाम!
वह सूर्यवंश संभूत तभी, जीवन की जय का सूत तभी,
कृष्णार्जुन हारण पूत तभी, जो चरण विचारण बिना दाम
× × ×
विपदा हरण-हार हरि हे करो पार
प्रणव से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार

आराधना, पृ० २०,२१।

कभी वे आव्यक्त तत्त्व का आवाहन कर उसके स्पर्श से जगत् को नन्दन-वन बनाने की कामना करते हैं—

पल-प्रकाश को शाश्वत कर!
हरित हृदय पर मन्द उतर!
आँखों में चितवन, चित में सित, अमृत अधर में सुधा-धार स्मित
पग में गति जय-जीवन वांछित, अलस अकिंचन कर डम्बर!

निखिल-पलक देखें अस्मित-तन, दृग-भावों के वारि-विमोचन,
हृदय-हृदय में नन्दन-स्पन्दन, हर नश्वर दे सत्व अमर!

आराधना, पृ० ४१।

समुद्र के पार दूर, जो अज्ञात रहस्य-मय लोक है उसकी कितनी स्वाभाविक जिज्ञासा निराला जी ने की है—

पार-पारावार जो है स्नेह से मुझको दिखा दो,
रीति क्या? कैसे नियम? निर्देश कर-करके सिखा दो।
कौन से जन, कौन जीवन, कौन से गृह, कौन आँगन,
किन तनों की छाँह के तन, मान मानस में लिखा दो।
पठित या निष्पठित ये नर, देव, या गन्धर्व, किन्नर?
लाल, पीले, कृष्ण: धूसर, भजन क्या भोजन चिखा दो।

आराधना, पृ० ४२।

आज की हमारी शिक्षा-प्रणाली जिस तेजी से हमें अनैतिकता का आगार बना रही है उसकी ओर अत्यन्त शिष्ट-व्यंग्य 'पठित या निष्पठित' में छिपा है। विज्ञान के द्वारा अन्य ग्रहों में जीवन की खोज के जो प्रयत्न हो रहे हैं उनकी ओर संकेत 'लाल, पीले, कृष्ण, धूसर' के द्वारा किया जा रहा है।

इस प्रकार सामयिक चेतनाओं को वाणी देते हुए निराला जी अब भी, जब कि रहस्यवाद के अनुकूल परिस्थितियों का नितान्त अभाव है, रहस्यवादी गीतों की रचना, यदा-कदा करते रहते हैं। वास्तव में निराला जी के रूप में रहस्यवादी काव्यधारा को एक दृढ़, निर्भीक, पौरुष-सम्पन्न और साहसी समर्थक प्राप्त हुआ है। आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे दुर्जेय साहित्य-महारथी को ललकारने में भी निराला जी नहीं हिचके। उनकी रहस्यवाद सम्बन्धी कटु आलोचनाओं का उत्तर देते हुए निराला जी ने निर्भयतापूर्वक कहा था—

"पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'काव्य में रहस्यवाद' पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलानेवालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुन्तला का कुछ बिगाड़ नहीं सके; अपने शाप से उसे और चमका दिया।"[1]

निराला जी के ये विचार सबके लिए चाहे मान्य न हों

---

१. 'निराला'—डा० रामविलास शर्मा, पृ० ७०।

निर्भीकता और रहस्यवाद के प्रति आस्था इससे अवश्य प्रकट होती है। उनकी यह आस्था केवल सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी रही है, क्योंकि वे इसका बराबर अनुसरण करते आए हैं।

निराला जी का रहस्यवाद गीतों और मुक्त-छन्दों में व्यक्त हुआ है। निराला जी संगीत के अच्छे जानकार हैं। गीतिका में उन्होंने गीतों का जो संग्रह किया है उन गीतों में निहित राग के शास्त्रीय रूप का विवेचन भी निराला जी ने स्वयं किया है। गीतों की पद-योजना वंगीय प्रभाव से आक्रान्त होने के कारण कहीं-कहीं दुरूह हो गई है। दुरूहता का कारण सन्धि-समास की सघनता भी है। नीचे की पंक्तियों में अर्थ-योजना ऐसी ही क्लिष्ट है—

गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर-कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष अलि हर स्पर्श-शर, सर

इसी प्रकार की क्लिष्ट अर्थ-योजना अन्य स्थानों में भी दृष्टिगोचर होती है। ऐसे कई स्थानों में निराला जी को स्वयं अर्थ की व्याख्या करनी पड़ी है। लाक्षणिकता और प्रतीकशैली का प्रयोग भी निराला जी ने छायावादी शैली के अनुरूप ही किया है। स्वच्छन्द छन्दों का प्रयोग तो निराला जी की अपनी चलाई हुई पद्धति है। निराला जी ने सुकुमारता, कोमलता और लालित्य के स्थान पर ओज-गुण-विशिष्टता को स्वीकार किया है।

वास्तव में निराला जी ने हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त सेवा की है। सन् १६२० के बाद के साहित्य-क्षेत्र में वे आगे बढ़कर साहित्य-रचना करते रहे हैं। इधर पिछले वर्षों में इस साहित्य-महारथी को अनेक विषमताओं का सामना करना पड़ा है। शारीरिक रोग और मानसिक विकृति ने उन्हें पर्याप्त मात्रा में पीड़ित किया है। उनकी इधर की करुण स्थिति इन पंक्तियों में प्रकट हो रही है—

भग्न तन, रुग्ण मन, जीवन विषण्ण बन।
क्षीण क्षण-क्षण देह, जीर्ण सज्जित गेह,
घिर गए हैं मेह, प्रलय के प्रवर्षण।
चलता नहीं हाथ, कोई नहीं साथ,
उन्नत, विनत माथ, दो शरण, दो शरण।

आराधना, पृ० ६२।

वयःपरिणाम में महाप्राण की यह दयनीय परिणति, वास्तव में, समस्त हिन्दी-संसार के लिए बड़े ही परिताप की बात है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सन् १६०० में अल्मोड़े के कौसानी स्थान में स्व० पं० देवीदत्त पन्त के घर में हुआ था। अल्मोड़े के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में उन्होंने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। काव्य की प्रवृत्ति पन्त जी को सहज संस्कार के रूप में प्राप्त हुई थी। ये जब सातवीं कक्षा के विद्यार्थी थे तभी इन्होंने अपनी पहली कविता की रचना की थी। यह वह अवसर था जब कि स्वामी सत्यदेव परिव्राजकाचार्य अल्मोड़े गए हुए थे। सन् १६२० में पन्त जी म्योर सेण्ट्रल कालेज प्रयाग में प्रविष्ट हुए। उसी समय महात्मा गान्धी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था और उसके प्रसंग में महात्मा गान्धी को प्रयाग जाना पड़ा। वहाँ उनके भाषण का विद्यार्थियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अन्य बहुत से विद्यार्थियों के साथ ही साथ पन्त जी ने भी कालेज का परित्याग कर दिया और उनकी शिक्षा अधूरी ही रह गई। कालेज छोड़ देने के पश्चात् भी उन्होंने अपना निजी शिक्षा-क्रम बन्द नहीं किया। प्रयाग-विश्वविद्यालय के अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष पं० शिवाधार पाण्डेय के संसर्ग से पन्त जी अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन में लगे रहे और धीरे-धीरे उस साहित्य का अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया। दर्शन की ओर भी पन्त जी की रुचि आरम्भ से ही रही; विशेषतया पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन पन्त जी ने अधिक किया। हृदय और बुद्धि दोनों की दृष्टि से पन्त जी सदा उदार रहे हैं; किसी प्रकार की साम्प्रदायिक कट्टरता उनमें कभी नहीं आ पाई। फलस्वरूप, काल-चक्र के कारण काव्य और दर्शन के क्षेत्र में जो-जो नवीन उत्थान-पतन हुए उन सभी की उपादेय बातों को पन्त जी ने बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया। हीगेल और कांट का अच्छा अध्ययन करने के पश्चात् मार्क्सवादी विचार-धारा को भी पन्त जी ने समझा और आवश्यक सीमा तक उसका ग्रहण किया। महात्मा गान्धी ने स्वातन्त्र्य-संग्राम का संचालन करते हुए सत्य और अहिंसा के आधार पर जिस मानववाद की स्थापना की थी उसका भी समुचित ग्रहण पन्त जी ने किया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों का भी पन्त जी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इधर आकर पन्त जी ने योगिराज अरविन्द के 'दिव्य-जीवन' के सिद्धान्तों को भी बड़ी आस्था के साथ ग्रहण किया।

पन्त जी के इस दार्शनिक अध्ययन का प्रभाव उनकी काव्य-रचना पर भी पड़ा और, सच पूछा जाय तो, पन्त जी की समस्त साहित्यिक प्रगति इन

दार्शनिक विचारों को ही आधार बनाकर चली है। दृष्टिकोण में कालानुसरण की इसी क्षमता के कारण ही पन्त जी हिन्दी-काव्य की प्रायः उन समस्त प्रमुख धाराओं में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे सके, जो सन् १९०० के बाद से हिन्दी में प्रवाहित हुईं। वीणा से गुञ्जन तक पन्त जी अंग्रेजी की रोमाण्टिक काव्य-धारा की विविध प्रवृत्तियों से प्रभावित साहित्य की रचना करते रहे और उन्होंने अपने-आपको छायावादी, रहस्यवादी काव्यधारा का अनुपम रत्न प्रमाणित किया। फिर युगान्त में पन्त जी की प्रवृत्ति दर्शनों की तरफ हुई और उनके काव्य में दार्शनिक चिन्तन की उपलब्धियाँ परिलक्षित होने लगीं। मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवाद की स्थापना करने का प्रयत्न करते हुए पन्त जी 'ग्राम्या' तक प्रगतिवादी कवि रहे। इसके पश्चात् योगिराज अरविन्द के दर्शन से प्रभावित नूतन अध्यात्मवाद का दिव्य संगीत सुनाने में पन्त जी की कवि-वाणी प्रवृत्त हुई। पन्त जी की रचनाओं का नूतन अध्यात्मवादी यह तीसरा चरण सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के परिणाम में जो घोर आर्थिक दृष्टिकोण और भौतिक व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ मनोविश्लेषणवाद का आधार लेकर चलीं तथा उनसे जिस स्वैरगामी, कामाचारी साहित्य की अशिव सृष्टि हो रही है उसके विरोध में पन्त जी सर्वमंगलकारी अध्यात्मवाद का दिव्य सन्देश सुना रहे हैं। पन्त जी की रचनाएँ काल-क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं—

वीणा	सन् १९१८	स्वर्णकिरण	सन् १९४७
ग्रन्थि	,, १९२०	स्वर्णधूलि	,, १९४७
पल्लव	,, १९१८–२४	युगान्तर	,, १९४८
गुंजन	,, १९१९–३२	उत्तरा	,, १९४९
ज्योत्स्ना (काव्य-नाटिका)	,, १९३४	रजत-शिखर	,, १९५१
युगान्त	,, १९३४–३६	शिल्पी	,, १९५२
युगवाणी	,, १९३७–३९	अतिमा	,, १९५५
		वाणी	,, १९५७
ग्राम्या	,, १९३९–४०	पल्लविनी—काव्य-संग्रह—	
		वीणा से युगान्त तक	,, १९४०
		युगपथ = (युगान्त + युगान्तर)	,, १९४८

सन् १९४० से सन् १९४७ तक का समय मानों कवि के लिए संक्रान्ति-

काल है जिसमें चौराहे पर खड़ा हुआ कवि, मानों, विचार कर रहा है कि इस दिग्भ्रमकारी व्यामोह में कौन सा मार्ग अपने लिए उसे वरण करना है।

पंत जी ने जिस समय अपने साहित्यिक जीवन का शुभ समारम्भ किया था उस समय हिन्दी में छायावाद का प्रवर्तन हो गया था। इस नवीन काव्य-धारा का आकर्षण इतना अधिक था कि पन्त जी भी उसी ओर खिंच गए। और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि छायावादी काव्य की प्रेरणा के मूल-स्रोत—अंग्रेजी साहित्य की रोमाण्टिक काव्यधारा—का पन्त जी ने सीधा अध्ययन किया था। इस नई परम्परा के भीतर प्रकृति के विशाल क्षेत्र में प्राण-प्रतिष्ठा करके उसकी रहस्यमयी आत्मा का अनुसंधान करनेवाली अनुरागमयी आतुर दृष्टि कविजनों को प्राप्त हुई। पन्त जी ने भी अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ, शेली आदि प्रकृति-प्रेमियों की तरह अपने हृदय को, अपनी समस्त भाव-सम्पत्ति के साथ, प्रकृति के अनन्त-सौन्दर्य-मय क्षेत्र में व्यापारित कर दिया। इसी लिए पन्त जी मुख्यतया प्रकृति के रहस्यवादी कवि हैं। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रमणीय उपकरण उनका, मानों, आवाहन करते थे। प्रकृति से आनेवाले इसी रहस्य-मय सन्देश ने ही उनके तरल मानस के भाव-मुक्ताफलों को निकालकर उन्हें काव्यावलि के रूप में गुम्फित किया। इस प्रेरणा को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—

"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है; जिनका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है।"[1]

कूर्माचल की प्रकृति का रम्य रूप उन्हें किस प्रकार मंत्र-मुग्ध करके अपने में उलझाए रहता था इसका वर्णन भी उनके शब्दों में ही द्रष्टव्य है—

"मैं घण्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"[2]

पन्त जी ने वर्ड्सवर्थ की तरह प्रकृति के पटल में व्याप्त एक रहस्यमयी सत्ता को पहचान लिया था और उसकी ओर गंभीर आश्चर्य का भाव भी कवि के मानस में उदित हुआ करता था। अतः कवि जन-समूह से हटकर, कल्पना के पंखों पर बैठकर, स्वप्न-लोक में विचरण करता हुआ उस दिव्य-सौन्दर्य का

१, २. आधुनिक कवि—२. पंत—पर्यालोचन, पृ० १।

अमृत पान करता रहता था।[1] इस दिव्य-सौन्दर्य-राशि के सामने पार्थिव आकर्षण नगण्य हैं। कवि ने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा लूँ लोचन।

मोह—पल्लव, पृ० ३७।

प्रकृति के प्रति कवि के हृदय का यह अनुराग-भरा दृष्टिकोण प्रकृति के व्यक्त सौन्दर्य में अन्तर्हित अव्यक्त चेतन से उसके हृदय का प्रत्यक्ष संवाद स्थापित कराता है, और वे भाव-योग की इस मधुमती अवस्था में अनुभव करते हैं कि उन्हें एक रहस्यमय, नीरव निमंत्रण मिल रहा है—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन।

पल्लव, ३८।

प्रकृति के व्यक्त-स्वरूप में पन्त जी की यह रहस्य-भावना अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक है। उसके पर्दे में कोई 'छविमान' छिपा है जो कवि के 'अबोध, अज्ञान' हृदय को किसी अज्ञात पथ पर प्रेरित कर देता है—

न जाने कौन, अये छविमान!
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान।
फूँक देते छिद्रों में प्रान,
अहे! सुख-दुख के सहचर मौन,
नहीं कह सकती तुम हो कौन।

पल्लव, पृ० ४०।

---

१ आधुनिक कवि – पंत – पर्यालोचन, पृ० २।
"××मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना ×××विद्यमान है।×××प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया।"

प्रकृति के प्रति मार्मिक रहस्य-भावना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण ही पन्त जी प्रकृति के रहस्यवादी कवि माने जाते हैं। वास्तव में मानव भी प्रकृति का ही एक अंग है। परन्तु मानव ने अपने ऊपर भौतिक सभ्यता के मिथ्या आडम्बर के अनेक कृत्रिम आवरण चढ़ा लिए हैं जिनके कारण वह अपने अन्तर के वास्तविक प्रकृति-तत्त्व को भूल गया है। किन्तु फिर भी बाल्यावस्था में मनुष्य का चैतन्य अत्यन्त शुद्ध और निर्व्याज पवित्र होता है। उस अवस्था में वह प्रकृति के अन्तर के मर्म को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर वर्ड्सवर्थ ने अपने 'इम्मारटेलिटी ओड' नामक गीत में कहा है कि बाल्यावस्था में हमारे चारों ओर स्वर्ग रहता है।[1] पन्त जी भी इस शैशवीय अनघता का मूल्य समझते थे। आयु के वार्धक्य के साथ-साथ प्रतिदिन संचित होनेवाले अशैशवीय मलावरण को दूर करने में कवि अपने-आपको समर्थ नहीं पा रहा है। यदि कहीं इस निर्मल बाल-भाव को वह प्राप्त कर सकता तो जगत् के पारमार्थिक सत्स्वरूप के प्रति उसकी पुरानी जिज्ञासा कदाचित् शान्त हो जाती। परन्तु इसे सम्भव न देखकर कवि किसी अन्य शिशु से पूछता है कि बताओ तुम्हें यह संसार कैसा दिखाई देता है—

न अपना ही न जगत् का ज्ञान
न परिचित है निज नयन, न कान,
दीखता है जग कैसा तात!
नाम गुण रूप अजान।

शिशु—पल्लव।

परन्तु शिशु क्या उत्तर दे! जब आभास है तब कथन की सामर्थ्य नहीं, और जब कथन की सामर्थ्य होगी तब वह अमल आभास नहीं रहेगा। अतः वह रहस्यमय तत्त्व अनिर्वचनीयता के साथ रहस्यमय ही बना रहता है। स्वाभाविक रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की यह कल्पना, वास्तव में, सर्वथा नूतन है।

दार्शनिक अध्ययन ने भी कवि को रहस्यवाद की सामग्री दी है। जगत् के सुख-दुःख की बहुत सी समस्याएँ ऐसी हैं जिनका समाधान इस दृश्य जगत् में सम्भव नहीं है। भौतिक जीवन के उस पार किसी अव्यक्त देश में ही उनका समाधान सम्भव है। विश्व में 'परिवर्तन' का ताण्डव देखकर पन्त जी, चिन्तनशील होकर, सुख-दुःख की समस्या पर विचार करते हैं—

---

१. 'Heaven lies about us in our infancy.'
Immortality Ode.

आज का दुख कल का आह्लाद
और कल का सुख, आज विषाद
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार
पूर्ति जिसकी उस पार।

परिवर्तन—पल्लविनी, पृ० १३१।

परन्तु जगत् में दोनों की स्थिति सापेक्ष है; एक के अभाव में दूसरे का मूल्यांकन नहीं हो पाता; और फिर दुःख ही तो शाश्वत सुख के लिए व्यापारित करता है—

बिना दुख के सब सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार इसी से दया क्षमा औ' प्यार।

आ० क०—पन्त, पृ० ४३।

सुख-दुःख के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने भी यही कहा है—

व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।

(कामायनी—श्रद्धा)

जगत् का यह जो परिवर्तनशील अनित्य स्वरूप है इसके पीछे एक नित्य-सत्ता वर्तमान है। यह अनित्य उसी नित्य का विपरिणाम है—

नित्य का यह अनित्य नर्तन, विवर्तन जग, जग व्यावर्तन।
अचिर में चिर का अन्वेषण विश्व का तत्त्व-पूर्ण दर्शन॥[1]

उस नित्य ने सृष्टि बनाने की इच्छा की और सृष्टि बनने लगी।

अतल की एक अकूल उमंग सृष्टि की उठती तरल तरंग—[2]

फिर वह एक तत्त्व असंख्य नाम-रूपों में प्रकट हो जाता है—

एक छवि के असंख्य उडगन एक ही सब में स्पन्दन।[3]

श्रुति-वाक्य भी ऐसा ही कहता है—

एकं सद् बहुधा वदन्ति विप्राः। (ऋ० १।१६४।४६)

उसी अनन्त सौन्दर्य का एक कण विश्व के सुन्दर पदार्थों को सुन्दर बनाता है और सबमें उसी का विविधाभास है—

एक ही तो असीम उल्लास विश्व में पाता विविधाभास।
तरल जलनिधि में हरित विलास शान्त अम्बर में नील विकास।
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास काव्य में रस, कुसुमों में बास।

१, २, ३. 'नित्य जग'।—आधुनिक कवि—पंत।

अचल तारक पलकों में हास लोल लहरों में लास।
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार एक ही मर्म मधुर झंकार।[1]

ईश्वर की दिव्य विभूतियों का ऐसा ही संनिवेश गीता में भी बताया गया है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशसंभवम्॥ १०।४१॥

व्यक्ति भी उसी महान् तत्त्व का एक अंश है। उसका ज्ञात अथवा दृश्य रूप पारमार्थिक नहीं है, पारिभासिक या मायाविलसित है। अपनी इस पांचभौतिक कारा का अतिक्रमण करके हम अपने निजी स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं—

हमारे काम न अपने काम, नहीं हम जो हम ज्ञान
अरे निज छाया नें उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप
गँवाने आए हैं अज्ञात, गँवाकर पाते स्वीय स्वरूप।

पल्लविनी, पृ० १३२।

अपने 'स्वीय स्वरूप' को पाने के लिए वेदना की साधना का होना परमावश्यक है; तभी वह 'स्वर्ण' मिलता है—

वेदना ही में तपकर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण-हुलास

× × ×

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल
साधना ही जीवन का मोल। —पल्लविनी, पृ० १३०।

इस वेदना को उत्पन्न करनेवाला प्रेम अपने प्रखर बाणों का प्रहार सभी पर करता है; उससे कोई बच नहीं सकता—

बचा कौन जग में लुक-छिपकर
बिंधते सब अनजान।[2]

वह 'कोई' सबका संचालन करता हुआ सबको प्रेमपाश में बाँध लेता है—

---

१. 'नित्य जग'।—आधुनिक कवि—पंत।
२. आधुनिक कवि—पंत, पृ० ४४—मधुप का गीत।

लिए डोर वह अग जग की कर
हरता तन मन प्राण प्रेम की वंशी लगी न प्राण ।[1]

उसके प्रति यह प्रेम उत्पन्न होना उपयुक्त ही है; क्योंकि वह है अनन्त-छवि-भूषित—

नील नभ के निकुंज में लीन
नित्य नीरव निःसंग नवीन
निखिल छवि की छवि तुम छविहीन !
अप्सरी सी अज्ञात ।[2]

और उसका अदृश्य, अज्ञात निवास अखिल विश्व का [illegible] [illegible] ही है—

विश्व-हृत्-शतदल निभृत निवास
अहर्निश साँस साँस में लास
अखिल जग जीवन हास-विलास
अदृश्य, अस्पृश्य, अजात ।[3]

इस 'अखिल छवि की छवि' का आभास बुद्धि से नहीं श्रद्धा और विश्वासमयी प्रेम की हार्दिक वृत्ति से ही हो सकता है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता है
सुखमय जीवन । (गुंजन—मानव)

इसमें बुद्धिवाद का विरोध और हृदय-पक्ष की प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष है ।

विश्वासमयी यह साधना अत्यन्त सरल है क्योंकि उसके व्यक्त आभासों को भाव-योग के द्वारा देखकर उनमें लीन हो जाना, सबके लिए चाहे सरल न हो, परन्तु पंत जी जैसे भावयोगी के लिए कठिन नहीं है । परन्तु मुक्ति का वह पक्ष, जो पृथक् सत्ता को नष्ट कर देता है, बहुत कठिन है क्योंकि फिर रूपामृत में अवगाहन का अवसर नहीं रह जाता है—

है सहज मुक्ति का मृदु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बंधन ।
गुंजन, पृ० २८ ।

इसी लिए अपने को पृथक् रखकर ही उसका आभास देखना अच्छा है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है, भाती तट की चल जल-माली

---

१. आधुनिक कवि—पंत, पृ० ४४—मधुप का गीत ।
२, ३. आधुनिक कवि—पंत, वायु के प्रति, पृ० ४९ ।

आएगी मेरे पुलिनों पर वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर।
गुंजन, पृ० ७१।

वस्तुतः, प्रेमी पार्थक्य ही चाहता है, ऐक्य नहीं। परन्तु कहीं पन्त जी ने उस छवि में अन्तर्धान होने की कामना भी प्रकट की है—

हाँ, सखि आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान।
(छाया—पल्लव)

पन्त जी का रहस्य-दर्शन कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्पर्श अधिक कर गया है—

मुक्त पंखों में उड़ दिन रात सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य-नभ में भर दो अज्ञात मधुर जीवन की मादक तान।
× × × ×
छोड़ निर्जन का निभृत निवास, नीड़ में बँध जग के सानन्द।
भर दिए कलरव से दिशि आस गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद,
रिक्त होते जब-जब तरु वास, रूप धर तू नव-नव तत्काल।
नित्य नादित रखता सोल्लास, विश्व के अक्षयवट की डाल।
गुंजन– पृ० ८२,८३।

इसमें नित्य शब्द रूपी ब्रह्म के स्पन्दन से सृष्टि के अनेकरूपात्मक विकास का सुन्दर वर्णन है। इस दार्शनिक रहस्य-चिन्तन के साथ ही पन्त जी ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से आभासित होनेवाले रहस्य-लोक का, जो कि दृश्य-सीमा से मिला हुआ उसके बाहर की ओर स्थित है, मधुर आभास भी दिया है—

दूर उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील झंकार
छिपा छाया वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार।—गुंजन, पृ० ७४।

साधना के द्वारा उस परम तत्त्व को प्राप्त करके जीव किस प्रकार शुद्ध, बुद्ध, चेतन हो जाता है, इसका प्रतीक सान्ध्य-क्षितिज में अकेला जगमगाता हुआ 'एक तारा' है; वह जीवन्मुक्त हो चुका है—

चिर अविचल पर तारक अमन्द!
जानता नहीं वह छन्द बन्ध!

वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन!
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम भेदता जगत जीवन का तम
वह शुद्ध प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम!
(एक तारा—गुंजन)

प्रकृति के रमणीय दृश्यों में उलझा हुआ कवि सहसा चिन्तना-शील हो जाता है—

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम।
शाश्वत है गति शाश्वत संगम
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजतहास।
शाश्वत लघु लहरों का विलास
हे जग जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर पार।
शाश्वत जीवन-नौका-विहार
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण।
करता मुझको अमरत्व दान।
गुंजन—नौका-विहार।

इस प्रकार प्रकृति के रमणीय क्षेत्र में पन्त जी ने सुकुमार रहस्य-भावना का मधुर आलोक देखा है। बीच-बीच में प्रकृति के दृश्य-खण्डों से चिन्तन की प्रेरणा भी उन्हें मिलती रही है। 'गुंजन' से आगे बढ़कर कवि प्रकृति के एकान्त-विहार को छोड़कर वास्तविक जगत् की ओर आता दिखाई देता है। मार्क्सवादी विचारधारा ने कवि को 'समतल-संचरण' की प्रेरणा दी। उसी समय पंत जी ने मानव के महत्त्व को पहचाना और आदर्श रूप में महात्मा गान्धी के जीवन-दर्शन को अपनाया। कवि की इधर की रचनाएँ प्रगतिशील साहित्य की कोटि में आती हैं।

परन्तु पन्त जी ने अपनी मूलभूत आध्यात्मिकता को छोड़ा नहीं। वे बराबर भविष्य के एक आदर्श-युग का स्वप्न देखते रहे। भविष्य के सुख-स्वप्न की यह रहस्यमयी कल्पना पन्त जी ने बड़े आत्म-विश्वास के साथ की है। इस नवीन आध्यात्मिक आभास का सौन्दर्य उनपर प्रकट हो चुका है—

सुन्दरता का आलोक-स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,

जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।

युगान्त, पृ० ३४।

× × × ×

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल, भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास, मुझे मिल सका नहीं जग में, बाहर।

युगान्त, पृ० ३५।

ईश्वर से प्रार्थना है कि कवि उस सृष्टि का अग्रदूत बने—

जग-जीवन में जो चिर महान् सौन्दर्यपूर्ण औ' सत्यप्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ, जिसनें मानव हित हों समान।

युगान्त, पृ० २६।

दिव्य-ज्योति को इस प्रकार लोक पर अवतीर्ण कराने की आवश्यकता का अनुभव कवि ने पहले भी किया था; अर्थात् सन् १६३० की रचनाओं में। परन्तु तब कवि की लोक-भावना इतनी निर्दिष्ट और वास्तविक नहीं थी। उस समय के मधुर कल्पनाजीवी कवि ने मानों, बड़ा साहस करके, उस रहस्यमय अव्यक्त सौन्दर्य को विश्व की नरेतर सृष्टि में उतारा—

जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन
बरसो लघु-लघु तृण-तरु पर, हे चिर अव्यय, चिर नूतन
बरसो कुसुमों में मधु बन, प्राणों में अमर प्रणय धन
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में उर अंगों में सुख यौवन
छू-छू जग के मृत रजकण कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का दे प्राणों का आलिंगन!
बरसो सुख बन सुषमा बन, बरसो जग जीवन के घन
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में बरसो संसृति के सावन।

(सन् १६३०) गुंजन, पृ० ७६।

इसके पश्चात् धीरे-धीरे यह दिव्य-ज्योति प्रकृति के क्षेत्र से हटकर मानव-जगत् पर आने लगती है। 'ज्योत्स्ना-गुंजन'-काल में कवि ने इसे चाँदनी के प्रतीक में ही बाँधा है।[1] रचनाओं के तीसरे चरण में यही चेतना अरविन्द-दर्शन का सहारा लेकर नव्य-भव्य रूप में प्रकट होती है। 'चेतना' के इस नव्य

---

१. उत्तरा—प्रस्तावना, पृ० १।
"ज्योत्स्ना की स्वप्न-क्रान्त चाँदनी (चेतना)……"

भव्य रूप का परिचय इसी पुस्तक के सप्तम परिच्छेद में 'रहस्यवाद के नवीन विकास' में दिया जायगा।

पन्त जी के रहस्यवाद के अन्तर्गत ईश्वर की भावना भी है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से पन्त जी ने ईश्वर को मातृरूप में ग्रहण किया है। उनकी आरम्भ की कविताओं में जो सम्बोधन रूप में 'माँ' शब्द आता है वह ईश्वर-वाचक ही है। यह 'माँ' अखिल विश्व की जननी, विराट् माँ, है। उस वात्सल्यमयी के समक्ष अपने को कवि एक मुग्ध-भावापन्न बालिका के रूप में ही रखता है। 'माँ' से किए हुए बालिका के प्रश्न अत्यन्त सरल, भोले और कौतुकमय हैं। इसी प्रकार की मातृ-कल्पना कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी की है—

तोमार सोनार थालाय साजाव आज दुःखेर अश्रुधार।
जननी गो गाँथव तोमार गालार मुक्ताहार॥

गीताञ्जलि, ८३।

पन्त जी की भावधारा भी इसी की पथिक है—

माँ मेरे जीवन की हार।
तेरा मंजुल हृदय-हार हो अश्रुकणों का यह उपहार।

विनय—पल्लव, पृ० २३।

इस माँ के साथ व्यक्त जीवन की परिधि से पूर्व और पश्चात् के अद्वैत की मधुर कल्पना पंत जी ने की है—

जब मैं थी अज्ञात प्रभात
माँ मैं तब तेरी इच्छा थी।[1]

लेकिन अब इस व्यक्त जीवन में—

अब तेरी छाया सुखमय
अन्धकार में नीरवता बन
माँ, उपजाती है विस्मय![2]

किन्तु फिर ऐक्य हो सकता है—

वह दीपक अपने संमुख धर
जिसके पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर;
वह भविष्य होवे अवदात।[3]

१, २, ३. वीणा, १६।

माँ रूपी ईश्वर से निकलकर आया हुआ जीव, वास्तव में, ईश्वर की तरह ही निर्मल है; और उसका हृदय उस माँ का क्रीड़ास्थल। परन्तु हृदय पर एक भौतिक मल का आवरण वैसे ही चढ़ जाता है जैसे नीले स्वच्छ आकाश पर काले बादल छा जाते हैं और उसे मैला कर देते हैं—

काला तो यह बादल है
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ, माँ, काला० ।

मेरा मानस तो शशि-हासिनि
तेरी क्रीड़ा का स्थल है।

तेरे मेरे अन्तर में माँ, काला तो यह बादल है। वीणा, १०।

यह 'काला बादल' मोह, अज्ञान, दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों का प्रतीक है।

जीव की स्वाभाविक प्रगति तो 'माँ' की ओर ही है। परन्तु बीच में अनेक मायावी इन्द्रजाल उसे अपने में फाँसकर वहीं रोक लेते हैं; आगे नहीं बढ़ने देते—

उस छवि के मंजुल उपवन को इस मरु से पथ जाता है।
पर मरीचिका से पीड़ित हो मृग मग में दुख पाता है।

वीणा, पृ० ५३।

× × × ×

जिनको तूने सुखद सुरभि दी माँ जिनको छवि दी सुन्दर
मैं उनके ढिंग गई व्यग्र हो तुझे ढूँढ़ने को सत्वर
मधुबाला बन मैंने उनके गाए गीत गूँज मृदुतर,
पर मैं अपने साथ तुझे भी भूल गई मोहित होकर।

वीणा, पृ० ५।

समय आने पर अपनी भूल का ज्ञान होता है और अपने मूल-रूप को देखने की कामना मन में उत्पन्न होती है—

माँ, वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा
जग के निर्मल दर्पण में? वीणा, पृ० ४८।

यहाँ भारतीय वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव है। सृष्टि में सर्वत्र माँ का ही रूप प्रतिबिम्बित है। प्रकृति में, और स्वयं अपने में भी, माँ ही प्रतिबिम्बित है। इसी लिए प्रकृति के ईश्वरीय सौन्दर्य-विलास को पन्त जी ने अपनी आँखों में उतारा। देखिए, प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में माँ की रमणीय छवि कैसे छाई है—

> तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर कुमुद किरण से सहज उतर
> माँ, तेरे प्रिय पद-पद्मों में अर्पण जीवन को कर दूँ
> इस ऊषा की लाली में।
> तरल तरंगों में मिलकर, उछल-उछलकर हिल-हिलकर
> माँ, तेरे दो श्रवण-पुटों में निज क्रीड़ा-कलरव भर दूँ
> उभर अधखिली बाली में।

वीणा, पृ० ३।

'वीणा' में इसी प्रकार माँ रूपी अव्यक्त परम सत्ता के प्रति अनेक रमणीय उक्तियाँ हैं जिनमें कवि के बालिकारूपी मुग्ध हृदय की भाव-कुसुमाञ्जलि माँ के चरणों में अर्पित की गई है। आगे चलकर यह मातृ-भावना अन्य प्रवृत्तियों में अन्तर्हित हुई सी परिलक्षित होती है। तीसरे चरण की रचनाओं, 'उत्तरा' और 'अतिमा', में एक बार फिर मातृप्रेम का उद्रेक परिलक्षित होता है—

> खोलो हे अन्तर्मयि खोलो
> अपना स्वर्गिक वातायन।　　उत्तरा, पृ० ११५।

किन्तु माँ अतिमा के रूप में प्रकट हो रही है—

> यह अतिमा
> प्राणों के रथ पर
> मरकत रजत प्रसार पार कर
> भू विकास का अपनाकर मग
> नव गति, स्वर-संगति के धर पग
> निज पथ-दर्शक को श्रद्धा नत
> सहज समर्पित कर उर अभिमत
> भक्ति प्रीति युत शीश नवाती!
> यह अतिमा।　　अतिमा, पृ० ४५।

यह अतिमा समस्त भूमण्डल को दिव्य बनाती चली आ रही है। पन्त जी की यह सर्व-मंगल-कामना अत्यन्त उदार भाव से उल्लसित हुई है। माँ के इस विकसित रूप का आभास कवि को, रचनाओं के दूसरे चरण में ही, अरविन्द-

दर्शन के प्रभाव से, मिलने लग गया था और तीसरे चरण में तो यह भावना पुष्ट रूप में प्रकट हुई है।

पंत जी ने प्रियतम के रूप में भी ईश्वर की भावना की है। इस प्रियतम की रूप-विभूति प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। उसी के आधार पर कवि ने, प्रियतम का अनुसंधान, परिचय, विरहानुभूति, मिलन आदि व्यापारों को प्रकट किया है—

मिले तुम राकापति में आज, पहन मेरे दृग-जल का हार
बना हूँ मैं चकोर इस पार बहाता हूँ अविरल जलधार
नहीं आती फिर भी तो लाज, निठुर ! यह भी कैसा अभिमान !
हुआ था जब संध्या आलोक, हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर

वीणा, पृ० १९।

अपनी झलक दिखाकर प्रिय ने अपनी ओर आने का मधुर संकेत भी किया—

बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार। मुसकान—पल्लविनी, पृ० ९०।

कवि को एक दिन अपने प्रियतम का संयोग प्राप्त हो ही जाता है। उसके अमृत-स्पर्श से उसकी साधना पूर्ण हो गई और रोदन गान हो गया—

खिल उठा हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय
खुल गए साधना के बंधन
संगीत बना उर का रोदन।

युगान्तर—अमर स्पर्श, युगपथ, पृ० १४७।

इसी प्रकार पन्त जी की रचनाओं में उनकी रहस्य-वृत्ति परिलक्षित होती है। इसके मूल में जिज्ञासा की भावना आरंभ से ही रही है। आरंभिक जिज्ञासा सृष्टि के सुन्दर उपकरणों में छाए हुए सौन्दर्य का निर्माण करनेवाले के प्रति, साधारणतया, भावात्मक है। आगे चलकर उसमें आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का समावेश भी हो जाता है। विज्ञान हमारी ज्ञात सीमा को बढ़ा रहा है। प्रकृति के जितने नवीन क्षेत्रों तक मनुष्य की ज्ञानवृत्ति पहुँच चुकी है उनके निर्माता की जिज्ञासा भी हमारे मन में उत्पन्न होती जाती है—

यह ओसों की डाल पिरो दी किसने जीवन के आँगन में ?
किसकी शुभ्र किरण यह सहसा सतरंग इन्द्र-धनुष में चित्रित ?

× × ×

किस अदम्य आकांक्षा से अन्तरतम रे जग का आन्दोलित ?

× × ×

लौट-लौट जाते तट छूकर वाद-विवाद शास्त्र षड्दर्शन
सतत डूबते-उतराते सुख दुख इच्छाएँ जन्म औ' मरण
श्याम, विश्व घनश्याम, गहन घनश्याम रहस्य अनन्त चिरन्तन
चिरअनादि अज्ञेय पार पा जाते नहीं चक्षु वाणी मन।

स्वर्ण-किरण—जिज्ञासा, पृ० ४८।

युगान्तर में यही जिज्ञासा कुछ बौद्धिक—दार्शनिक और वैज्ञानिक—हो गई है—

कौन सत्य वह ? महाशून्य तुम
जिससे गर्भित होकर महाविश्व में बदल गए
धारण कर निखिल चराचर ?
जिसके बल से पंचभूत ये सतत कर्म में तत्पर
शब्दित नभ, चल अनिल, द्रवित जल, दीप्त अग्नि, भू उर्वर !

युगान्तर जिज्ञासा, युगपथ, पृ० २३७।

इसी प्रकार पन्त जी की समस्त रचनाओं में उनकी रहस्य-भावना अभिव्यक्त हुई है। पन्त जी की रहस्य-भावना प्रकृति के क्षेत्र से आरम्भ होकर ईश्वर के अव्यक्त आभास की ओर जाती है। भाव, बुद्धि और दर्शन के तत्त्वों से लिपटी हुई वह अभिव्यक्त होती है। अभिव्यक्ति का ढंग और रहस्य-भावना का उदय दोनों ही स्वाभाविक हैं। आरम्भ में इसकी प्रगति ह्रासमयी होकर फिर उत्कर्षोन्मुखी हुई है। जो कवि आरम्भ में प्रकृति के एकान्त कल्पना-लोक में अकेला विहार करता था वह धीरे-धीरे खुले जगत् की व्यक्त-भूमि पर आया। बीच में लौकिक प्रेम, असफलता, दार्शनिक चिन्तन आदि के कितने ही आवर्तन आते रहे। कभी निराशामयी दृष्टि रही और कभी प्रेम और सौन्दर्य के इन्द्रधनुषी प्रभाव ने चित्तवृत्ति को अपने में उलझाया। कवि की अव्यक्तवादी दृष्टि 'युगान्त' और ग्राम्या में व्यक्तवादी होकर, विश्व की विषमता के कारणों का परिहार करती हुई, भौतिक सुखों को खोजती रही; और अन्त में, एक बार फिर, भौतिक सुख के साथ अध्यात्म-चेतना के समन्वय का मनोमोहक रूप उसने देखा।

श्रीमती महादेवी वर्मा

हिन्दी के आधुनिक युग में प्रेम और वेदना की अमर गायिका श्रीमती महादेवी वर्मा का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १९०७ में फर्रुखाबाद के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। सन् १९३३ में उन्होंने एम० ए०

परीक्षा उत्तीर्ण की और उसी वर्ष प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में प्रिंसिपल के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। काव्य, कला और मार्मिक रहस्यानुभूति के संस्कार महादेवी जी ने बाल्यावस्था में ही प्राप्त किए थे। उनके नाना व्रजभाषा के अच्छे कवि और भक्त थे। उनकी माता भी हिन्दी-कविता की मर्मज्ञ थीं। माता के सम्पर्क से ही महादेवी जी को, आरम्भ में, तुलसी, सूर और मीरा के ललित पदों के अनुशीलन करने का अवसर मिला था। इस काव्यमय वातावरण में रहने के कारण महादेवी जी ने भी पहले व्रजभाषा में कविता करना आरम्भ किया, परन्तु शीघ्र ही, श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं से प्रभावित होकर, महादेवी जी खड़ी बोली में काव्य-रचना करने की ओर प्रवृत्त हुईं। व्रजभाषा का आदिम संस्कार महादेवी जी की काव्यभाषा में कभी-कभी 'रैन, हौले, नैन, बतास' आदि शब्दों के रूप में प्रकट हो जाता है। काव्य-रचना के लिए महादेवी जी ने खड़ी बोली को स्वीकार करके छायावादी काव्यधारा में प्रवेश किया। उस समय हिन्दी-कविता के क्षेत्र में प्रसाद, निराला और पन्त पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इनके पश्चात् महादेवी जी रहस्यवाद की अप्रतिम साधिका बनकर इस काव्यक्षेत्र में आईं और अपनी अनुपम प्रतिभा और तन्मयकारिणी भावधारा का प्रसार करने लगीं तथा तब से उसी पथ पर बराबर चली जा रही हैं।

छायावादी शैली पर महादेवी जी ने, धीरे-धीरे, ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि कविता ही नहीं गद्य-प्रबन्धों में भी उन्होंने इसका प्रयोग समान अधिकार से किया है। महादेवी जी के रचनात्मक और विवेचनात्मक दोनों प्रकार के गद्य-प्रबन्धों में सूक्ष्म लाक्षणिकता का प्रचुर चमत्कार और कल्पना-बाहुल्य आदि काव्योपयोगी गुण पाए जाते हैं जो कि रचनात्मक प्रबन्ध को अधिक हृदय-स्पर्शी, प्रभविष्णु और रमणीय बनाकर सँवारते हैं और विवेचनात्मक को दुरूह, धुँधला और अस्पष्ट बना देते हैं। काव्य के क्षेत्र में महादेवी जी, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत में, विशुद्ध छायावादी हैं[1] अर्थात् विषय-वस्तु और शैली दोनों की दृष्टि से वे छायावाद के अन्तर्गत परिगणित की जाती हैं। महादेवी जी की काव्य-रचनाओं का निर्माण-काल सन् १९२४ से आरम्भ होकर १९४२ तक, जब कि इनका अन्तिम काव्य-संग्रह 'दीपशिखा' प्रकाशित हुआ था, माना जा सकता है। उसके पश्चात् उनकी फुटकर रचनाएँ, अत्यल्प मात्रा में, यदा-कदा, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं; संग्रह के रूप

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ५८३।

में इधर उनका कोई नया काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। महादेवी जी के मुख्य काव्य-संग्रह निम्नलिखित हैं—

नीहार—१९२४-२८ रश्मि—१९२८-३१ नीरजा—११३१-३४ सान्ध्य-गीत—१९३४-३६	} यामा	दीपशिखा—१९४२

महादेवी जी ने जिस समय अपने कवि-जीवन का समारम्भ किया उस समय प्रेरणा के अनेक स्रोत उनके सामने थे; जैसे—कवीन्द्र रवीन्द्र तथा हिन्दी के प्रसाद, निराला, पन्त आदि छायावादी कवि, श्री मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध आदि व्यक्तवादी कवि तथा प्रणय-संगीत एवं राष्ट्रप्रेम का काव्य-स्रोत बहानेवाले अनेक कवि। परन्तु महादेवी जी ने अपने लिए छाया-रहस्य का पथ ही वरण किया जो उनकी आन्तरिक प्रकृति के नितान्त अनुकूल था। इस मार्ग पर वे ऐसी एकनिष्ठता से चलीं कि उन्होंने आज तक इस मार्ग का परित्याग नहीं किया है जब कि रहस्यवादी क्षेत्र के अन्य बहुत से कवि, आगे चलकर, अन्य दिशाओं की ओर आकृष्ट हो गए। ललित कलाओं का प्रेम और रमणीय रहस्य-भावना की ओर झुकाव महादेवी जी में बाल्यावस्था में ही, सहज रूप में था। बाल्यावस्था की इन वृत्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है—

"जब रात-दिन होने का प्राकृतिक कारण मुझे ज्ञात न था तभी सन्ध्या से रात तक बदलनेवाले आकाश के रंगों में मुझे परियों का दर्शन होने लगा था, जब मेघों के बनने का क्रम मेरे लिए अज्ञेय था तभी उसके वाष्प-तन में दिखाई देनेवाली आकृतियों का नामकरण कर चुकी थी, और जब मुझे तारों का हमारी पृथ्वी से बड़ा या उसके समान होना बता दिया गया तब भी मैं रात को अपने आँगन में "आओ प्यारे तारे आओ मेरे आँगन में छिप जाओ" गा-गाकर उन महान् लोकों को नीचे बुलाने में नहीं हिचकती थी। रात को स्लेट पर गणित के स्थान में तुक मिलाकर और दिन में माँ या चाची की सिन्दूर की डिबिया चुराकर कोने में फर्श पर रंग भरना और दण्ड पाना मुझे अब तक स्मरण है।"

सान्ध्य गीत—भूमिका, पृ० ६।

बाल्यावस्था का यह ललित-कला और रहस्य-दर्शन का संस्कार आगे चलकर कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण, उनके रहस्यवादी काव्य के रूप में, स्वाभाविक रूप से, परिवर्तित हो गया। 'कुछ अन्य परिस्थितियों' में दार्शनिक अध्ययन की अभिरुचि तथा जीवन की कुछ कटु अनुभूतियाँ हैं। महादेवी जी

ने उपनिषदों तथा अन्य भारतीय दर्शन-सिद्धान्तों का अच्छा अध्ययन किया है। स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है। अपनी नवीन पुस्तक 'पथ के साथी' में उन्होंने जिस श्रद्धा और भक्ति के साथ कवीन्द्र रवीन्द्र का नमस्कारात्मक स्मरण किया है वह उनके सिद्धान्तों और काव्य के प्रति उनकी गहरी आस्था को प्रकट करता है।

जीवन-यात्रा में होनेवाले कुछ कड़वे-मीठे अनुभवों के विषय में, यद्यपि, महादेवी जी ने स्वयं कहा है—

"संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है; उसपर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"

यामा की भूमिका, पृ० १२।

परन्तु 'बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ' से इंगित सम्पन्नता का सम्बन्ध जीवन के बाह्य-पक्ष से अधिक है, हृदय के मर्म को स्पर्श करके आन्तरिक सुख, शान्ति और सन्तुष्टि प्रदान करना उसकी सामर्थ्य में नहीं। अन्तर की मानवीय आकांक्षा इस 'दुलार, आदर और बहुत कुछ' से आगे बढ़-कर कुछ और चाहती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि इन बाह्य-सम्पन्नताओं से रहित होनेवाले व्यक्तियों के जीवन में भी आन्तरिक सामञ्जस्य से उत्पन्न सन्तोष का स्वस्थ सौरस्य एक मिठास उत्पन्न करता रहता है। महादेवी जी कवि, दार्शनिक और विदुषी होने के पहले एक नारी हैं और वे एक सफल गृह-जीवन व्यतीत करने में समर्थ नहीं हो सकीं। इससे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, उनकी चेतना अवश्य प्रभावित हुई है और उसमें एक वैराग्य अथवा असन्तोष की छाया का संचय अवश्य हुआ है। हाँ, महादेवी जी के हृदय की यह उदारता, सदाशयता और गम्भीरता अत्यन्त प्रशंसनीय है कि उन्होंने अपनी असफलता के विशिष्ट कारणों पर न कहीं खीझ प्रकट की है, न कहीं उपालम्भ और न कहीं किसी प्रकार की अन्य अमर्षात्मक प्रतिक्रिया। उदाराशयता और दृढ़ संयत-भाव के होते हुए भी उनके इस हार्दिक अभाव की अभिव्यक्ति कहीं-कहीं स्वतः हो गई है—

"समता के धरातल पर सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाय तो मेरे पास मित्र का अभाव है।"[1]

---

1. अतीत के चल चित्र, पृ० ११२।

× × × ×

"रहा दुःख का प्रकटीकरण - सो उसका लेशमात्र भी भार बनाकर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।"[1]

× × × ×

"पढ़ना समाप्त करते ही मैंने स्वयं अनेक विद्यार्थिनियों की चिन्ता करने का कर्तव्य स्वीकार कर लिया, अतः मुझे हठ कर खिलानेवाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है।"[2]

वैराग्य और असन्तोष की इस गूढ़ छाया ने ही महादेवी जी को नारी-जीवन के विविध अभिशापों और विवश परतन्त्रताओं के विशद यथार्थ चित्र देखने की प्रेरणा दी जिनका संकलन 'शृंखला की कड़ियाँ' में अत्यन्त मार्मिक और हृदय-स्पर्शी ढंग से उन्होंने किया है। 'अतीत के चल चित्र' में यह सहानुभूति-पूर्ण दृष्टिकोण, और भी अधिक उदार होकर, सभी को अपने स्नेहांचल में लपेटता दिखाई देता है। अपनी आरम्भिक रचना, नीहार, में महादेवी जी का रूप वेदना और पीड़ा का साकार स्वरूप ही प्रतीत होता है। महादेवी जी के विद्वान् आलोचक श्री विश्वंभर मानव का मत, इस सम्बन्ध में, अत्यन्त समीचीन है। वे कहते हैं—

"महादेवी जी की बुद्धि 'शृंखला की कड़ियाँ' में, आत्मा गीतों में और हृदय 'अतीत के चल-चित्र' में निहित है। काव्य-स्रष्टा के रूप में आज वे कितनी ही महान् हों, पर एक दिन वे नारी थीं और मूलतः आज भी वे नारी हैं। अक्षय सौन्दर्य के आकाश में उड़कर भी वे 'चलचित्रों' के ठोस धरातल को नहीं छोड़ सकी हैं। महादेवी न जाने कितने युगों की पूर्ण सजग महिला कलाकार हैं। उनके अन्तर में जो 'महानारी' बैठी है, उसकी 'विवशता' शृंखला की कड़ियों में, 'ममता' अतीत के चल-चित्रों में और 'मधुरता' यामा और दीपशिखा के गीतों में प्रकट हुई है।[3]

विरक्ति, असफलता और असन्तोष का यह संकलन उनके काव्य को वेदना की ओर मोड़ने का एक कारण रहा है। वर्तमान से दुःख और असन्तोष रहस्यवाद के मूल में रहते हैं। महादेवी जी का हृदय अत्यन्त भावुक है। उन्होंने अपने स्निग्ध-प्रवाहोन्मुख जीवन को सहसा व्याहतगति होते देखा और उनकी

---

१. अतीत के चल चित्र, पृ० ११५।

२. ,, ,, ,, ११६।

३. महादेवी की रहस्य-भावना, पृ० १३।

भावुक दृष्टि ने उन्हें चारों ओर ऐसी परिस्थितियों की विभीषिका ही दिखलाई और भगवान् अमिताभ की तरह उनके हृदय में करुणा के कण जमने लगे। सन् १९४२ में बंगाल के भीषण अकाल और भुखमरी के हृदयविदारक दृश्य ने, महाराणा प्रताप की तरह, उनके धैर्य को विचलित कर दिया। 'अतीत के चल-चित्र' की 'ममता' और 'शृंखला की कड़ियाँ' की 'विवशता' उन्हें उस समय अपने रहस्य-पथ से विचलित नहीं कर सकीं, जब कि नवीन मार्क्सवादी युग-चेतना के प्रभाव से, बराबर, कविजन छाया-पथ की कल्पना को छोड़कर ठोस धरातल पर आकर सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रचार करने लगे थे। परन्तु बंगाल के भीषण दृश्य ने उनकी दृष्टि को नीचे खींचा और उन्हें यह कहने के लिए विवश किया—

"दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।"[1]

जीवन पर पड़नेवाले इस दुःख और करुणा के भाव को महादेवी जी ने दार्शनिक रूप दिया है। गौतम बुद्ध के दुःखवादी दर्शन का प्रभाव महादेवी जी ने स्वयं स्वीकृत किया है—

"बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझनेवाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

उनके विचार में जीवन दुःख और सुख के धूप-छाँही डोरों से बुना हुआ है। दुःख को वे एक ऐसा व्यापक भाव समझती हैं जो समस्त संसार को एक सूत्र में बाँधकर रख सकता है। "हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।"[2] मनुष्य सुख का उपभोग अकेला ही करना चाहता है, परन्तु दुःख उसके जीवन को विश्व-जीवन में और उसकी वेदना को विश्व-वेदना में उसी प्रकार लीन कर देता है जैसे बिन्दु समुद्र में लीन हो जाता है। अखिल सत्ता के साथ भाव-तादात्म्य की यह स्थिति ही कवि के लिए मोक्ष है। सबके साथ संवेदन-शीलता से उत्पन्न होनेवाला लौकिक परन्तु सात्त्विक, दुःख और जीवात्मा का आध्यात्मिक दुःख—

---

१. 'बंग दर्शन' (प्रयाग महिला-विद्यापीठ—प्रथम संस्करण)—सम्पादिका महादेवी वर्मा, पृ० ७।

२. यामा की भूमिका—महादेवी वर्मा, पृ० १२।

ये दोनों ही महादेवी जी को प्रिय हैं।[1] यह दुःख ही, वस्तुतः, सुख-विकास का मूल है। सुख भी उनकी दृष्टि से नितान्त परे नहीं है। वे स्वयं कहती हैं—

"इससे मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं जीवन भर आँसू की माला ही गूँथा करूँगी और सुख का वैभव जीवन के एक कोने में बन्द पड़ा रहेगा।"—यामा - भूमिका, पृ० १२।

सुख और दुःख का इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से समन्वित ग्रहण ही जीवन को सार्थक और अमर बनाता है। वे कहती हैं कि "व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है; और व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व।"[2]

महादेवी जी ने सुख और दुःख के द्वन्द्व को इसी दार्शनिक निःसंगता के साथ ग्रहण किया है। 'नीहार' की चेतना पर विषाद की जो गहरी छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है 'दीपशिखा' में उसके साथ समझौते की भावना है। वे इतना ही चाहती हैं कि दीपशिखा भले ही प्रभात के सुखद आगमन की ओर संकेत न करे परन्तु वह रात्रि के सघन अंधकार को झेलती रहे।[3] अतः 'दीपशिखा' में वेदना का वह निराश चीत्कार नहीं है जो 'नीहार' में है। नीहार में केवल 'पीड़ा का सार' उपलब्ध हुआ है।

इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला।—यामा, पृ० २२।

कोमल, सुन्दर जीवन-फूल की व्यर्थता की विवश अनुभूति भी नीहार में है—

बहा देना आकर चुपचाप
तभी यह मेरा जीवन-फूल—
सुभग मेरा मुरझाया फूल! यामा, पृ० २१।

---

१. यामा की भूमिका—महादेवी वर्मा—पृ० १२।
२. ,, ,, ,, ,,
३ दीपशिखा की भूमिका—महादेवी वर्मा—पृ० ६५।

"दीपशिखा में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है। नवीन प्रभात के वैतालिकों के स्वर के साथ इसका स्थान रहे, ऐसी कामना नहीं, पर रात की सघनता को इसकी लौ फैला सके, यह इच्छा तो स्वाभाविक ही रहेगी।"

इसके विपरीत 'दीपशिखा' की लौ में, आत्म-विश्वास के साथ, सुख और दुःख में अभेद-स्थापन का भाव है—

× × ×

आँसू के सब रङ्ग जान चुकी
दुःख को कर सुख आख्यान चली
जिसका मीठा-तीखा दंशन, अंगों में भरता सुख सिहरन,
यह शूल-फूल का चिर नूतन पथ मेरी साधों से निर्मित
मैं सुख से चंचल दुख बोझिल
क्षण-क्षण का जीवन जान चली ! मिटने को कर निर्माण चली ![1]

वास्तव में यह दुःख एक दिन अभूतपूर्व सुख को अवश्य उत्पन्न करेगा ऐसी आशा महादेवी जी को आरम्भ में ही थी—

"सन्ध्या-काल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से दबकर कातर-क्रन्दन कर उठेगा तब विश्व के कोने-कोने में एक अज्ञात-पूर्व सुख मुस्करा पड़ेगा; ऐसा मेरा स्वप्न है।"

यामा की भूमिका, पृ० १२।

यदि सच पूछा जाय तो महादेवी जी का यह दुःख-वादी दृष्टिकोण और दार्शनिक रूप में उसका ग्रहण उन्हें एक अत्यन्त उत्कृष्ट कवयित्री बनाने में अपना बहुत बड़ा हाथ रखते हैं।

इस प्रकार महादेवी जी के रहस्यवाद की मूल प्रेरणाओं का परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनके रहस्यवाद के सिद्धान्त-पक्ष का परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। उनके मतानुसार विश्व की अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप करके उसके प्रति आत्म-निवेदन कर देने को उन्होंने रहस्यवाद माना है।[2] भारतवर्ष के प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में रहस्यवाद की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है; परन्तु उनमें उसकी अभिव्यक्ति रागात्मक नहीं हुई है। यौगिक साधना भी एक प्रकार का रहस्यवाद ही है जिसमें आत्मा का शुद्ध चेतन से एक-भाव हो जाता है। सूफियों के रहस्यवाद में प्रेमानुभूति और साधना है। कबीर के रहस्यवाद में साधना और वैष्णव-भक्तों का सा उच्च कोटि का प्रणय-निवेदन है। परन्तु आज का गीतात्मक रहस्यवाद इन सबकी विशेषताओं से युक्त होता हुआ इन सब से भिन्न है। इसमें परा विद्या की अपार्थिवता है,

---

१. दीपशिखा—अंतिम गीत।
२. सान्ध्य-गीत—भूमिका, पृ० ४।

वेदान्त का अद्वैत है, लौकिक प्रेम की तीव्रता है और कबीर की मधुर दाम्पत्य-भावना है। इन सबके सम्मिश्रण से आज का रहस्यवाद एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि करता है। रहस्यवाद में कलाकार पार्थिव-सम्बन्धों से ऊपर उठकर हृदय और मस्तिष्क का समन्वय कर लेता है। परन्तु सभी कलाकार भावयोग की इस उच्च भूमि तक नहीं पहुँच पाते हैं। इसकी अपार्थिव पार्थिवता और साधना की न्यूनता ने बहुतों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। 'ये बहुत' केवल परम्परा के रूप में ही इसका अनुसरण करते रहे हैं और अनेक अयोग्य पात्रों के हाथ में पड़कर इसमें कुछ विकृतियाँ भी आ गई हैं। सच्चे कलाकार ही इसके नीहारलोक में गन्तव्य मार्ग को स्पष्ट देख पाते हैं।

महादेवी जी के विचार में रहस्यवाद हृदय की एक मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करता है। सच्चे कलाकार अपने अन्तर्जगत् का ऐसा विकास करते हैं कि व्यष्टिगत जीवन, पूर्ण विकसित और परिष्कृत होकर, समष्टिगत जीवन के साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर ले। बुद्धि के विकास और भावना के परिष्कार से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। बुद्धि जीवन के मूल तत्त्वों की केवल व्याख्या कर देती है। भावना उनका परिष्कार करती है। अतः उचित मात्रा में दोनों का सन्तुलन आवश्यक है, क्योंकि एक से जीवन को गति और दूसरे से दिशा मिलती है। बौद्धिक उपलब्धियों को भाव के साथ रखकर ही रहस्यवाद चलता है। अतः उसमें जीवन को पूर्णता प्रदान करने की क्षमता है।

रहस्यवादी काव्य आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर स्थित है। अध्यात्म से अभिप्राय परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों से नहीं है। वास्तव में अध्यात्म का सम्बन्ध मनुष्य की सूक्ष्म भावनाओं, अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं और ऊर्ध्वगामी उच्च आदर्शों से है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

"जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष-रूप-भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित, विश्वबन्धुता, मानव धर्म आदि के ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित होगा।"[1]

महादेवी जी का रहस्यवाद अध्यात्म की इसी उदार और विशद भावना को

---

१. आधुनिक कवि, 'भाग' १—महादेवी वर्मा (भूमिका, पृ० १२)।

लेकर खड़ा हुआ है। अतः अनेकता में एकता की भावना का अनुसंधान करता हुआ यह लोक-बाह्य नहीं है। ऊर्ध्वगामी उच्च आदर्शों का इसमें संनिवेश होने के कारण इसके 'पलायनवादी' कहे जाने का भी कुछ मूल्य नहीं है।

महादेवी जी के रहस्यवाद में अलौकिक के प्रति आत्मार्पण की जो तीव्र आकांक्षा है उसे वे हृदय की स्वाभाविक वृत्ति मानती हैं स्वभाव ही से अपूर्ण और अपनी अपूर्णता के प्रति जागरूक रहनेवाले मनुष्य में "किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्म-समर्पण के द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।"[1] श्रेष्ठ कलाकार सौन्दर्यानुभूति के द्वारा तादात्म्य प्राप्त करते हैं।

सौन्दर्यानुभूति के द्वारा तादात्म्य की यह भावना हृदय के रागात्मक तत्त्व से सम्बन्ध रखती है। सभी प्रकार के रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्यभाव-मूलक प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ होता है क्योंकि आत्म-निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की जितनी सामर्थ्य इस सम्बन्ध में है उतनी दूसरे किसी सम्बन्ध में नहीं है।

महादेवी जी के मतानुसार आज के बुद्धिवादी और यथार्थवादी युग में काव्य को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर स्थापित करने की बहुत आवश्यकता है। आज हमारे धर्म और समाज में अनेक प्रकार की अनर्थकरी रूढ़ियाँ ही प्रचलित हैं। हमारा दृष्टिकोण अधिकाधिक आर्थिक होता जा रहा है। अतः इस युग के सूक्ष्मपरक काव्य ने, इन संकीर्णताओं से बाहर निकलकर, "धर्म के मूलगत अध्यात्म को व्यक्तिगत साधना के उस धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरूप एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता को व्यापक पीठिका दी।"[2]

इसी प्रकार आज के विश्व का राजनीतिक वातावरण भी अनिश्चित और अनिर्दिष्ट है। परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ आज तीव्रता के साथ उठकर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और द्वेष के चक्र में ही छिन्न-भिन्न होकर घूमा करती हैं। उनमें एक समन्वित अखण्डता की प्रवृत्ति नहीं है; अतः उनका भविष्य नितान्त अन्धकारमय है। विज्ञान का चरम विकास भी एकांगी बुद्धिवाद को उत्पन्न कर रहा है। यह बुद्धिवादी दृष्टि जीवन को दूर से ही, बिना स्पर्श किए ही, देखती है। उसके निकट जीवन की सजीवता के वैभव का कोई महत्त्व नहीं है।

---

१. 'दीपशिखा'—महादेवी वर्मा—भूमिका, पृ० २९।
२. दीपशिखा—भूमिका, पृ० ३५।

धर्म, समाज, राजनीति और संस्कृति की इन विषमताओं में काव्य की आध्यात्मिक पीठिका अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि यह समष्टि-गत अखण्ड जीवन की रागात्मक भावना द्वारा एक ऐसा आदर्श सामने रखती है जिसके बिना वास्तविक यथार्थ अधूरा ही रह जाता है; क्योंकि वह केवल विकृतियों को देखता है, निर्माण की भावना उसमें नहीं है। इस अध्यात्म का 'सूक्ष्म' भी 'वायवी' और लोक-बाह्य नहीं है। अध्यात्म की समष्टि-भावना लोक की व्यष्टियों से ही बनी है। उसकी अभिव्यक्ति केवल कलाकार की व्यक्तिगत संवेदनीयता के आधार पर होती है। इससे जीवन और काव्य दोनों को परिष्कृत और अभिनव रूप मिलता है। अतः महादेवी जी को विश्वास है कि आज के निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दनहीन वस्तुवाद के लम्बे पथ को पार कर कदाचित् फिर चिरसंवेदनरूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे।"[1]

महादेवी जी के रहस्यवाद के स्वरूप का क्रमिक विकास उनकी रचनाओं के नाम से ही प्रकट हो जाता है। यामा में उनके चार यामों का संग्रह है। किन्तु ये याम दिन के हैं या रात्रि के इसका निर्णय वे स्वयं नहीं कर सकी हैं। फिर भी, दिन की हो अथवा रात्रि की इस काल-यात्रा ने उनके मन को गिरने नहीं दिया है; विश्वास के साथ वेदना में लिप्त रहने की आकांक्षा को बराबर बनाए रक्खा है।[2] यामा के चार याम नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्यगीत हैं, जो कि उनकी रचनाओं के नाम भी हैं। नीहार में एक कुतूहल-मिश्रित वेदना आदि से अन्त तक परिलक्षित होती है। प्रभात होने से पूर्व नीहार, या तुषार, छाया रहता है। उसी प्रकार कवयित्री के जीवन में किसी अज्ञात के प्रति गहरी वेदना, निराशा और विषाद के भाव भरे हैं। अज्ञात प्रियतम की ओर प्रेरित करनेवाली आकुल प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। किन्तु मार्ग अनिर्दिष्ट है, प्रिय अज्ञात और साधन-पथ भी आँखों से ओझल।

नीहार को विदीर्ण करके, धीरे-धीरे, सूर्य की रश्मि का प्रसार होता है और धुँधलेपन में कुछ-कुछ मार्ग दिखाई देने लग जाता है। इसी प्रकार विषाद, निराशा और वेदना से भरे मन में, रश्मि-काल में, एक आह्लाद की भावना उत्पन्न होती है। अब हृदय के धुँधले भाव कुछ स्पष्ट होते दिखाई देते हैं। रश्मि में आदि से अन्त तक एक आशा का भाव है जो कि पीड़ा को

१. आधुनिक कवि, भाग १—महादेवी वर्मा, पृ० १२।
२. यामा की भूमिका— ,, पृ० १।

प्रिय बनाता है और जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करता है। चिन्तन की थोड़ी प्रवृत्ति भी रश्मि में दिखाई देती है।

रश्मि के स्पर्श से 'नीरजा' (कमलिनी) खिलती है जो कि अपने पूर्ण विकास से प्रेम और वेदना के सुन्दर, सुकुमार भावों के विकास को सूचित करती है। अब हृदय का प्रेम अधिकाधिक प्रगाढ़ हो रहा है। प्रेम की यह नीरजा, मानो, विरह-जन्य अश्रु-प्रवाह में ही खिल रही है। हृदय में प्रियतम की आकुल प्रतीक्षा है। इस प्रकार, नीरजा, दिन भर विरह का ताप सहन करती हुई, सन्ध्या के समीप आ जाती है।

सन्ध्या के समय, मानों, दिन भर की लम्बी यात्रा का पर्यालोचन हो रहा है, विश्राम की आशा भी उदित हो रही है। फलतः सन्ध्या के (सान्ध्य) गीतों में 'नीरजा' का ताप नहीं है, आशा की शीतलता है और दुःख के साथ सुख का समन्वय। अन्तिम गीत की पंक्ति (तिमिर में वे पद-चिह्न मिले) सान्त्वना के भाव को प्रकट करती है।

यामा के ये ही चार याम हैं। सन्ध्या के उपरान्त रात्रि है जो कि दुःख, अज्ञान, वेदना आदि भावों की प्रतीक है। रात्रि के गहन अन्धकार में 'दीपशिखा' का दीपक विश्वास-पूर्वक अपनी 'लौ' को निष्कम्प जलाए हुए है। दीप-शिखा आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक है। प्रभात का स्वर्णिम-समय (मिलन) दीपशिखा को प्राप्त हो चाहे न हो; इसकी चिन्ता नहीं। परन्तु विपरीत परिस्थितियों में भी यह दीपशिखा बनी रहे यही कवि की इच्छा है।[1]

संक्षेप में महादेवी जी की रहस्य-भावना का यही स्वरूप है। इसी आधार पर अब हम, क्रमशः, उनकी प्रत्येक रचना में इन बीज-भावों का स्वरूप देखेंगे।

नीहार के आदि में ही असह्य पीड़ा के दर्शन होते हैं जिसे, विवश होकर, सहन करना ही पड़ रहा है—

> नहीं अब गाया जाता देव! थकी उँगली, हैं ढीले तार,
> विश्व-वीणा में अपनी आज मिला लो यह अस्फुट झंकार।
>
> यामा, पृ० १।

---

१. दीपशिखा की भूमिका—महादेवी वर्मा—अन्तिम पंक्तियाँ, पृ० ६५।
"दीपशिखा में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है। नवीन प्रभात के वैतालिकों के स्वर के साथ इसका स्थान रहे, ऐसी कामना नहीं; पर रात की सघनता को इसकी लौ झेल सके, यह इच्छा तो स्वाभाविक ही रहेगी।"

जीवन में वेदना कितनी अधिक छा गई है—

जीवन है उन्माद तभी से निधियाँ प्राणों के छाले,
माँग रहा है विपुल वेदना के मन प्याले के प्याले।
पीड़ा का साम्राज्य बस गया उस दिन दूर क्षितिज के पार,
मिटना था निर्वाण जहाँ नीरव रोदन का पहरेदार।

यामा, पृ० ३।

संसार का नियम यही है कि जिससे प्रेम कीजिए वह दूर भागने की ही चेष्टा करता रहता है। प्रिय की इस वंचना से मन में बड़ी ठेस लगती है—

देकर सौरभ-दान पवन से कहते जब मुरझाए फूल,
जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन आँखों में धूल?

यामा, पृ० ६।

'वह निष्ठुर' यदि कुछ प्रलोभन भी दे तो व्यर्थ है। प्रेम पर मर मिटने का अपना अधिकार ही प्रेमी की अमूल्य निधि है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा मेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव! अरे! यह मेरा मिटने का अधिकार।

यामा, पृ० ७।

इस प्रिय का परिचय बड़े ही रमणीय वातावरण में हुआ था। परिचय के साथ उस अज्ञात ने चुपचाप प्राणों में प्रेम की हाला उँडेल दी—

ढुलकते आँसू सा सुकुमार, बिखरते स्वप्नों सा अज्ञात।
चुराकर अरुणा का सिन्दूर मुस्कुराया जब मेरा प्रात।
छिपाकर लाली में चुपचाप सुनहला प्याला लाया कौन?

और फिर?—

हँस पड़े छूकर टूटे तार प्राण में मँडराया उन्माद,
व्यथा मीठी ले प्यारी प्यास सो गया बेसुध अन्तर्नाद।

यामा, पृ० ८।

अज्ञात प्रिय को प्राप्त करने का यह आवेगपूर्ण आग्रह प्रकृति के सभी सुन्दर तत्त्वों में प्राप्त होता है; परन्तु उनका परिणाम भी वेदना का ही है—

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली।
शशि को छूने को मचली सी लहरों का कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का तटिनी करती आलिंगन।

अपनी जब करुण कहानी कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब अवनी का सूखा अंचल!

यामा, पृ० ९।

प्रिय की प्रतीक्षा का यह दृश्य अत्यन्त करुण है—

तरल आँसू की लड़ियाँ गूँथ, इन्हीं ने काटी काली रात।
निराशा का सूना निर्माल्य चढ़ाकर देखा फीका प्रात॥

यामा, पृ० ५४।

प्रतीक्षा का परिणाम, 'फीका प्रात', अत्यन्त कष्टदायक है!

समस्त प्रणय-वेदना नेत्रों और अश्रु-प्रवाह में ही छाई हुई है। कवि की कामना है कि सारा शरीर नेत्र हो जाय ताकि वेदना का आनन्द और अधिक लिया जा सके!

अशन जल का जल ही परिधान रचा था बूँदों में संसार,
इन्हीं भोले तारों में मुग्ध साधना सोती थी साकार।
आज आए हो हे करुणेश इन्हें जो तुम देने वरदान,
गलाकर मेरे सारे अंग करो दो आँखों का निर्माण।

यामा, पृ० ५४।

यह बड़ी सुकुमार और भावुक कल्पना है। प्रिय-दर्शन का साधन होने के कारण नेत्रों की कामना लोकगीतों की अज्ञात गायिका में न जाने कब से देखी जा रही है—

कागा चुन-चुन खाइयो सकल गात को माँस!
दो नैनाँ मत खाइयो पिय दरसन की आस!

परन्तु महादेवी जी की कल्पना इससे भी आगे बढ़ी हुई है। यहाँ सारा शरीर ही नेत्र बन जाना चाहता है।

नीहार के अन्तिम गीत में विरहिणी के जीवन की व्यर्थता, नैराश्य, अनुताप और विषाद की भावना एक पुष्प के आधार पर बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रकट की गई है—

जिसके आँसू नहीं माँगते मधुपों से करुणा की भीख,
मदिरा का व्यवसाय नहीं जिसके प्राणों ने पाया सीख।
देखी जिसने हाट न जिसपर ढुल जाता माली का प्यार,
चढ़ा न देवों के चरणों पर गूँथा गया न जिसका हार।
जिसका जीवन बना न अब तक उन्मादों का स्वप्नागार,

निर्जनता के किसी अँधेरे कोने में छिपकर चुपचाप।
स्वप्न-लोक की मधुर कहानी कहता सुनता अपने-आप,
किसी अपरिचित डाली से गिरकर जो वन का नीरस फूल।
फिर पथ पर बिछकर चुपके से आँखों में भर लेता धूल,
उसी सुमन सा पल भर हँसकर सूने में हो छिन्न मलीन।
झर जाने दो जीवन माली मुझको रहकर परिचयहीन।

यामा, पृ० ६७।

नीहार के इस धुँधले वातावरण में 'रश्मि' का उदय हो रहा है। रश्मि से उत्पन्न होनेवाला आह्लाद मिलन की अनुभूति नहीं है; केवल आशा का क्षीण प्रकाश है और है विरह को वरदान समझने की भावना। पीड़ा का सामान्य साम्राज्य तो बढ़ता ही जाता है। रश्मि का आरम्भ ही इसी भाव से होता है—

किस सुधि वसन्त सा सुमन तीर कर गया मुग्ध मानस अधीर!
वेदना गगन से रजत ओस चू-चू भरती मन-कंज कोष॥

यामा, पृ० ७०।

अब तो कवि को वेदना ही प्रिय लगती है, मिलन नहीं—

चिर तृप्ति कामनाओं की कर देती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति जाती बन।
पूर्णता यही भरने की ढुल, कर देना सूने घन,
सुख की चिर पूर्ति यही है उस मधु से फिर जावे मन।

यामा, पृ० ७५।

इस ससीम में असीम की ज्योति ही जल रही है। विरह का दीपक लेकर वह मानों उस रहस्यमय असीम को ढूँढ़ रहा है। 'दीपक' के द्वारा यह भावना बड़े ही सुन्दर ढंग से 'रश्मि' में व्यक्त की गई है। इसका रहस्यात्मक संकेत बड़ा स्वाभाविक है। पहले तो यह पार्थिव दीपक स्वयं रहस्यमय है—

किन उपकरणों का दीपक, किसका जलता है तेल?
किसकी वर्ति? कौन करता इसका ज्वाला से मेल?
शून्य काल के पुलिनों पर चुपके से आकर मौन,
इसे बहा जाता लहरों में वह रहस्यमय कौन?
कुहरे सा धुँधला भविष्य है है अतीत तम घोर;
कौन बता देगा जाता वह किस असीम की ओर?

पावस की ऋतु में जुगनू का ज्यों आलोक प्रसार,
इस आभा में लगता तम का और गहन विस्तार,
इन उत्ताल तरंगों पर सह झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है, बुझना है नैसर्गिक बात।

यामा, पृ० ७८।

वह रहस्यमय अत्यन्त सुन्दर वातावरण में अपनी प्रभा की झलक दिखा जाता है और विरहातप से मुर्झाए हुए जीवन में करुणा के स्रोत बहा जाता है—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता,
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता।

यामा, पृ० ७४।

इन पंक्तियों में यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि पीड़ा में सान्त्वना का भाव भी उदित हो रहा है। नीचे की पंक्तियाँ भी ऐसा ही साक्ष्य वहन करती हैं—

शून्य नभ पर उमड़ जब दुख भार सी, नैश तम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी जब सुनहले आँसुओं के हार सी;
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित् की मुस्कान में वह कौन है? यामा, पृ० ७९।

रश्मि के अन्त में आशा का भाव प्रत्यक्ष प्रकट हो गया है—

इस आशा से मैं उसमें बैठी हूँ निष्फल सपने घोल,
कभी तुम्हारे सस्मित अधरों को छू वे होंगे अनमोल।

यामा, पृ० १२७।

रश्मि के संस्पर्श ने नीरजा को खिला दिया है। अब नयनों का नीर-प्रवाह सुख-दुःख का संगम-स्थल हो रहा है—

प्रिय इन नयनों का अश्रुनीर दुख से आविल सुख से पंकिल।

यामा, पृ० १२९।

जीवन की नीरजा पर अब, क्षण प्रति क्षण, अधिकाधिक ताप बढ़ रहा है—

तू स्वप्न-सुमनों से सजा तन विरह का उपहार ले!
अगणित युगों की प्यास का अब नयन अंजन सार ले।
अलि! मिलन गीत बने मनोरम।

यामा, पृ० १३४।

आँखों में भरी हुई 'अगणित युगों की प्यास' और प्रियतम से मिला

हुआ 'विरह का उपहार' इन्हीं दोनों की पृष्ठभूमिका पर जीवन की नीरजा खिल रही है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जल जात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल,
तरल जल-कण से बने घन सा क्षणिक मृदु गात !

वास्तव में, इस गीत में विरह मूर्तिमान् हो उठता है।

परम तत्त्व की भावना परम सुन्दर विराट् नारीरूप में भी महादेवी जी ने की है। प्रकृति की नाना विभूतियाँ उसके अनेक मोहक अंग हैं। उसी के अंश से सारी विभूतियाँ विभूषित हैं। यह संसार उस परम नारी का शिशु है—

रूपसि ! तेरा घन केशपाश !
सौरभ-भीना झीना गीला, लिपटा मृदु अंजन सा दुकूल,
चल अंचल से झर झर झरते पथ में जुगनू के स्वर्णफूल।
दीपक से देता बार-बार तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास,
उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है बग-पाँतों का अरविन्द-हार।
तेरी निश्वासें छू भू को बन बन जाती मलयज-बहार,
केकी रव की नूपूर-ध्वनि सुन जगती जगती की मूक प्यास।

यामा, पृ० १४१।

इसके आगे की पंक्तियों में 'जग-शिशु' पर कृपा करने का अनुरोध अत्यन्त मार्मिक है—

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन, पुलकित अंकों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से अंकित कर इसका मृदुल भाल;
दुलरा दे ना, बहला दे ना, यह तेरा शिशु जग
है उदास !

रूपसि ! तेरा घन केशपाश !

यामा, पृ० १४१।

यहाँ मानों गीता के विश्व-रूप-दर्शन की विचार-लब्ध कल्पना को हृदय का मधुर भाव, अत्यन्त निपुणता के साथ, प्राप्त हो गया है।

कहीं-कहीं अत्यधिक व्यंजना-सम्पन्न हृदय-स्पर्शी उपालम्भ हैं जो एकाध शब्द में ही बहुत कुछ कहने की सामर्थ्य रखते हैं—

बताता जा रे अभिमानी !
कण-कण उर्वर करते लोचन, स्पन्दन भर देता सूनापन,
जग का धन मेरा दुख निर्धन, तेरे वैभव की भिक्षुक
या कहलाऊँ रानी ।
बताता० । यामा, पृ० १४४ ।

प्रियतम के पथ को आलोकित करने के लिए जीवन का दीप लिए हुए चिर-विरहिणी प्रतीक्षा में बैठी है—

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतिक्षण, प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन, मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित तेरे जीवन का अणु गल-गल
मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
यामा, पृ० १४५ ।

इसी प्रकार मृदुल गीतों की कोमल छाया का अवलम्बन लेकर नीरजा दिन भर अपने सुकुमार हृदय को, जिसे विरह-ताप झुलसा रहा है, जैसे-तैसे सम्हाले रहती है कि सन्ध्या आ जाती है। कवि को अपना जीवन भी सन्ध्या के आकाश की तरह ही दिखाई दे रहा है—विषाद, वैराग्य और वेदना से भरा हुआ तथा अन्धकारमय भविष्यवाला ! काया छाया की तरह वीतराग हो गई है। सान्ध्य, अरुणाभ मेघ की तरह ही सुधिभरे स्वप्न मन में छाए हुए हैं—

प्रिय ! सान्ध्य गगन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग, नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीतराग, सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन !
साधों का आज सुनहलापन, घिरता विषाद का तिमिर सघन
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन— यह अश्रुमती हँसती चितवन।
यामा, पृ० २०३ ।

सन्ध्या अपने में मिलन का सन्देश भी छिपाए है। गायिका का मन भी मिलन-स्वप्न में व्यस्त है। मिलन की इस उत्कण्ठा से हमारी गायिका अभिसारिका हो रही है। प्रसाधन के उपकरण कैसे सुन्दर तथा आकर्षक हैं—

शशि के दर्पण में देख-देख मैंने सुलझाए तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात अवगुण्ठन कर किरणें अशेष।
यामा, पृ० २०६ ।

× × ×

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग।
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कबरी सँवार,
पाटल के सुरभित रंगों से रँग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल।
गुँध दे रशना में अलि-गुंजन से पूरित झरते बकुल-फूल;
रजनी से अंजन माँग सजनि दे मेरे अलसित नयन सार।

इस अनुपम श्रृंगार के साथ ही मार्ग भी ऐसा ही विचित्र-शोभा-धाम है—

तारक-लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज,
बरसाता पथ में हरसिंगार केसर से चर्चित सुमन-लाज;
कण्टकित रसालों पर उठता है पागल पिक मुझको पुकार!
लहराती आती मधु बयार।

यामा, पृ० २११।

मिलन का यह उल्लास सुख-दुःख के समन्वय की भावना के, जैसा कि महादेवी जी ने 'सान्ध्य-गीत' का अपना दृष्टिकोण स्वयं बतलाया है[1], सर्वथा अनुकूल है। वेदना के साथ समझौते का प्रयत्न यहाँ, नीचे की पंक्तियों में, भी है—

प्रिय पथ के यह शूल मुझे अति प्यारे ही हैं!
हीरक सी वह याद, बनेगा जीवन-सोना।
जल-जल तप-तप किन्तु खरा इसको है होना!
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं।

यामा, पृ० २१३।

धैर्य और बुद्धि, यद्यपि, समझाकर समझौते का प्रयत्न करते हैं, परन्तु दिन भर झुलसी हुई, भाव-भरी, निराश 'नीरजा' कभी-कभी बड़ी विकल हो जाती है—

पंकज-कली!
क्या तिमिर कह जाता करुण? क्या मधुर दे जाती किरण?
किस प्रेममय दुख से हृदय में अश्रु में मिश्री घुली?

यामा, पृ० २१६।

---

१. सान्ध्य-गीत—महादेवी वर्मा—भूमिका, पृ० १।

पर तुरन्त ही आत्म-विश्वास की शक्ति मन को सम्हालती है। कैसी सुन्दर गर्वोक्ति या विश्वासोक्ति अनोखे उपाय का आश्रय लेकर खड़ी हो रही है—

विरह क्या पद चूमने मेरे सदा संयोग आता!

और देखिए, कैसे आता है वह संयोग—

नींद-सागर से सजनि! जो ढूँढ़ लाई स्वप्न मोती
गूँथती हूँ हार उनका क्यों कहा मैं प्रात रोती!
पहनकर उनको स्वजन मेरा कली को जा हँसाता।

यामा, पृ० २२३।

इतना सब होते हुए भी पीड़ा की मूल-भावना अपने मार्ग पर चली जा रही है; उसमें कमी नहीं है—

प्राण रमा पतझार सजनि अब नयन बसी बरसात री!
वह प्रिय दूर, पन्थ अनदेखा, श्वास मिटाते स्मृति की रेखा
पथ बिन अन्त, पथिक छायामय, साथ कुहुकिनी रात री!

यामा, पृ० २२६।

इसी प्रकार वेदना, विषाद और विश्वास से भरे हुए सान्ध्य-गीत गाते-गाते, भाव की तन्मयता में मन सहसा प्रफुल्लित होकर गा उठता है—

तिमिर में वे पद-चिह्न मिले!
अलसित तन में विद्युत सी भर, वर बनते मेरे श्रम-सीकर,
एक-एक आँसू में शत-शत शतदल-स्वप्न खिले!
सजनि प्रिय के पद-चिह्न मिले। यामा, पृ० २५६।

एक ओर प्रिय का आह्लाद-कारक आभास! दूसरी ओर वेदना पुंजित होकर 'दीपशिखा' के रूप में प्रज्वलित हो उठती है, और रात भर निष्कंप, निर्वात और स्थिर जलती रहती है। जलने में उसे प्रभात की सुधि नहीं है, वह तो केवल रात्रि के अन्धकार से अपराजित रहना चाहती है—

दीप मेरे जल अकम्पित! घुल अचंचल,
दीप रे! तू गल अकम्पित, चल अचंचल।

दीपशिखा, पृ० १।

क्योंकि अब इस दीप के बल पर उस अन्धकारमय अज्ञात-पथ का भय नहीं है जिसकी कल्पना सन्ध्या-समय भयभीत कर रही थी।[1] अब विश्वास का बल है—

---

१. यामा, पृ० २२९ का पूर्व-उद्धृत गीत।

पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला,
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल अश्रुओं से रिमझिमा ले यह घिरा घन;
और होंगे नयन सूखे, तिल बुझे औ' पलक रूखे !
आर्द्र चितवन में यहाँ शत विद्युतों में दीप खेला।

दीपशिखा, पृ० ३।

इस विश्वास के साथ-साथ प्रिय का ध्यान शरीर के कण-कण में भरा हुआ है। वेदना गहरी होती चली जा रही है—

तरल आँसू से नयन भरे !
मानस से ले उठे स्नेह-घन, कसक विद्यु-पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे।

दीपशिखा, पृ० ८५।

इस दीपक की रक्षा के लिए सजग विरहिणी यही चाहती है कि जब तक इसे जलाए रखा जा सके तब तक वह इसे प्रज्वलित रखे; हाँ, जब यह दीप थकने लगे तब तो प्रिय को आना ही चाहिए—

जब यह दीप थके तब आना !
लौ ने बर्ती को जाना है, बर्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने
रज का अंचल पहचाना है,
चिर बन्धन में बाँध इन्हें घुलने का वर दे जाना !

दीपशिखा, पृ० ८८।

कभी जीवन की व्यर्थता पर बड़ा पश्चात्ताप होता है—

तू धूल भरा ही आया !
ओ चंचल जीवन-बाल, मृत्यु-जननी ने अंक लगाया।
साधों ने मग के कण मदिरा से सींचे
झंझा आँधी ने फिर-फिर आ दृग मींचे,
आलोक-तिमिर ने क्षण का कुहुक बिछाया ! दीपशिखा, पृ० ९२।

जब से प्रिय को पहचाना है तभी से पीड़ा का साम्राज्य मन में हो गया है। पीड़ा की अनुभूति वास्तविक प्रिय-दर्शन का फल है, काल्पनिक नहीं—

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रतिशिरा में प्यास विद्युत सी तरल बन !
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?

किस लिए हर साँस तन में सजग दीपक-राग गाती। जो न प्रिय०
मेघ-पथ में चिह्न विद्युत के गए जो छोड़ प्रिय-पद
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मन
किस लिए पावस नयन में प्राण में चातक बसाती? जो न प्रिय०
कल्प-युग-व्यापी विरह को एक सिहरन में सम्हाले
शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुधि-दीप बाले
क्यों किसी के आगमन के शकुन स्पन्दन में मनाती।

दीपशिखा, पृ० ६४।

दीपशिखा निरन्तर जल रही है। विरह सीमातीत हो चुका है। विरहिणी की दशा अत्यन्त दयनीय है—

मोम सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है
विरह के रंगीन कण ले अश्रु के कुछ शेष कण ले
बरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के सूखे सुमन ले,
खोजने फिर शिथिल पग, निश्वास-दूत निकल चुका है!

दीपशिखा, पृ० १०५।

कभी-कभी इस दाह से शीतल होने की कामना, अत्यन्त करुणोत्पादक होकर, प्रकट हो जाती है—

कोई यह आँसू आज माँग ले जाता!
तापों से खारे जो विषाद से श्यामल, अपनी चितवन में छान इन्हें कर मधुजल
फिर इनसे रचकर एक घटा करुणा की, कोई यह जलता व्योम आज छा जाता!

दीपशिखा, पृ० १०७।

मन की यह कामना अत्यन्त करुण है! परन्तु पीड़ा का अभिमान जाग्रत् होकर प्रभात की कामना से विरत कर देता है—

मैं क्यों पूछूँ यह विरह-निशा कितनी बीती क्या शेष रही?
उर का दीपक चिर स्नेह अतल, सुधि सी शत झंझा में निश्चल
सुख से भीनी दुख से गीली बर्ती सी साँस अशेष रही!

दीपशिखा, पृ० ११४।

साधक अपनी एकान्त साधना में लीन है; दूसरे चाहे जो समझें और चाहे जो कहें—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का।
जाने क्यों कहता है कोई मैं तम की उलझन में खो

धूममयी वीथी-वीथी में मैं छिपकर विद्युत सी रोई
मैं कण-कण में ढाल रही अलि आँसू के मिस प्यार किसी का।

दीपशिखा, पृ० १२६।

अब रात्रि का अन्त समीप है। लेकिन प्रभात मिलन-मय होगा ऐसे भाग्य कहाँ—

शेष यामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण! पागल रे शलभ! अनजान!
तिमिर में भर खो रहे विद्युत भरे निश्वास मेरे,
निःस्व होंगे प्राण मेरा शून्य उर होगा सबेरे;
राख हो उड़ जायगी यह अग्निमय पहचान। दीपशिखा, पृ० १२७।

अब तो निःस्वता और शून्यता से भरा प्रभात ही अपना भाग्य है। वेदना में ही रहना है और यही अच्छी है। सुख की हवा का यहाँ कुछ काम नहीं—

लौट जा ओ मलय-मारुत के झकोरे। दीपशिखा, पृ० १३६।

अब तो गायिका का भाग्य यही है—

मैं चिर पथिक वेदना का लिए न्यास! दीपशिखा, पृ० १४८।

अब तो वेदना का यह मार्ग ही निर्वाण हो गया है—

पथ मेरा निर्वाण बन गया! प्रति पग शत वरदान बन गया!
आज थके चरणों ने सूने तम में विद्युत लोक बसाया
बरसाती है रेणु चाँदनी की यह मेरी धूमिल छाया
प्रलय मेघ भी गले मोतियों का हिम-तरल उफान बन गया।

दीपशिखा, पृ० १३३।

इस प्रकार वेदना को सम्हालने का प्रयत्न किया जा रहा है—

अंत में वेदना से फिर समझौते की भावना है। चितेरा दीपक कल्पना से जो चित्र बना रहा था उसमें प्राण आते देख वह चुप होकर सो गया—

सजल है कितना सबेरा
कल्पना निज देखकर साकार होते
और उसमें प्राण का संचार होते
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा। दीपशिखा, पृ० १५०।

और अब दुःख में ही सुख है—

आँसू के सब रंग जान चली
दुःख को कर सुख आख्यान चली। दीपशिखा, पृ० १५१।

इस प्रकार महादेवी जी की रहस्य-भावना आद्यन्त गंभीर वेदना के आकुलकारी मार्ग पर चली है। वेदना की अग्नि में जलकर निखर उठनेवाला

प्रेम और उसकी गहरी वेदना की अनुभूति जितनी महादेवी जी में मिलती है उतनी आज के अन्य किसी कवि में कदाचित् ही मिले। महादेवी जी का प्रेम और वेदना का भाव विशुद्ध आध्यात्मिक रूप में प्रकट हुआ है। ऐहिक वासना की इसमें कहीं गन्ध भी नहीं है। प्रसाद जी का प्रेम और विरह लौकिक सीमाओं का, कहीं-कहीं, स्पर्श कर जाता है। प्रसाद जी के 'आँसू' की 'छिल-छिलकर छाले फोड़े', पंक्ति में फारसी प्रभाव भी है। परन्तु महादेवी जी के प्रेम में विशुद्ध आध्यात्मिकता भारतीयता की सीमा में चलती है। निराला में यदि पौरुष की परुषता है, और, यदि पंत में प्रकृति का अनुराग और विचार-प्रधान आध्यात्मिकता है तो महादेवी में एक अपूर्व कोमलता, रमणीयता और मार्मिकता है।

रहस्यवाद का सम्बन्ध अध्यात्म से होने के कारण उसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यत्र-तत्र आधार मिलता है। जीव और ब्रह्म का अद्वैत और उन दोनों का अंश-अंशी-भाव यहाँ प्रकट हो रहा है—

तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान। यामा, पृ० १०१।
बीन भी मैं हूँ तुम्हारी रागिनी भी हूँ। यामा, पृ० ३६।

अद्वैत-भाव को माया का पट नष्ट कर देता है; अन्यथा परिचय की कोई आवश्यकता नहीं; दोनों एक हैं—

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या? यामा, पृ० १४२।

इसी प्रकार भारतीय दर्शन के आधार पर बीच-बीच में सुन्दर उक्तियाँ आती चलती हैं।

महादेवी जी की रहस्य-भावना में प्रकृति के रमणीय तत्त्वों का उपादान भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। रजत-रश्मि, मोती से तारे, जुगनुओं के फूल, ओस की निर्मल बूँदें, प्रवाल सी ऊषा, सोने के दिन, चन्द्रमा की किरणें, मलयानिल आदि अनेकानेक रमणीय वस्तुओं का ग्रहण बराबर किया गया है। महादेवी जी ने प्रकृति को चेतना से अनुप्राणित देखा है। प्रकृति भी उनकी तरह ही वेदना से आक्रान्त होकर बेसुध हो रही है—

बहती जिस नक्षत्र-लोक में निद्रा के श्वासों से वात।
रजत-रश्मियों के तारों पर बेसुध सी गाती थी रात॥ यामा, पृ० १३।

महादेवी जी की रहस्य-भावना के अन्तर्गत उनका आध्यात्मिक प्रेम तथा तज्जन्य वेदना की अभिव्यक्ति गीतात्मक है। गीतों में हृदय के आकुलकारी भावों की तीव्र व्यंजना होती है। महादेवी जी के गीत कोमलता, मार्मिकता और हृदय-स्पर्शिता के गुणों से ओत-प्रोत हैं। इन गीतों की इस प्रसंग में उपयुक्तता के विषय में स्वयं उन्होंने कहा है—

"रहस्यगीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं। × × × साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[1]

इन सुन्दर गीतों की रचना में विविध प्रकार के मात्रिक छन्दों, लोक-गीतों की पद्धतियों और एकाध जगह घनाक्षरी एवं संस्कृत वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेम और वेदना की वे अद्वितीय गायिका हैं। तन्मयकारिणी भाव-विभूति एवं अनन्त आध्यात्मिक वेदना के कारण उन्हें 'आज की मीराँ' कहा जाता है। किन्तु सामान्यतया आदर-प्रदर्शन के लिए ही यह कथन ठीक हो सकता है। परन्तु यथार्थतः दोनों में बहुत अन्तर है। मीराँ संसार से विरक्त होकर साधनामय जीवन व्यतीत करती थीं और उनकी अनुभूति वास्तविक थी। परन्तु आज के रहस्यवाद में—महादेवी जी जिसका अपवाद नहीं हैं—अनुभूति की केवल कल्पना है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ केवल हिन्दी के वयोवृद्ध समालोचक, बा० गुलाबराय का मत ही उद्धृत करना चाहते हैं जो अत्यन्त समीचीन है—

मीराँ के रहस्यवाद में (विरह में ?) मध्ययुग की परिस्थितियों के अनुसार जहाँ साधना (योग) का भी पुट है, आधुनिक बुद्धिवादी युग में जन्म लेने-वाली श्रीमती वर्मा के गीत केवल भावात्मक हैं। मीराँ की भाँति महादेवी का व्यक्तित्व भी साधना-शील नहीं। श्रीमती वर्मा न तो 'साधुन संग बैठि-बैठि लोक-लाज खो सकी' हैं और न 'अँसुवन जल' से सींची हुई प्रेम-बेलि का अमृत फल ही खा सकी हैं। मीराँ राजरानी बनकर भी भिखारिन बन सकी थीं; वर्मा की सम्भ्रान्तता उनको वैसा नहीं बनने दे सकी। इसी लिए भावों का जो उद्दाम वेग मीराँ के अकृत्रिम गीतों में है वह समाज-भीरु महादेवी वर्मा के गीतों में अप्राप्य है।"[2]

अतः साधनात्मक दृष्टि से मीराँ और महादेवी में समानता नहीं हो सकती। फिर भी आज के रहस्यवाद के अपने प्रकार से देखने पर आज के रहस्यवादी कवियों में महादेवी जी का स्थान निःसन्देह बहुत ऊँचा है।

———

१. दीपशिखा की भूमिका, पृ० ५९।
२. 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता'—बा० गुलाबराय, पृ० २१०।

षष्ठ परिच्छेद

रहस्यवाद के अन्य कवि

प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की इस बृहच्चतुष्टयी के अतिरिक्त अन्य बहुत से कवियों ने भी रहस्यवादी काव्यधारा में योग दिया है। हिन्दी में छायावादी काव्य का आरम्भ होने के पहले भी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति श्रीधर पाठक ने की थी। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् जब 'गीताञ्जलि' का प्रकाशन हुआ तब, उसके अनुकरण पर, हिन्दी में भी अध्यात्म-तत्त्व और रहस्य-भावना से सम्बन्धित गीतों की रचना होने लगी। उस समय, अर्थात् सन् १९१३ के बाद, हिन्दी की प्रमुख मासिक पत्रिका, सरस्वती, में रहस्यात्मक गीत बराबर निकलते रहे हैं। सन् १९३० के आसपास तक आते-आते प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के प्रयत्नों से रहस्यवादी काव्यधारा अच्छी तरह बद्धमूल हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि अन्य सामयिक प्रवृत्तियों के साथ रहस्य-भावना का प्रकाशन भी करने लगे। छायावादी काव्य में प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति की ओर जो नवीन दृष्टिकोण बना था उसकी अभिव्यंजना प्रायः रहस्य-भावना के संसर्ग से की जाने लगी। इसका फल यह हुआ कि छायावादी काव्य में निरूपित प्रेम और सौन्दर्य की लौकिकता और अलौकिकता में भेद करना कठिन हो गया। अधिकांश कवि राष्ट्रप्रेम, क्रान्ति, प्रेम, सौन्दर्य आदि विविध विषयों पर काव्य-रचना करते समय, आनुषंगिक रूप से कहीं-कहीं, रहस्य-भावना का भी प्रकाशन कर दिया करते थे। इन कवियों की श्रेणी में कुछ ही कवि ऐसे रहे हैं जो विशुद्ध रहस्यवादी कहे जा सकते हैं या जिन्होंने रहस्यवाद को एक सुनिश्चित काव्य-धारा के रूप में अपनाया। यहाँ, इस परिच्छेद में, इनमें से प्रमुख कवियों की रहस्यवादी रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है।

श्रीधर पाठक

पाठक जी ने भारतेन्दु के जीवन-काल में ही नवीनता का अनुसरण किया। सरल और अकृत्रिम भावधारा का मार्ग ग्रहण करते हुए पाठक जी ने प्रकृति-प्रेम से प्रेरित होकर प्रकृति के रमणीय शब्द-चित्रों की योजना की। मानवीय

भावनाओं के आरोप से अनुप्राणित किए हुए प्रकृति-चित्रों में उन्होंने, बड़े ही स्वाभाविक ढंग से, कौतूहलपूर्ण रहस्य-भावना का दर्शन किया है। प्रकृति की रमणीय पृष्ठभूमि पर पाठक जी किसी दिव्य वीणा की झंकार सुन रहे हैं। यही झंकार अखिल विश्व में गति का स्पन्दन उत्पन्न करती है--

> कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
> दया है, दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है॥
> भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं मदमस्त गत पै सारे।
> समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो उँगलियों पर नचा रही है॥
> ('स्वर्गीय वीणा'--श्रीधर पाठक)

पाठक जी के अनन्तर फिर सन् १९१५ के आसपास, 'गीताञ्जलि' के आधार पर, रहस्य-भावना का प्रकाशन होने लगा। धीरे-धीरे यह काव्यधारा पुष्ट भी होने लगी। कुछ लोग अंग्रेजी और बँगला की रहस्यवादी कविताओं के पद्यबद्ध अनुवाद भी करने लगे। बा० पारसनाथ सिंह और मोतीलाल[1] नाम के किन्हीं सज्जन के अनुवाद 'सरस्वती' के तत्कालीन अंकों में बराबर प्रकाशित होते रहते थे।

इधर के विशिष्ट कवि और उनकी रहस्यवादी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी, यद्यपि, द्विवेदी जी से प्रभावित ऐसे व्यक्तवादी कवि और सगुणोपासक भक्त हैं जो कि छायावाद के अन्तर्गत नहीं आते, परन्तु अपनी कालानुसरण की विशेषता के कारण, आरम्भ में, इन्होंने भी कुछ रहस्यवादी गीतों की रचना की जिनका संकलन 'झंकार' नामक पुस्तक में, आगे चलकर, हुआ। परन्तु यह नया मार्ग गुप्त जी की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ और वे, बाह्य-वस्तु-वर्णनात्मक पद्धति से, देश के प्राचीन गौरव, नवीन विचार-धारा, रामभक्ति आदि से सम्बन्धित काव्य का ही प्रणयन करते रहे हैं। भक्ति-प्रधान रुचि के साथ रहस्यवादी गीतों के रचयिता होने के कारण रहस्यवाद के कतिपय आलोचकों ने गुप्त जी को 'भक्ति-परक रहस्यवादी'[2] कवि

---

१. देखिए--सरस्वती--नवंबर १९१६, 'निशा' नामक कविता।
२. 'सुमित्रानन्दन पन्त'--विश्वम्भर मानव, पृ० ९२।

माना है। 'झंकार' में संगृहीत रहस्यवादी गीतों के कुछ उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं—

तू है हम अन्धों का हाथी।
हाय हमारे नयन मुँदे हैं मन है महा प्रमाथी।
तू हम सबके बीच खड़ा है, अति उदार है बहुत बड़ा है,
पर यह पट किस लिए पड़ा है, आवश्यकता क्या थी? तू है०।
माना देख नहीं पाते हैं, फिर भी अनुभव में लाते हैं
तेरे ही गुण-गण गाते हैं निज मति से सब साथी। तू है०।

झंकार—'अनुभूति', पृ० ६३।

संसार कब से मुग्ध होकर मर रहा है। आह तेरी माधुरी!
कवि चित्रकार सुवर्ण-रंजित कर रहा है। आह तेरी माधुरी॥

झंकार—माधुरी, पृ० ८०।

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किसमें होकर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ मची है कैसे भीतर आऊँ मैं?

झंकार—स्वयमागत, पृ० १०६।

झंकार में कुछ रहस्यवादी गीत—जैसे हाट, क्रय-विक्रय, निरुद्देश्य निर्माण, इन्द्रजाल आदि—ऐसे भी हैं जिनमें अप्रस्तुत-विधान के द्वारा उसी प्रकार की भाव-व्यंजना की गई है जिस प्रकार राय कृष्णदास की 'साधना' तथा अन्य लेखकों के गद्य-गीतों में प्राप्त होती है। इन गीतों के पद्यत्व को हटाकर इन्हें गद्य-गीत का रूप सरलता से दिया जा सकता है। गुप्त जी के रहस्यवादी गीतों की रचना-प्रक्रिया भी भारतीय है, पाश्चात्य ढंग की लाक्षणिकता उसमें नहीं है।

बदरीनाथ भट्ट

भट्ट जी द्विवेदी-युग के एक अच्छे कवि थे। द्विवेदी-युग की सामान्य काव्य-रचना तो वे करते ही थे; सन् १९१३ के पश्चात् यदा-कदा रहस्यवादी ढंग के गीत भी उन्होंने लिखे जो कि प्रायः 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ करते थे। भट्ट जी के कुछ गीत इस प्रकार हैं—

जो महत् तत्त्व बन सब में आप समाया।
खुद बनकर जिसने है ब्रह्माण्ड बनाया।
वह धारण करके पंच तत्त्व तन आया।
खुद चित्रकार मानों स्वचित्र बन आया।

लीलामय की इस छवि के दर्शन कर लो।
गुम हो न जाय यह मूर्ति हृदय में धर लो।
यह मूर्ति नहीं, जड़ में है चेतन आया।
खुद चित्रकार मानों स्वचित्र बन आया।
सरस्वती—अप्रैल, १९१७।

भट्ट जी को 'श्याम-रंग' इस प्रकार उमड़ता हुआ दिखाई दे रहा है कि जिसमें सारे भेद-भाव तिरोहित होकर अद्वैत की जाग्रति हो रही है—

कहूँ क्या? भगवान् हूँ हैरान।
मिटी जा रही अपने और पराए की पहचान।
सभी रंग बदरंग हुए बन रहे एक ही रंग।
कैसे कहूँ कि है यह कैसा हुई अहो मति भंग!
सरस्वती—मई, १९१७।

भट्ट जी की यह रहस्य-भावना भारतीय अद्वैत और भक्ति-योग की तन्मय-कारिणी दशा के आधार पर व्यक्त हुई है!

मुकुटधर पाण्डेय

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशक के रहस्य-गीतिकारों में मुकुटधर पाण्डेय का विशेष महत्त्व है। इन्होंने न केवल परिमाण में ही अपेक्षाकृत अधिक गीत लिखे, अपितु नई धारा की आलोचना-प्रत्यालोचना में भी उत्साह-पूर्वक भाग लिया। इनके विवेचनात्मक निबन्धों की कुछ चर्चा इसी प्रबन्ध के तृतीय और चतुर्थ परिच्छेदों में की जा चुकी हैं। इनकी कुछ रहस्यवादी रचनाएँ देखिए—

एक दिन की बात है, हे पाठको, नोन की जब एक छोटी-सी डली,
सिन्धु के जल-पूर्ण दुर्गम गर्भ की थाह लेने के लिए घर से चली।
किन्तु थोड़ी दूर भी पहुँची न थी, और उसमें वह स्वयं ही घुल गई।
खो सकल निज रूप-गुण ही को हरे! हो गई उसमें स्वयं ही लापता।
सरस्वती—जनवरी, १९१७।

दार्शनिक विचार-धारा के अनुसार धर्म के विशुद्ध मौलिक रूप में और रहस्यवाद की निजी पद्धति के अनुसार सुन्दर विभूतियों में अव्यक्त की आभा भासित हो रही है—

वाद-विहीन उदार धर्म में, समता-पूर्ण ममत्व-मर्म में

दम्पति के मधुमय विकास में शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में था तव क्रीड़ा-स्थान।
विश्व-बोध, सरस्वती—दिसम्बर, १९१७।

'स्वप्नोत्पन्न हास' और 'वन्यकुसुम' में अंग्रेजी साहित्य की छाया स्पष्ट प्रतीत हो रही है। अज्ञात की जिज्ञासा और आभास, प्रेम आदि आधुनिक रहस्यवाद के तत्त्वों का समावेश भी मुकुटधर पाण्डेय ने अपनी रचनाओं में किया है—

लाली यह किसके अधरों की लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर।
विकसित सर में किंजल्क-जाल, शोभित उनपर नीहार-माल।
किस सदय बन्धु की आँखों से है टपक रहा यह प्रेम-नीर।
अस्फुटित मल्लिका पुंज पुंज कमनीय माधवी कुंज कुंज।
कवि-भारती, पृ० २७६

अज्ञात के प्रति प्रेम का वर्णन इन पंक्तियों में सुंदर रीति से किया गया है—

हुआ प्रथम जब उसका दर्शन निकल हाथ से गया तभी मन।
× × × ×
मैंने उसको हृदय दिया था रुचिर रूप रस पान किया था।
कवि-भारती, पृ० २७७।

राय कृष्णदास

ने 'गीताञ्जलि' के आधार पर रहस्यवादी गद्य-गीत प्रमुख रूप से लिखे हैं। इसके अतिरिक्त रहस्यवादी कविताएँ भी राय कृष्णदास ने लिखी हैं—

अनल-निवासिनि! हृदय खोल जल पर तिरती है।
मारी-मारी तरल तरंगों में फिरती है॥
प्रेम-नीर की झड़ी लगा देता जब घन है।
छक जाता बस एक बूँद से तेरा मन है॥
परिग्रह, सरस्वती—जनवरी १९१९।

आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप नीचे की पंक्तियों में भी व्यक्त किया गया है—

क्या यह न्योता तेरा है प्रेम-निमन्त्रण मेरा है।
इसकी अवहेला क्या मुझसे हो सकती है भला कभी।
इच्छा के गिरि गिरा-गिराकर निज मार्ग प्रशस्त किया।

प्राणेश्वर के पद-पद्मों में पहुँचा बस मैं अभी-अभी।

शुभकाल, सरस्वती—सितम्बर, १६१७।

राय कृष्णदास की इन रचनाओं में भक्ति-भावना को रहस्यवादी रूप दिया गया है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शी जी भी यदा-कदा रहस्यवादी गीतों की रचना में हाथ लगा दिया करते थे। रहस्य-भावना से युक्त बख्शी जी के कुछ गीत इस प्रकार हैं—

अन्धकार में दीप जलाकर किसकी खोज किया करते हो?
तुम खद्योत क्षुद्र हो तब फिर क्यों तुम ऐसा दम भरते हो?
पवन अहर्निश शान्त नहीं है वह निश्चिन्त सदा बहता है।
नभ में ये नक्षत्र आज तक घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है किसको होगा यह रहस्य उद्घाटन।
हम हैं क्षुद्र जानते हैं हम जग में हमको सब हँसते हैं।

रहस्य, सरस्वती—मार्च, १६२०।

कहाँ है नाथ तुम्हारा वास?
खोज फिरा सब देख लिया अब मैं हो गया उदास।
आती है सन्ध्या तब उनका फिर सजता है साज।
नक्षत्रों के साथ गगन में आते हैं द्विजराज।
किसकी उपासना में सब हो जाते हैं निस्तब्ध।
निश्चल होती प्रकृति, शान्ति होती सबको उपलब्ध।

अज्ञात—सरस्वती—मार्च, १६२०।

रामनरेश त्रिपाठी

भारतेन्दु के समय में ही श्रीधर पाठक ने काव्य में हृदय की स्वच्छन्द वृत्तियों के अनुसरण का जो मार्ग अपनाया था, त्रिपाठी जी भी उसी मार्ग पर चलते रहे हैं। प्रकृति-प्रेम और राष्ट्रीयता के भावों की अभिव्यक्ति करते हुए त्रिपाठी जी ने 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' नामक खण्डकाव्यों की रचना खड़ी बोली में की। इन काव्यों में प्रकृति के रमणीय चित्रों का वर्णन करते-करते त्रिपाठी जी की वृत्ति रहस्यमय हो गई है और उन्होंने प्रकृति के दिव्य सौंदर्य को एक अज्ञात चेतना से अनुप्राणित देखा है। उदाहरणार्थ 'स्वप्न' का निम्न-लिखित पद प्रस्तुत किया जा सकता है—

जग की आँखों से ओझल कर बरबस मेरी दृष्टि उठाकर,
झिलमिल करते हुए गगन में तारों के पथ पर पहुँचाकर,
करता है संकेत देखने को किसका सौन्दर्य मनोरम?
आकर के चुपचाप कहीं से यह संध्या का तम अति प्रियतम।

स्वप्न, २।१६।

इसके अतिरिक्त त्रिपाठी जी ने कुछ फुटकर रहस्यवादी गीतों की रचना भी की है जिनका संग्रह 'मानसी' में हुआ है। 'मानसी' में देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, सगुण भक्ति, सद्गुण, महापुरुष, नीति, दीन-हीन व्यक्ति आदि विषयों से सम्बद्ध गीतों के साथ कुछ रहस्यवादी गीत भी हैं।

हे मेरे प्रभु ! व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में।
तेरी ही छवि का विकास है कवि की वाणी में मन में॥
माता के निःस्वार्थ नेह में प्रेममयी की माया में।
बालक के कोमल अधरों पर मधुर हास्य की छाया में॥

तेरी छवि—मानसी, पृ० ४।

'मानसी' में संकलित 'रहस्य' शीर्षक गीत 'अज्ञात' के प्रति कौतूहल की व्यंजना करता है—

वह कौन सी है छवि, खोजता जिसे है रवि?
प्रति दिन भेज दल अमित किरन का।
वह कौन सा है गान जिससे लगाए कान।
गिरि चुपचाप खड़े ज्ञान भूल तन का।

मानसी, पृ० ११।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण जी भी अपने अग्रज की भाँति ही मूलतः व्यक्तवादी कवि और सगुणोपासक हैं। 'मौर्य-विजय' इनका खण्डकाव्य है। दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, आत्मोत्सर्ग, अनरथ और बापू इनके अन्य काव्य-ग्रन्थ हैं। वस्तु-प्रधान गीतात्मक या प्रबन्धात्मक काव्य-रचना के साथ ही सियारामशरण जी ने भक्ति-परक रहस्यभावना की अभिव्यक्ति भी की है—

जिस दिन तुम इस हृदय-कुंज पर अकस्मात् छा जाओगे।
करुणा-धाराएँ बरसाकर सब सन्ताप मिटाओगे।
आतप की इस दुःसहता में है सन्तोष यही हमको,

पावस में हे घनश्याम ! तुम नव जीवन ले आओगे।

सन्तोष—दूर्वादल, पृ० ३५।

बे जाने, न जाने किस द्वार से, कौन से प्रकार से,
मेरे गृह-कक्ष में, दुस्तर-तिमिर-दुर्ग-दुर्गम-विपक्ष में—
उज्ज्वल प्रभामयी एकाएक कोमल किरण एक आ गई।
बीच से अँधेरे के हुए दो टूक; विस्मय-विमुग्ध मूक
मेरा मन पा गया अनन्त धन।

किरण—विषाद, पृ० ११।

आज पड़ती है जहाँ मेरी दृष्टि, पाती वहीं नूतन रहस्य-सृष्टि !
मेर कान, सुनते हैं जो कुछ समस्त वह स्वीय गान
मेरे प्राण, जो कुछ है चारों ओर,—जिसका न ओर-छोर,
हो गए उसी में हैं विलीयमान।

आह्लाद—पाथेय, पृ० २४।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

सन् १९२० के आसपास ही बिहार के श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने भी रहस्यवादी काव्यक्षेत्र में पदार्पण किया। 'निर्माल्य', 'एक तारा' और 'कल्पना' नाम के संग्रहों में वियोगी जी की रहस्यवादी रचनाएँ संगृहीत हैं। वियोगी जी के रहस्यवादी गीतों में दार्शनिक चिन्तन के द्वारा अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन और अव्यक्त के प्रति वेदना की अभिव्यक्ति मिलती है—

विश्व की अनेकरूपता एकता में पर्यवसित हो जाती है—

जिस प्रकार शत-शत सरिताएँ सागर में मिल जाती हैं,
उस असीम से भिन्न नहीं वे फिर अपने को पाती हैं।
उसी तरह तेरी महानता में अपने को कर तल्लीन,
कर देंगे अस्थिरता को हम निश्चय ही अस्तित्व-विहीन।

एकान्त—एकतारा, पृ० २९।

वियोगी जी ने अव्यक्त का आभास भी देखा है—

हाय चुराई गई न आँखें जब आया तू मेरे पास,
छिप न सकी वेदनापूर्ण अन्तर की यह निर्लज्ज उसाँस।

असमंजस—एकतारा, पृ० २४।

वियोगी जी ने छायावादी-शैली के अनुसार अप्रस्तुत-पक्ष में अमूर्त तत्त्वों

की योजना भी की है। नीचे उद्धृत पद में अज्ञात तत्त्व से प्रेमी का आलाप सुन्दरता से दिखाया गया है और अव्यक्त छवि के लिए अमूर्त उपमानों की परम्परा को गुम्फित करके 'मालोपमा' का चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है—

बोल-बोल क्यों मौन स्वप्न सी, छाया सी सुषमा सी,
कवि की सुखद कल्पना सी, मुस्कान और उपमा सी :
सुरसरि की तरंग-माला पर नृत्यमान शशिकर सी।
जीवन की गति सी नीरव रोदन सी अचल अधर सी।

चित्रपट से संलाप—एकतारा, पृ० ५० ।

वियोगी जी ने, निराला जी के अनुकरण पर, सन् १९२५ में मुक्त-छन्द की रचना भी की—

अटल ध्यान धर
देख रहा है किसे नयन-भर,
किस अव्यक्त रूप को
करना शीघ्र चाहता है तू व्यक्त ?[1]

इस प्रकार वियोगी जी ने रहस्यवादी काव्यधारा का अनुसरण पूरी तरह से किया। अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा और विरह-वेदना की अभिव्यक्ति, छायावादी विशेषताओं के साथ, वियोगी जी ने सफलता-पूर्वक की है।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी-साहित्य में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। छायावादी शैली के उत्कृष्ट कलाकारों में चतुर्वेदी जी का स्थान है। चतुर्वेदी जी अपने जीवन में उत्कृष्ट देशप्रेमी रहे हैं और पिछले स्वतंत्रता-संग्राम में वे, एक पत्रकार और साहित्यकार के रूप में, पर्याप्त भाग लेते रहे हैं। आरंभ में इनका सम्बन्ध ओजस्वी राष्ट्र-नेता स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' से रहा है। 'प्रताप' के पश्चात् चतुर्वेदी जी खण्डवा चले गए और आजकल वहीं रहकर पत्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

चतुर्वेदी जी अत्यन्त भावुक राष्ट्रप्रेमी हैं। भावावेश में आकर इन्होंने ओजस्वी वाणी में क्रान्ति का आवाहन किया है। चतुर्वेदी जी ने देश के प्रति अपने हृदय का जो उत्कट प्रेम प्रकट किया है वह देश को एक अव्यक्त देवी-

---

१. एकतारा, पृ० १०३।

शक्ति के रूप में मानकर ही किया है। साहित्य और कला को वे अनन्त शक्ति और नव-निर्माण की प्रेरणा का अक्षय स्रोत मानते हैं। इसी लिए साहित्य को भी अव्यक्त दैवी शक्ति का प्रतीक मानकर चतुर्वेदी जी ने उसकी उपासना की है। छायावादी शैली पर चतुर्वेदी जी का इतना अधिकार है कि केवल गद्य और पद्य के लिखित रूप में ही नहीं अपितु अपने भाषणों को भी वे, इस शैली के प्रयोग द्वारा, अत्यन्त ओजस्वी और प्रभविष्णु बना देते हैं। कहीं उपमान पक्ष में सुन्दर अमूर्त तत्त्वों की योजना इनकी रचनाओं में मिलती है और कहीं आत्मोत्सर्ग की भावना को व्यक्त करनेवाले प्रतीक। देश और साहित्यरूपी दैवी शक्ति के लिए प्रकट किया हुआ प्रेम, प्रायः, छायावादी सूक्ष्मता के कारण इतना निर्विशेष हो जाता है कि कहीं वह लौकिक की ओर और कहीं अलौकिक की ओर जाता दिखाई देता है।

चतुर्वेदी जी की रचनाओं का समय सन् १६०८ के आसपास ही आरंभ होता है। इनके संग्रहों में सन् १६०८ से पहले की रचना नहीं मिलती है।[1] तब से आज तक वे बराबर रचना करते चले आ रहे हैं। उनकी रचनाएँ प्रायः सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में भी निकलती रहती हैं।

ऊपर बताए हुए देशप्रेम और क्रान्ति आदि विषयों के अतिरिक्त उन्होंने रहस्य-परक गीतों की रचना भी की है। उनमें कुछ गीतों के अवतरण नीचे दिए जा रहे हैं—

कवि अपने इष्टदेव को समीप ही देखता है; परन्तु वह परिलक्षित होता हुआ भी पकड़ में नहीं आता है—

चट जग जाता हूँ चिराग को जलाता हूँ।
हो सजग तुम्हें मैं देख पाता हूँ कि बैठे हो।
पास नहीं आते हो पुकार मचवाते।
तकसीर बतलाओ क्यों यों बदन उमेठे हो।

समर्पण, पृ० ३२।

उस 'अमित' के प्रति वेदना-पूर्ण प्रेम का प्रकाशन भी चतुर्वेदी जी ने मार्मिकता के साथ किया है—

दृग-जल जमुना बढ़ी, किन्तु श्यामल वे चरण न पाए
कोटि-तरंग-बाँह के पंथी, तट मूर्छित फिर आए

---

१. हिमतरंगिणी में संगृहीत कविताओं के आधार पर (पृ० ६९)।

अब न श्रमित ! विभ्रम दे सखि
चल कालिन्दी कूले। समर्पण, पृ० ४०।

संसार की समस्त गतियों का संचालन एक 'अव्यक्त' करता है। उसके संकेतों पर चलने के लिए जीव विवश है—

विवश मैं तो वीणा का तार।
जहाँ उठी उँगली तुम्हारी मुझे गूँजना है लाचार।
मुझको कम्पन दिया तुम्हीं ने खुद सह लिए प्रहार।

समर्पण, पृ० ६६।

कवि का वह अव्यक्त प्रिय दूर भी है और पास भी है—

यौवन के छल की तरह दूर कलिका से फल की तरह दूर,
सीपी की खुली पँखुड़ियों से स्वाती के जल की तरह दूर।
ताड़ित तरंग की तरह पास अधकटे अंग की तरह पास,
उल्लास-श्वास की तरह नहीं, पागल उलास की तरह पास।

समर्पण, पृ० ८३।

उस अव्यक्त ने अपना स्वरूप दिखाकर चित्त में एक ऐसी वेदना की सृष्टि कर दी है जो निकालने पर भी नहीं निकलती है --

किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका तुझे झाँकना पाप हुआ,
आग लगे, वरदान—निगोड़ा मुझपर आकर शाप हुआ।
जाँच हुई नभ से भूमण्डल तक का व्यापक माप हुआ,
अगणित बार समाकर भी छोटा हूँ—यह सन्ताप हुआ।

हिमकिरीटिनी, पृ० २५।

अव्यक्त के लिए गंभीर वेदना की अनुभूति कवि को हो रही है—

यह किसका मन डोला !
मृदुल पुतलियों के उछाल पर पलकों के हिलते तमाल पर,
निःश्वासों के ज्वाल-जाल पर कौन लिख रहा व्यथा-कथा ?

हिमतरंगिणी, पृ० ६।

उस परम प्रियतम से सम्पर्क के क्षणों में उल्लास की उच्छल तरंगों से हृदय उसी प्रकार शोभित हो उठता है जैसे चन्द्रमा से रात्रि—

चलो छिया-छी हो अन्तर में।

तुम चन्दा, मैं रात सुहागिन, चमक-चमक उठूँ आँगन में।
बिखर-बिखर उठो मेरे धन, भर काले अन्तस पर कन-कन।

श्याम गौर का अर्थ समझ लें जगत-पुतलियाँ शून्य प्रहर में।
चलो छिया-छी हो अन्तर में।

हिमतरंगिणी, पृ० ११।

वह अव्यक्त बड़े ही रहस्यमय ढंग से संसार के व्यापारों को स्पन्दित कर देता है—

चल पड़ी चुपचाप सन सन सन हवा!
डालियों को यों चिताने सी लगी।
आँख की कलियाँ! अरी खोलो जरा!
हिल स्वपतियों को जगाने-सी लगी।
पत्तियों की चुटकियाँ झट दीं बजा!
डालियाँ कुछ ढुलमुलाने सी लगीं।
किस परम आनन्द-निधि के चरण पर!
विश्व-साँसें गीत गाने सी लगीं।

हिमतरंगिणी, पृ० ४०।

प्रिय के आँखों में उतरने का बड़ा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है—

आज नयन के बँगले में संकेत पाहुने आए री सखि!
जी से उठे, कसक पर बैठे और बेसुधी के बल घूमे।
युगल पलक ले चितवन मीठी पथ-पद-चिह्न चूम पथ-भूले!
डीठ डोरियों पर माधव को, बार-बार मनुहार थकीं मैं–

हिमतरंगिणी, पृ० ५४।

अव्यक्त के साथ, जब, मिलन का मधुमय पर्व आया, तब हृदय में उल्लास का वेग इतना उद्दाम हो गया कि आकुल-भावावेश ने अभिव्यक्ति की शिष्ट सरणि को छोड़कर लोक-गीतात्मक स्वरूप धारण किया—

संपूरन कै संग अपूरन झूला झूलै री
दिन तौ दिन कलमुँही साँझ भी अब तौ फूलै री।

समर्पण, पृ० ७५।

उस अव्यक्त से हो जानेवाली पहचान जीवन की विषमताओं को सरल बना देती है—

सड़क नहीं, पगडंडी ओझल, मिटे दीप के सब निशान हैं।
अँधियारी के कुण्ठित कण्ठों झिल्ली के अधबने गान हैं।

× × × × ×

तुम मिल गये यहाँ ऐसे में, तुमपर युगल पुतलियाँ आगी,
कितनी मँहगी, कितनी बेबस, कैसी है पहचान तुम्हारी।
सा० हि०, ६-११-१९५८।

चतुर्वेदी जी ने, इसी प्रकार, अन्य विषयों के साथ, रहस्य-भावना से सम्बन्धित गीत गाए हैं। उनके रहस्यवादी गीतों में आध्यात्मिक चिन्तन कम है और हृदय के राग का प्रकाशन अधिक है। शरीर से वृद्ध होकर भी वे नवीन उत्साह के साथ बराबर काव्य-रचना में लगे हुए हैं। उनके काव्य का मुख्य स्वर राष्ट्रीय भावना और बलिदान-पूर्ण क्रान्ति है; उसमें रहस्य-भावना का स्थान आनुषंगिक है।

स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

कानपुर के स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' से सम्बन्धित साहित्यकारों में नवीन जी उत्कृष्ट कोटि के कवि थे। नवीन जी ने काव्य और गद्य दोनों ही समान सुन्दरता के साथ लिखे हैं। नवीन जी का जीवन देश-प्रेम और राष्ट्र-सेवा के सदनुष्ठान में व्यतीत हुआ था। सक्रिय राष्ट्र-कर्मी होने के कारण उन्हें कई बार कारावास का दण्ड भी भोगना पड़ा। नवीन जी का यह राष्ट्र-प्रेम उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है। क्रान्ति और विप्लव के ओजस्वी गीत नवीन जी ने प्रभाव-पूर्ण ढंग से गाए हैं। नवीन जी के काव्य की दूसरी प्रवृत्ति प्रेम है। प्रेम के आकुलकारी संवेग की अभिव्यक्ति नवीन जी ने मार्मिक गीतात्मक शैली में की है। प्रेम के विप्रलंभ-रूप को नवीन जी ने गोचर प्रत्यक्ष रूप के भीतर कारुण्य की एक अन्तर्धारा सदा प्रवहमान रहती है।[1] जीव अपने वास्तविक परम-तत्त्व से अलग होकर अपनी ऐहिक-यात्रा में चलता हुआ 'क्व असि ?' की व्याकुल पुकार मचाता रहता है। नवीन जी की इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति का कारण उनका दार्शनिक अध्ययन है। जीव के इस शाश्वत विप्रलंभ-भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति नवीन जी ने अपने गीतों में की है। अव्यक्त के प्रति प्रेम-भावना वाले उनके कुछ रहस्यवादी गीत यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

---

१. 'कुंकुम' – बालकृष्ण शर्मा नवीन, भूमिका, पृ० १५।
"जीवन में एक अकारण असन्तोष, एक मदिर चाह, एक अमिट प्यास, एक विषादमयी स्फूर्ति, एक अतृप्ति बनी ही रहती है।"

अव्यक्त के प्रति आकुल वेदना इस प्रकार प्रकट हो रही है—

चलित चरणों की जगह अब कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे !
युग-युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरणशरण वे,
प्राण के उच्छ्वास में मैं खींच लाया शूल कितने।
और इस निश्वास नें उड़-उड़ गए हैं फूल कितने।
दान में स्मृति-रूप कण्टक मिल गए हैं आज इतने।
कि उन सुमनों के हुए हैं शूल ही नव संस्करण ये;
कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे।

क्वासि, पृ० १।

अलक्ष्य प्रियतम अपना प्रतिबिम्ब दिखाकर लुप्त हो गया और मन में तीखी विरह-व्यथा को जगा गया है—

प्राणों के पाहुन आए औ' चले गए इक क्षण में,
हम उनकी परछाँई ही से छले गए इक क्षण में।

क्वासि, पृ० २४।

कवि अपने प्रिय से अनुनय कर रहा है—

ओ मेरे निराकार आओ साकार बनो।
निरवलम्ब जीवन के तुम चिर आधार बनो,
मम समाधि-अम्बर में पूर्ण चन्द्र बन बिहँसो !
सूने दिङ्मण्डल में कोमल द्युति बन बिलसो,
मम चिन्तन-सूत्रों में पार्थिव बन आन फँसो।
बदली बन छाओ प्रिय नेह नीर धार बनो,

क्वासि, पृ० ३४।

माया के मोहक प्रभाव से भूला हुआ जीव अपने प्रिय को कुछ-कुछ पहचानता सा दिखाई दे रहा है—

युग युग की पहचानी सी,
हो कौन सुमुखि ! अनजानी सी।
मुझको तो कुछ भी नहीं स्मरण उस प्राण मिलन के वे गत क्षण,
उन घड़ियों पर है पड़ा हुआ कालान्तर का वह युगावरण।

—क्वासि, पृ० ६२।

कहीं-कहीं दार्शनिक उपलब्धियों के आधार पर भी अव्यक्त का निरूपण किया गया है। वह एक अतीन्द्रिय, अव्यक्त, महाचेतन अगणित नाम-रूपों की रचना करके उन्हें अपने चेतन अंश से अनुप्राणित करता है—

अन्तर में जलता है जो यह चेतना दीप,
जिसकी ऊष्मा से है कुसुमित उपकरण-नीप।
सेन्द्रियता कब आई उस दीपक के समीप,
उस निर्गुण का गुण है पूर्ण-मुक्ति, चिर-विराग।
रश्मि-रेखा, पृ० ११।

सूफियों की तरह साकी, हाला और कूजे का वर्णन भी नवीन जी ने प्रेम की मादकता को व्यक्त करने के लिए किया है—

कूजे दो कूजे में बुझने वाली मेरी प्यास नहीं,
बार-बार 'ला ला' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।
रश्मि-रेखा, पृ० ७५।

प्राणों का पक्षी असीम प्रियतम की खोज में आत्मार्पण के हेतु उड़ रहा है—

पंछी उड्डीयमान, दिक्-संभ्रम हृदय जान,
विकल-प्राण ढूँढ़ रहा निज चिर अश्वत्थ-डाल।
अम्बर के बीच चली, शाश्वत की टोह भली,
अन्त-हीन इस पथ में सान्त ने किया कमाल।
फैलाए पंख जाल,
दूर देश, दूर नगर, अद्भुत अज्ञात डगर,
किन्तु, प्राण-पंछी की अथकित, अवरुद्ध चाल।
फैलाए पंख जाल,
—क्वासि, पृ० २६।

इसी प्रकार 'अपलक' और 'कुंकुम' नाम के संग्रहों में भी नवीन जी ने आतुर प्रेम की रमणीय अभिव्यक्ति करनेवाले गीतों का संग्रह किया है। प्रेम का वेदना-मय स्वरूप अनेकानेक परिस्थितियों में रखकर मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है। प्रेम का आलंबन कहीं भौतिक है और कहीं दिव्य। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि नवीन जी अव्यक्त में पूर्ण आस्था रखने-वाले व्यथा के प्रभावशाली गायक हैं।

रामकुमार वर्मा

रहस्यवाद की पूर्व-वर्णित बृहच्चतुष्टयी के उपरान्त इस धारा के कदाचित् सबसे अधिक प्रसिद्ध कवि वर्मा जी ही हैं। वर्मा जी ने असीम से सम्बन्धित प्रेम और सौन्दर्य के मधुर गीत गाए हैं। निशीथ, अंजलि, अभिशाप, रूप-राशि,

चन्द्रकिरण नामक काव्य-संग्रहों में वर्मा जी के रहस्यवादी गीत संगृहीत हैं। छायावाद के अन्तर्गत आनेवाले अधिकांश कवियों ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अन्य विषयों के साथ-साथ, आनुषंगिक रूप में, रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति भी की है। परन्तु वर्मा जी रहस्य-लोक के तत्त्वों पर पूरी आस्था रखकर सुनिश्चित रूप से अव्यक्त के प्रति अपने हृदय का रागात्मक सम्बन्ध प्रकट करते रहे हैं। वर्मा जी के गीत अत्यन्त मार्मिक और मधुर हैं। उनकी भाषा और कला-विधान भी अत्यन्त परिमार्जित है।

रहस्यवाद के लिए रागात्मक तत्त्व की प्रेरणा वर्मा जी ने कबीर से ली है। युवावस्था की असफलताओं, निराशाओं, एवं दुःखों ने कवि की दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाकर अव्यक्त की ओर प्रेरित किया है। इसी कारण वर्मा जी के रहस्यवाद में दुःख की अविराम धारा अव्यक्त का आलम्बन लेकर प्रवाहित हुई है। 'अंजलि' में ओस-बिन्दुओं के व्याज से कवि अपने अश्रुमाल की भेंट प्रियतम को अर्पित कर रहा है—

> ओसों के बिखरे वैभव !
> फैले हो अवनी पर, शासन-करने का यह अनुपम ढंग।
> तुमसे भी तो कोमल है मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अंग।
> मत उड़ना ए, अश्रु-बिन्दु बन करना उन फूलों में वास,
> मेरा अनुपम धन आवे जब तक इस निर्धन के पास।
> आने पर उनके चरणों पर गिरकर हो जाना बलिहार।

आ० क० ३, पृ० ९३, ९४।

तारक-हार की भेंट लेकर प्रिय के लिए अभिसार करती हुई रात्रि के इस अभियान में कवि को सफलता की अधिक आशा नहीं है—

> इस सोते संसार बीच जगकर सजकर रजनी-बाले।
> कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले ?
> मोल करेगा कौन ? सो रही हैं सारी उत्सुक आँखें।

आ० क० ३, पृ० ९६।

कवि को जीवन में निष्ठुरता ही मिली है, सहानुभूति और करुणा नहीं—

> मेरी गति है वहाँ जहाँ पर करुणा का है नाम नहीं।
> रहता हूँ मैं वहाँ जहाँ रहने का कोई धाम नहीं।

आ० कवि० ३, पृ० १०४।

'अभिशाप', मानो, जीवन के अभिशापों का समाहार है। वेदना का परिहार इन अभिशापों के कारण ही नहीं हो पा रहा है। उस अव्यक्त,

अपार्थिव, चिन्तन के समीप जाने में, सबसे पहले, ऐहिक नश्वरता ही बाधक हो जाती है—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में कैसे देखूँ जीत ?

आ० क० ३, पृ० ८३।

वह निष्ठुर अव्यक्त प्रिय भी अपनी माया के चमकीले प्रलोभन में फँसाकर प्रेमी को दूर ही रखना चाहता है। यह भी एक दुर्निवार अभिशाप है—

दूर, दूर—मत भरो कान में यह मतवाला राग,
यही चाहते हो इस जग से मैं कर लूँ अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे निश्चल शव से प्यार !

आ० क० ३, पृ० ८७।

निरन्तर भावन और चिन्तन के द्वारा कवि को अपने प्रियतम की अनन्त 'रूप-राशि' की आभा मिलने लगती है। एक बार रात्रि का मोहक सौंदर्य देखकर कवि का मन अभिव्यक्ति की कामना से आकुल हो उठा—

नभ-पथ-यात्री तारे स-मौन, हलकी नीली लघु किरण डाल !
जाग्रति का देकर कुछ प्रकाश उज्ज्वल करते हैं अन्तराल।
कलिका के निद्रित अधर मंजु, कोमल शीतल निस्पन्द बन्द !
दें ऐसे भावों के समूह उर में जागें दो-चार छन्द !

आ० क० ३, पृ० ५३।

तारों के झिलमिल प्रकाश-कंपन में अपनी सौन्दर्य-राशि को बिखेर देनेवाले प्रिय का आवाहन इस पृथ्वी पर कवि कर रहा है। मिलन में बाधक नश्वरता से कवि का संग्राम भी चल रहा है—

चर हूँ, पर नियति नचाती, मुझको मेरे ही मन से,
नश्वरता से लड़ता हूँ यौवन के आलम्बन से !
मैं भूला अपना-पन-पथ, जग के इस अविदित वन से,
प्रेयसि ! आओ तारों के झिलमिल प्रकाश-कम्पन से !

आ० क० ३, पृ० ६४।

जीवन के वास्तविक पर्यवसान का यह दृश्य कवि की अभिलाषाओं का सार है—

यह संसार शिशिर है तुम हो विश्वाकार वसन्त।

मैं तुमसे मिल गया प्रिये ! यह है यात्रा का अन्त !

आ० क० ३, पृ० ५८।

मिलन की वह कल्पना भी अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार है—

मैं तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार-दुकूल !
समय लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल।
मेरे बाहु पाश में वेष्टित हो यह मृदुल शरीर,
चारों ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।
नभ के उर में विमल नीलिमा शयित हुई सुकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो मेरा उर-विस्तार।

आ० क० ३, पृ० ५६।

'चित्ररेखा' और चन्द्रकिरण में अव्यक्त, अज्ञात प्रियतम के प्रति तीव्र वेदना की गहरी अनुभूति है। प्रिय से सामीप्य होने के स्थान पर दूरी ही होती चली जा रही है—

देव ! मैं अब भी हूँ अज्ञात !
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की रात !
तुमसे परिचित होकर भी मैं तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख-सीखकर मेरी आयु बन गई क्रूर !

चित्ररेखा, पृ० १।

विश्व के अखिल सौन्दर्य उस प्रियतम के हास के ही प्रतिबिम्ब हैं। वह प्रियतम इस प्रकार अपनी छवि दिखा-दिखाकर व्यथा को और भी सजग करता रहता है—

यह तुम्हारा हास आया !
इन फटे से बादलों में कौन सा मधुमास आया। यह तुम्हारा०
आँख में नीरव व्यथा के दो बड़े आँसू बहे हैं;
सिसकियों में वेदना के व्यूह में कैसे रहे हैं !
एक उज्ज्वल तीर सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ! यह तुम्हारा०

चित्ररेखा, पृ० ३।

ओसों का हँसता बाल-रूप यह किसका है छविमय विलास,
विहँगों के कण्ठों में समोद यह कौन भर रहा है मिठास !

चित्ररेखा, पृ० १०।

जब कि समस्त पृथ्वी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ है, सन्ध्या के समय कवि उन्मन हो उठता है—

पृथ्वी प्रशान्त है नव-विवाहिता सी, अविदित चुपचाप !
सन्ध्या का यह श्याम मौन मुझको तो है अभिशाप !
निष्ठुर प्रेमी सा प्रकाश है चला गया किस ओर ?
छोटे-छोटे क्षण भी अब बढ़-बढ़कर हुए कठोर।

चित्ररेखा, पृ० १५।

कवि व्याकुल होकर अपने समीहित कोकिल-स्वर को खोज रहा है—

मैं खोज रहा हूँ कोकिल-स्वर।
बतला दो मेरे नील-व्योम मैं इस संसृति से हूँ कातर !

चित्ररेखा, पृ० ३१।

व्यथा की धारा में अज्ञात दिशा की ओर बहती हुई जीवन-नौका का दृश्य बड़ा मार्मिक है—

निस्पन्द तरी, अतिमन्द तरी,
साँसों के दो पतवार चपल, सम्मुख लाते हैं नव पल-पल
अविदित भविष्य की आशंका की छाया है कितनी गहरी।

चित्ररेखा, पृ० ३५।

जीवन की वीणा का प्रत्येक तार विरह की झंकार उत्पन्न कर रहा है—

जीवन-तंत्री के तार-तार !
मदन-तीर की पीड़ा लेकर कसक रहे हैं बार-बार !

× × ×

नव-बाला के यौवन से साकार और कुछ निराकार !
मींड़ वेदना है उसमें सुख स्वर्ग तड़पता बार-बार। जीवन-तंत्री०

चित्ररेखा, पृ० ४२।

कवि की आतुर प्रार्थना बड़ी करुण है—

मेरे जीवन में एक बार तुम देखो तो अपना स्वरूप,
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ तुम मुझमें होना ओ अनूप !

चन्द्र-किरण, पृ० ४८।

किन्तु निष्ठुर प्रिय ने यह प्रार्थना कभी स्वीकार नहीं की !

भूलकर भी तुम न आए, आँख के आँसू उमड़कर आँख ही में हैं समाए।
मैं ससीम, असीम सुख से खींचकर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से गा रहा हूँ यश तुम्हारा।

आ० क० ३, पृ० १३।

कभी-कभी मिलन का क्षण भी कल्पना में उतर आता है। उस समय विमुग्धकारी सुख की सृष्टि हो जाती है—

यह है परिचित मधुर साँस, जिसमें अपने को विस्मृत कर
सोए हैं कितने दिवस मास !

चन्द्र-किरण, पृ० १७।

फिर तो कवि—

मैं तुमको पाकर गया भूल
या उषा-देवि की विधि पहना, सन्ध्या का नश्वर-सा दुकूल !
मैं भूल गया मेरी आत्मा में भरा ज्योति का है समूह।

चन्द्र-किरण, पृ० ३०।

इस प्रकार वर्मा जी की रहस्य-भावना अज्ञात, असीम प्रियतम के प्रति गम्भीर प्रणय-वेदना की अनुभूति लेकर चली है। स्वप्न और कल्पना के अपार्थिव लोक में विचरण करने के उपरान्त निराला जी और पन्त जी की तरह वर्मा जी की दृष्टि, मार्क्सवाद से प्रभावित होकर, पृथ्वी के वास्तविक कष्टों की ओर भी आई है, जैसा कि उनके एक गीत से ज्ञात होता है—

रहस्यवाद का निर्वासन

क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ' मधुमय संगीत !
मलयानिल की उच्छ्‌वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत।
कनक-रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण,
रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण।
होगा क्या बनवाकर कविते ! तुहिन-बिन्दु की निर्मल माल।
विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल।

सरस्वती—सन् १६३६, खण्ड ३७, सं० ३।

परन्तु दृष्टिकोण का यह परिवर्तन वर्मा जी में स्थायी होकर नहीं रह सका क्योंकि उनके 'चन्द्र-किरण' और 'संकेत' काव्य-संग्रह सन् १६३७ और १६३६ में निकले हैं जो कि विशुद्ध रहस्यवादी हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रेमी जी भी रहस्यवादी काव्यधारा का आस्थापूर्ण अनुसरण करनेवाले कवि हैं। अव्यक्त, अज्ञात प्रियतम के लिए जिज्ञासा और व्यथा-पूर्ण प्रेम का काशन प्रेमी जी ने किया है—

किसके अन्तस्तल में भर दूँ अपनी आँखों का सन्देश,
किसने इस जग में देखा है मेरे प्रियतम का शुभ देश ![1]

कवि में अव्यक्त के अनुसंधान की यह जिज्ञासा उदित हो रही है। उस अव्यक्त ने कभी अपनी झलक दिखाकर आँखों में पीड़ा भर दी है—

इन पापिन आँखों ने तुमको यदि न कभी देखा होता।
तो मेरी फूटी किस्मत में कुछ सुख का लेखा होता।[2]

प्रियतम से मिलन की आकांक्षा मन में स्वाभाविक रूप से उदित हो जाती है; जैसे पूर्ण-चन्द्र को प्राप्त करने के लिए समुद्र स्वयं उद्वेलित हो जाता है—

मत पूछो मुझसे कोई—क्या प्रियतम पर मेरा अधिकार,
जाकर सुनो पूर्णिमा के दिन सागर के चंचल उद्गार।[3]

विश्व की रमणीय विभूतियों में उस विराट् सत्ता के अंग-प्रत्यंग प्रतिबिम्बित हैं—

निशि सन्ध्या-तट के पीछे सुलझाती अलकें काली,
उनको फैलाती आती बुनती-सी तम की जाली।
अलकों के कुसुमों में ही खिलते हैं नभ के तारे,
क्या चमक उठे जीवन के गत सपने सारे प्यारे।[4]

इस विश्व का सर्जन-हार जो अज्ञात है उसके प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा का यह उदय देखिए—

इस रत्न-जटित अम्बर को किसने वसुधा पर छाया ?
करुणा की किरणें चमका क्यों अपना रूप छिपाया ?
नभ के पर्दे के पीछे करता है कौन इशारे ?
सहसा किसने जीवन के खोले हैं बंधन सारे ?[5]

कोई अज्ञात अपने मौन संकेतों द्वारा मन में वेदना उत्पन्न करता रहता है—

यह हृदय न जाने किसकी सुधि में बेसुध हो जाता ?
छिप-छिपकर कौन हृदय की वीणा के तार बजाता ?
क्या जाने नीरव नभ से किसका आमंत्रण आता ?
उर लक्ष्य-हीन पक्षी सा किस ओर उड़ा है जाता ?

१-२. 'कवि-भारती', पृ० ४८० ।

३, ४, ५. कवि-भारती, पृ० ४८४ और ४८५ ।

इस महाशून्य में किसका मैं अनुभव कर मुसकाती ?
मैं अपने ही कलरव को क्यों नहीं समझने पाती ?[1]

माया-पंजर में अवरुद्ध प्राण-पक्षी उन्मुक्त होकर जब आकाश में ऊर्ध्वगामी हो जाता है तब किसी प्रकार का अन्तराय उसे रोक नहीं सकता है—

खोलती हूँ पिंजरे का द्वार, उड़ो अम्बर में विहग-कुमार !
गहन-तम का यह काला कोट, सुनहरी किरणों की खा चोट !
भूमि पर अभी जायगा लोट, तुम्हें होगा तुमपर अधिकार ![2]

निर्बन्धन जीव इस प्रकार उड़कर 'अश्रु-निर्झरिणी में स्नात विहगी' से मिल जाता है और विश्व-व्यापक रूप धारण करता है—

करो जग में स्वच्छन्द विहार ! खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !
तुम्हारा चन्द्र, सूर्य, आकाश, तुम्हारी सन्ध्या, उषा, प्रकाश ,
निशा, दिन, उपवन, वन, मधुमास, करो शासन ए राजकुमार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार ।[3]

भौतिक दृष्टिकोण के बढ़ते जाने के कारण आज मानव की दृष्टि अत्यन्त संकुचित होकर केवल अपने तक ही सीमित होकर रह गई है। अखिल विश्व में व्याप्त एक अखण्ड, समष्टि-गत, जीवन दृष्टि-क्षेत्र से 'ओझल' हो गया है। 'पंखी की पीड़ा' नामक कविता में प्रेमी जी ने ऐसे ही अखण्ड-जीवन का स्वप्न देखा है। एक आहत पक्षी को कोई करुणार्द्र मनुष्य उठाकर उसका उपचार करता है। स्वार्थ में लीन और पर-पीड़ा से उदासीन रहनेवाले मनुष्य के इस उदार-भाव को देखकर पक्षी को कुछ विस्मय होता है और वह प्रकृतिस्थ होकर मानव की वर्तमान संकुचित वृत्ति पर मार्मिक आक्षेप करता है। दोनों के पारस्परिक संवाद के प्रसंग में अखण्ड-जीवन-दृष्टि का प्रतिपादन प्रेमी जी ने इस प्रकार किया है—

क्या मानव क्या विहग जगत पर है अधिकार समान सभी का ।
जिसमें प्यारे फूल सजाए, प्रभु ने वह उद्यान सभी का ।
हमें नहीं भाया उपवन का वास छोड़कर वन को जाना ,
वैसे तो वन के वासी हैं, पर मानव का हुक्म न माना ।

---

१. कवि-भारती, पृ० ४८५ ।
२. कवि-भारती, पृ० ४८६ ।
३. कवि-भारती, पृ० ४८७ ।

इस महाशून्य में किसका मैं अनुभव कर मुसकाती ?
मैं अपने ही कलरव को क्यों नहीं समझने पाती ?[१]

माया-पंजर में अवरुद्ध प्राण-पक्षी उन्मुक्त होकर जब आकाश में ऊर्ध्वगामी हो जाता है तब किसी प्रकार का अन्तराय उसे रोक नहीं सकता है--

खोलती हूँ पिंजरे का द्वार, उड़ो अम्बर में विहग-कुमार !
गहन-तम का यह काला कोट, सुनहरी किरणों की खा चोट !
भूमि पर अभी जायगा लोट, तुम्हें होगा तुमपर अधिकार ![२]

निर्बन्धन जीव इस प्रकार उड़कर 'अश्रु-निर्झरिणी में स्नात विहगी' से मिल जाता है और विश्व-व्यापक रूप धारण करता है—

करो जग में स्वच्छन्द विहार ! खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !
तुम्हारा चन्द्र, सूर्य, आकाश, तुम्हारी सन्ध्या, उषा, प्रकाश ,
निशा, दिन, उपवन, वन, मधुमास, करो शासन ए राजकुमार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार ।[३]

भौतिक दृष्टिकोण के बढ़ते जाने के कारण आज मानव की दृष्टि अत्यन्त संकुचित होकर केवल अपने तक ही सीमित होकर रह गई है। अखिल विश्व में व्याप्त एक अखण्ड, समष्टि-गत, जीवन दृष्टि-क्षेत्र से 'ओझल' हो गया है। 'पंखी की पीड़ा' नामक कविता में प्रेमी जी ने ऐसे ही अखण्ड-जीवन का स्वप्न देखा है। एक आहत पक्षी को कोई करुणार्द्र मनुष्य उठाकर उसका उपचार करता है। स्वार्थ में लीन और पर-पीड़ा से उदासीन रहनेवाले मनुष्य के इस उदार-भाव को देखकर पक्षी को कुछ विस्मय होता है और वह प्रकृतिस्थ होकर मानव की वर्तमान संकुचित वृत्ति पर मार्मिक आक्षेप करता है। दोनों के पारस्परिक संवाद के प्रसंग में अखण्ड-जीवन-दृष्टि का प्रतिपादन प्रेमी जी ने इस प्रकार किया है—

क्या मानव क्या विहग जगत पर है अधिकार समान सभी का।
जिसमें प्यारे फूल सजाए, प्रभु ने वह उद्यान सभी का।
हमें नहीं भाया उपवन का वास छोड़कर वन को जाना ,
वैसे तो वन के वासी हैं, पर मानव का हुक्म न माना।

---

१. कवि-भारती, पृ० ४८५।
२. कवि-भारती, पृ० ४८६।
३. कवि-भारती, पृ० ४८७।

अखिल विश्व अधिवास हमारा,
जहाँ करें जी नीड़ बनावें।
क्यों मानव के बन्दी बनकर,
बैठें, उठें, हँसें या गावें।[1]

इस प्रकार प्रेमी जी का रहस्यवाद नितान्त लोकबाह्य कल्पना विहार नहीं है। एक ओर तो उसमें अज्ञात की जिज्ञासा का उदय अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से होता दिखाई देता है और वेदना के भी अस्वाभाविक चित्र नहीं हैं; दूसरी ओर आध्यात्मिक सामरस्य के आधार पर विश्व-मानवतावाद की प्रतिष्ठा भी उसमें मिलती है।

उदयशंकर भट्ट

भट्ट जी आधुनिक युग के क्रान्ति-गायक हैं। इस क्रान्ति का स्वरूप आध्यात्मिक है। रहस्यवाद के अन्तर्गत वर्तमान जीवन के दुःख-द्वन्द्वों का परिहार करते हुए नूतन व्यवस्था वाले नव-युग के स्वप्न भी बराबर देखे जाते रहे हैं। प्रसाद, निराला और पन्त ने भी अपनी रचनाओं में नूतन आदर्शों के आधार पर, नवयुग की कल्पना की है। भट्ट जी भी, इसी प्रकार, नवयुग के स्वप्न-द्रष्टा हैं। उनकी मान्यता है कि आज के युग में विश्व की पुरानी संकीर्ण सीमाएँ टूटती जा रही हैं और मानवता की कल्पना बृहत् से बृहत्तर होती हुई सर्वमानव-वाद की ओर जा रही है। 'युगदीप' के आरम्भ में अपनी बात कहते हुए उन्होंने कहा है—

"आज के मनुष्य के सामने से संकुचित, समाज, देश और वर्ग की शृंखलाएँ टूटती गई हैं।"

इसी विचार-बिन्दु के आधार पर भट्ट जी ने नवयुग का आवाहन किया है। उस नवयुग की वंदना में, जिसमें चारों ओर हर्ष छाया हुआ है, कवि गीत की रचना करना चाहता है—

बन्दन गीत बनें।
प्राण-प्राण के स्वर मेरे अभिनन्दन-गीत बनें।
हो उल्लास हमारे स्वर में, हो मधुमास हमारे स्वर में।

---

1. कवि-भारती, पृ० ४८९।

घर-घर रवि के उषा मिलन का स्पन्दन गीत बनें।

कवि-भारती, पृ० ४७२।

नवयुग का प्रकाश अन्धकार को चीरकर आ रहा है—

अंधकार, अंधकार, अंधकार चीर चल!
उग रही उषा उधर, उग रहा दिन सकल।
रोक मत प्रकाश को रोक मत विकास को।
रोक अश्रु-हास को मानव उच्छृङ्खल।

युगदीप, पृ० २।

नव-चेतना की एक अस्पष्ट झलक कवि को मिल रही है—

यह क्या कैसा मैंने पाया।
ना जाने किस अनजाने में वह कटु, कटुतर, वह मृदु, मृदुतर।
रजनी में सरिता के तट सम मैं देख पा रहा एक कोर।
आगे का कोई नहीं छोर, क्या जानूँ केवल वर्तमान।
दिन सा उज्ज्वल निशि सा अजान!
मेरी ही सीमा बन आया!
यह कैसा क्या मैंने पाया। युगदीप, पृ० १६।

अविराम गति से चलते हुए जीवन को किधर जाना है? इस भावना का प्रकाशन भी कवि ने मार्मिक ढंग से किया है—

पूछती मँझधार कवि से पार कितनी दूर।
प्राण में अविराम गति का द्वन्द्व भरकर, और गति में अनवरति का छंद भरकर,
आ रही हूँ सुबह से बहती हुई मैं, आपही अपनी कथा कहती हुई मैं,
कौन मेरा तट, कहाँ आधार, कितनी दूर? पूछती मँझधार कवि से पार
कितनी दूर।

युगदीप, पृ० २६।

जीवन की अविराम गति से सम्बन्धित तत्त्व-चिन्तन का यह सुन्दर गीत है। उस असीम के चेतन-कण से जलनेवाला यह ससीम चेतन-दीप अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने अखण्ड-प्रकाश को तिरोहित नहीं होने देता है। रात्रि और दीपक के प्रतीक द्वारा इस तत्त्व का प्रकाश सुन्दर रीति से किया गया है—

अंधकार अनन्त सिर धर जल रहा दीपक अकेला।
अमित भू, निःसीम नभ, ऊपर तिमिर घनजाल भी है।

पवन रह-रह चल रहा जीवन-अनोखा काल भी है।
नदीतट पर मूक जलता हँस रहा फिर भी उजेला।
इस प्रकाश को मृत्यु का भय भी नहीं है—
मृत्यु से अणु-प्राण का किसने उजेला बढ़ उँडेला।

युगदीप, पृ० ४।

अज्ञात प्रियतम के प्रति हृदय की वेदना की विवृति भी भट्ट जी ने कहीं-कहीं की है। अज्ञात रूप से ही वह प्रिय आँखों में अपनी छवि की अमिट छाप छोड़ गया है—

अनजाने आँखों में बिंधकर, शूल, फूल बन कौन गया?
प्रिये, तुम्हारी चरण-चाप सुन, बहक स्वर्ग का मौन गया।

युगदीप, पृ० ३५।

उस अनन्त की एक किरण जीव को प्रकाशित करती रहती है और मन में वेदना के तीर चुभाती रहती है—

यह नभ मेरा आलोक दीप, मैं इसकी मधुर किरण चंचल,
मैं वहन कर रहा हूँ जीवन, वह भरता है जीवन पल-पल,
मैंने आसू से किए मेघ, अपनी आहों से विकल रात,
पर इसने लिख-लिख बिखराया, रजनी की आँखों में प्रभात,

—युगदीप, पृ० ४५।

इसी प्रकार भट्ट जी ने रहस्य-भावना से सम्बन्धित गीतों की रचना की है। इसके अतिरिक्त वे पौराणिक आख्यान, नाटक, खण्डकाव्य और कथा-साहित्य की रचना भी करते रहे हैं।

हरवंशराय 'बच्चन'

छायावादी काव्यधारा के अन्तर्गत बच्चन का अपना निजी स्थान है। बच्चन के गीतों में प्रेम की उपासना मुख्य रूप से प्रकट हुई है। फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुकरण पर बच्चन ने सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य में हाला, बाला, मधुशाला, साकी और कूजे की अवतारणा की। सूफियों की उपासना प्रेममार्ग पर चलकर ईश्वर को प्राप्त करने का सिद्धान्त स्वीकार करती है। प्रेम के तन्मयकारी उन्माद को प्रकट करने के लिए वहाँ प्रतीक रूप में प्याली और मदिरा की योजना भी की गई थी। परन्तु धीरे-धीरे प्याली और मदिरा केवल प्याली और मदिरा ही रह गई; उसकी आध्यात्मिकता नष्ट हो गई।

बच्चन ने भी हाला का सेवन इसी लिए किया कि जीवन की निराशाओं

और असफलताओं को उसमें भुलाया जा सके। अतः उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्व का अन्वेषण करना व्यर्थ है।

बच्चन ने प्रेम के गीत भी पर्याप्त मात्रा में गाए हैं। यह प्रेम निराशा और व्यथा से गीला है। प्रेम के गीतों को पढ़कर किसी प्रकार की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध उनमें नहीं दिखाई देता है। कवि केवल प्रेम का उपासक है। धीरे-धीरे प्रेम की वह भावना निर्विशेष हो गई है और कवि ने उसी से सम्बद्ध संयोग-वियोग के गीत गाए हैं। कहीं-कहीं वर्णन इस प्रकार हो गया है कि उसमें रहस्य का हलका सा आभास कहा जा सकता है; जैसे—

नहीं चाहता तुलसी-दल बन शीश तुम्हारे चढ़ जाऊँ,
नहीं हार की कलियाँ बनकर गले तुम्हारे पड़ जाऊँ।
इच्छा केवल रज-कण बनकर तव मन्दिर के पास पड़ूँ,
आते-जाते कभी तुम्हारे श्री-चरणों से लिपट पड़ूँ।

तेरा हार, पृ० ४४।

कल्पना के उन्मेष में कवि को तम के पार कुछ भव्य दृष्टिगोचर हो रहा है—

नेत्र सहसा आज मेरे तम पटल के पार जाकर।
देखते हैं रत्न-सीपी से बना प्रासाद सुन्दर,
है खड़ी जिसमें उषा ले दीप कुंचित रश्मियों का।
ज्योति में जिसके सुनहली सिन्धु-कन्याएँ मनोहर,
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा बनाकर गान करतीं।
और करतीं अति अलौकिक ताल पर उन्मत्त नर्तन!

मधु-कलश, पृ० ६०।

इससे अधिक रहस्यवाद का सम्प्रदाय-सिद्ध स्वरूप बच्चन जी की रचनाओं में नहीं है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रमणीय रूप-व्यापारों को लेकर प्रेम-भावना की व्यंजना बच्चन जी ने अवश्य की है जो कि केवल मानवीकरण है, रहस्यवाद नहीं।

स्व० सुभाद्रकुमारी चौहान

श्रीमती चौहान की काव्य-रचना मुख्यतया राष्ट्रीय-भावना, क्रान्ति, प्राचीन गौरव, वीर-गान तथा अन्य फुटकर विषयों को लेकर हुई है। उनके पुरस्कृत काव्य-संग्रह 'मुकुल' में कुछ उपासनात्मक गीत भी हैं जिनमें ईश्वर के देश-काल-निर्विशिष्ट रूप की प्रेममयी उपासना की गई है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

और असफलताओं को उसमें भुलाया जा सके। अतः उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्व का अन्वेषण करना व्यर्थ है।

बच्चन ने प्रेम के गीत भी पर्याप्त मात्रा में गाए हैं। यह प्रेम निराशा और व्यथा से गीला है। प्रेम के गीतों को पढ़कर किसी प्रकार की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध उनमें नहीं दिखाई देता है। कवि केवल प्रेम का उपासक है। धीरे-धीरे प्रेम की वह भावना निर्विशेष हो गई है और कवि ने उसी से सम्बद्ध संयोग-वियोग के गीत गाए हैं। कहीं-कहीं वर्णन इस प्रकार हो गया है कि उसमें रहस्य का हलका सा आभास कहा जा सकता है; जैसे—

नहीं चाहता तुलसी-दल बन शीश तुम्हारे चढ़ जाऊँ,
नहीं हार की कलियाँ बनकर गले तुम्हारे पड़ जाऊँ।
इच्छा केवल रज-कण बनकर तव मन्दिर के पास पड़ूँ,
आते-जाते कभी तुम्हारे श्री-चरणों से लिपट पड़ूँ।

तेरा हार, पृ० ४४।

कल्पना के उन्मेष में कवि को तम के पार कुछ भव्य दृष्टिगोचर हो रहा है—

नेत्र सहसा आज मेरे तम पटल के पार जाकर।
देखते हैं रत्न-सीपी से बना प्रासाद सुन्दर,
है खड़ी जिसमें उषा ले दीप कुंचित रश्मियों का।
ज्योति में जिसके सुनहली सिन्धु-कन्याएँ मनोहर,
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा बनाकर गान करतीं।
और करतीं अति अलौकिक ताल पर उन्मत्त नर्तन!

मधु-कलश, पृ० ६०।

इससे अधिक रहस्यवाद का सम्प्रदाय-सिद्ध स्वरूप बच्चन जी की रचनाओं में नहीं है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रमणीय रूप-व्यापारों को लेकर प्रेम-भावना की व्यंजना बच्चन जी ने अवश्य की है जो कि केवल मानवीकरण है, रहस्यवाद नहीं।

स्व० सुभद्रकुमारी चौहान

श्रीमती चौहान की काव्य-रचना मुख्यतया राष्ट्रीय-भावना, क्रान्ति, प्राचीन गौरव, वीर-गान तथा अन्य फुटकर विषयों को लेकर हुई है। उनके पुरस्कृत काव्य-संग्रह 'मुकुल' में कुछ उपासनात्मक गीत भी हैं जिनमें ईश्वर के देश-काल-निर्विशिष्ट रूप की प्रेममयी उपासना की गई है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने,
पदों को पूजने के ही लिए थी साधना मेरी।
तपस्या नेम व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने,
पधारे देव, पूरी हो गई आराधना मेरी।

मुकुल, पृ० १९।

नीचे की पंक्तियों में वायु को सन्देश-वाहक बनाकर प्रियतम के अव्यक्त देश की ओर भेजा जा रहा है—

फिरती हुई पहुँच तुम जाओ अगर कभी उस देश सखी।
मेरे निठुर श्याम को मेरा दे देना सन्देश सखी।

मुकुल, पृ० ३४।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अंचल पहले छायावादी और फिर प्रगतिवादी कवि रहे हैं। छायावादी काव्य में अंचल ने प्रेम-भावना की मधुर अभिव्यक्ति की है। कहीं-कहीं वह प्रेम अव्यक्त का आश्रय लेकर भी प्रकट हुआ है– कोई अव्यक्त, अज्ञात कवि के मन में पीड़ा का संचार कर रहा है—

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा सी जगाते ?
कौन आकुल प्राण को करते विकल उन्मन अचेतन।
कौन प्यासे से दृगों में धूम भर जाते अपावन,
हो उठा किस गंध से आकुल अचेतन स्वप्न दृग में।

—अपराजिता, पृ० २०।

उस 'अज्ञात' तत्त्व को प्रेयसी रूप में देखकर कवि उसके व्यथा-उत्पादक गुण की ओर संकेत करता है—

कौन मरण सोहाग की तुम रसवती नीहारिका !
स्वप्न सुख-दुख के लिए अपुनीत
आँधियों के क्षुब्ध मरु संगीत
कौन री ! तुम कौन ! रह-रह रोकती हो प्राण
जैसे युग-युगों की यह मधुर पहचान
कर रहा अर्पित निवेदित सुन्दरी ! चिरशोभना !
जीवन्त मैं चिरदग्ध, यह पावक-पुलक परिधान !
तुम प्रलय के पुण्य जल की चिर निशा-संचालिका।

अपराजिता, पृ० ७७।

और असफलताओं को उसमें भुलाया जा सके। अतः उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्व का अन्वेषण करना व्यर्थ है।

बच्चन ने प्रेम के गीत भी पर्याप्त मात्रा में गाए हैं। यह प्रेम निराशा और व्यथा से गीला है। प्रेम के गीतों को पढ़कर किसी प्रकार की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध उनमें नहीं दिखाई देता है। कवि केवल प्रेम का उपासक है। धीरे-धीरे प्रेम की वह भावना निर्विशेष हो गई है और कवि ने उसी से सम्बद्ध संयोग-वियोग के गीत गाए हैं। कहीं-कहीं वर्णन इस प्रकार हो गया है कि उसमें रहस्य का हलका सा आभास कहा जा सकता है; जैसे—

नहीं चाहता तुलसी-दल बन शीश तुम्हारे चढ़ जाऊँ,
नहीं हार की कलियाँ बनकर गले तुम्हारे पड़ जाऊँ।
इच्छा केवल रज-कण बनकर तव मन्दिर के पास पड़ूँ,
आते-जाते कभी तुम्हारे श्री-चरणों से लिपट पड़ूँ।

तेरा हार, पृ० ४४।

कल्पना के उन्मेष में कवि को तम के पार कुछ भव्य दृष्टिगोचर हो रहा है—

नेत्र सहसा आज मेरे तम पटल के पार जाकर।
देखते हैं रत्न-सीपी से बना प्रासाद सुन्दर,
है खड़ी जिसमें उषा ले दीप कुंचित रश्मियों का।
ज्योति में जिसके सुनहली सिन्धु-कन्याएँ मनोहर,
गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा बनाकर गान करतीं।
और करतीं अति अलौकिक ताल पर उन्मत्त नर्तन!

मधु-कलश, पृ० ६०।

इससे अधिक रहस्यवाद का सम्प्रदाय-सिद्ध स्वरूप बचन जी की रचनाओं में नहीं है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रमणीय रूप-व्यापारों को लेकर प्रेम-भावना की व्यंजना बचन जी ने अवश्य की है जो कि केवल मानवीकरण है, रहस्यवाद नहीं।

स्व० सुभद्राकुमारी चौहान

श्रीमती चौहान की काव्य-रचना मुख्यतया राष्ट्रीय-भावना, क्रान्ति, प्राचीन गौरव, वीर-गान तथा अन्य फुटकर विषयों को लेकर हुई है। उनके पुरस्कृत काव्य-संग्रह 'मुकुल' में कुछ उपासनात्मक गीत भी हैं जिनमें ईश्वर के देश-काल-निर्विशिष्ट रूप की प्रेममयी उपासना की गई है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कड़ी आराधना करके बुलाया था उन्हें मैंने,
पदों को पूजने के ही लिए थी साधना मेरी।
तपस्या नेम व्रत करके रिझाया था उन्हें मैंने,
पधारे देव, पूरी हो गई आराधना मेरी।

मुकुल, पृ० १६।

नीचे की पंक्तियों में वायु को सन्देश-वाहक बनाकर प्रियतम के अव्यक्त देश की ओर भेजा जा रहा है—

फिरती हुई पहुँच तुम जाओ अगर कभी उस देश सखी।
मेरे निठुर श्याम को मेरा दे देना सन्देश सखी।

मुकुल, पृ० ३४।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अंचल पहले छायावादी और फिर प्रगतिवादी कवि रहे हैं। छायावादी काव्य में अंचल ने प्रेम-भावना की मधुर अभिव्यक्ति की है। कहीं-कहीं वह प्रेम अव्यक्त का आश्रय लेकर भी प्रकट हुआ है— कोई अव्यक्त, अज्ञात कवि के मन में पीड़ा का संचार कर रहा है—

कौन हो तुम मर्म में जो आज तृष्णा सी जगाते?
कौन आकुल प्राण को करते विकल उन्मन अचेतन।
कौन प्यासे से दृगों में धूम भर जाते अपावन,
हो उठा किस गंध से आकुल अचेतन स्वप्न दृग में।

—अपराजिता, पृ० २०।

उस 'अज्ञात' तत्त्व को प्रेयसी रूप में देखकर कवि उसके व्यथा-उत्पादक गुण की ओर संकेत करता है—

कौन मरण सोहाग की तुम रसवती नीहारिका!
स्वप्न सुख-दुख के लिए अपुनीत
आँधियों के क्षुब्ध मरु संगीत
कौन री! तुम कौन! रह-रह रोकती हो प्राण
जैसे युग-युगों की यह मधुर पहचान
कर रहा अर्पित निवेदित सुन्दरी! चिरशोभना!
जीवन्त मैं चिरदग्ध, यह पावक-पुलक परिधान!
तुम प्रलय के पुण्य जल की चिर निशा-संचालिका।

अपराजिता, पृ० ७७।

उस अव्यक्त के पास से आनेवाला नीरव प्रेम-सन्देश सृष्टि में चारों ओर उस दिव्य-चेतना का आभास दिखा देता है—

एक सपना भी तुम्हारा जब मलय मनुहार लाता
डोलती हो रैन अस्थिर-शशि किरण कहती कहानी,
दूर हरियाले वनों में फूट छा जाती जवानी
अन्ध हो जाता समीरण चैत की चिनगारियों से
एक कुचली आरज़ू-सी भीगती शबनम उफानी।

अपराजिता, पृ० ८१।

दूर-स्थित हरियाले वनों में छा जानेवाली जवानी रहस्य-तत्त्व की मार्मिक अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखती है। 'अंचल' ने इसी प्रकार कहीं-कहीं रहस्य-भावना को व्यक्त किया है। मुख्यतः वे प्रेम के गायक हैं और आगे चलकर प्रगतिशील काव्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो गई।

नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा आधुनिक युग के उत्कृष्ट गीतकार कवि माने जाते हैं। हिन्दी के छायावादी गीत-काव्य में निराशा, व्यथा और प्रेम के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई। उसी के अन्तर्गत नरेन्द्र शर्मा के गीतों का निर्माण भी प्रेम और वेदना के आकुलकारी स्वरों से हुआ है। वास्तव में इस व्यथा का मूल त्कालीन जीवन में उपलब्ध होनेवाले असन्तोष और असफलता में है। असफलता के कारण व्यथाविष्ट होकर नरेन्द्र शर्मा ने भी अपने को एक वियुक्त वासी समझकर व्यथा-पूर्ण 'प्रवासी के गीत' गाए हैं। इसी प्रकार के वेदना-गीतों में, कभी कभी प्रसंगवश, आध्यात्मिक चिन्तन या अव्यक्त का सम्पर्क कट हो जाता है। कदली-वन को देखकर कवि चिंतनशील हो जाता है –

भूल ब्रह्म-ज्ञान, बना ब्रह्म आज माया!
माया का यह स्वरूप मुझे बहुत भाया।
श्यामल, चिद् रश्मि-कुंज, असित रश्मि-छाया।
सुन्दर का सहज रूप कदली की काया,
अंबर का नील-बिम्ब, धरती का पीतल।
फैला है योजन भर कदली वन शीतल,

कदली-वन, पृ० २।

कोई अज्ञात-तत्त्व सुन्दरी का रूप धारण करके कवि को अपनी ओर कृष्ट करता है—

किसी अनजान नगरी के किसी अनजान कोने में,
कहीं अनजान कोई सुन्दरी मुझको बुलाती है![1]

चारों ओर उसी 'अनजान सुन्दरी' की सौन्दर्य-राशि फैली हुई है—

कभी अनजान निर्झरिणी, कभी अनजान नीलाचल,
कभी दूर्वाभरित धरणी कभी वन का हरित अंचल!
अमित अनजान छवियों में झलक अपनी दिखाती है।[2]

यह शरीर एक पालकी है। इसमें बैठा हुआ जीव प्रिय-मिलन के लिए ला जा रहा है; परन्तु पता नहीं कि इस पालकी को कब तक चलते हना है—

किस अगोचर की बनी वह नव-वधू चिरकाल की?
कब रुकेगी पालकी परदा खुलेगा हाथ से?
कब न जाने मिलन होगा नियति का गति नाथ से?
सम चरण धर प्रकट होगी मूर्ति कब लय-ताल की?

कदलीवन, पृ० १२।

इसमें प्रतीक्षा की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य में आभासित अज्ञात की यह जिज्ञासा बड़ी सुन्दर है—

कौन हो तुम भाव-संभव मौन की प्रतिबिम्ब जैसी?
प्रेरणा भी, पूर्ति भी मद से अलस-पद स्फूर्ति जैसी!
चिद्विलासिनि, हैं तुम्हारे इंद्र-धनुषी वेष कितने?

कदलीवन, पृ० १४।

घड़े और कुम्हार को लेकर प्रतीक-पद्धति में जीव का ऊर्ध्व-गमन और वेयोग-व्यथा के अनन्तर प्रियतम की प्राप्ति का वर्णन भी नरेन्द्र शर्मा ने केया है।

बहती हुई नदी से लेकर जल, जल का पथ मोड़ दिया
अधोगामिनी गति से छिन में जल का नाता तोड़ दिया।
सिर पर लिया, दिया पानी को, ऊर्ध्वगमन का इंगि तयों—
प्यास बुझाकर कुंभकार ने, पुनः घड़े को तोड़ दिया।

कदलीवन, पृ० २४।

१-२. 'कदलीवन', पृ० ९।

वह अव्यक्त कुंभकार शरीर-घट की रचना करके उसमें ऊर्ध्वगमन की प्रवृत्ति देता है और उसका कर्तव्य-कर्म पूरा हो जाने पर उसे तोड़ देता है।

फिर वही कुंभकार अपने बनाए घट को आग में तपाकर अपना बना लेता है -

बड़े जतन से कुंभकार ने भँवर लगाया,
अंतराल में ज्वाल जगाकर अवाँ लगाया।
अन्त समय में कुंभकार ने जलते-जलते,
तपे-तपाए उसी कुंभ को अपना पाया।

कदलीवन, पृ० २५।

शरीर की कारा में बन्द चिरन्तन प्राण दुःख सहकर ही अपने अंशी का संयोग प्राप्त करते हैं—

प्राणों को प्रभु ने दी काया।
काया है क्षणभंगुर माटी, केवल आनी जानी।
दुख भोगे बिन योग नहीं है, दुख भोगें कैसे काया बिन,
इसी सोच में प्राण पड़े ये निरानन्द थे प्राणों के दिन।

कदलीवन, पृ० २८।

उस महासत्य का अनुसन्धान करने में बुद्धि सफल नहीं होती है—

छोटी सी बुद्धि डोर, अतल सत्य-कूप,
शून्य मुकुर अति विशाल, अतिशय लघु-रूप।
एक बना क्यों अनेक? क्यों अनेक एक?[१]

इस सत्य की उपलब्धि आत्मोत्सर्ग के द्वारा ही हो पाती है।

बिना प्राण-दान कहाँ यहाँ ज्ञान-दान,
यम के विद्यालय में मिलता है ज्ञान।
बलि-पशु बन जायँ प्राण, देह काष्ठ-यूप।[२]

वर्तमान की अधोगति, जो उपलब्धि में सहायक होती है, अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी है—

नीर नहीं, इसी लिए प्रतिबिम्बित ज्योति नहीं
कुआँ आज अन्धा है!

कदलीवन, पृ० ४०।

जेठ के आतप में धूप-घाम सहन करता हुआ अमलतास का वृक्ष अन्तः-

१-२. कदलीवन, पृ० ७१।

साधना में निरत योगी का प्रतीक है; साथ ही कवि की तत्कालीन एकाकी और दुःखात्मक स्थिति का बोधक भी है—

आतप में तपकर अमलतास बन गया खरा सोना !
वह जेठ मास की दोपहरी यह पुष्प-राग-रंग-रस-लहरी !
प्राणों के मरकत वन में वह बन गया मनोबल का प्रहरी !
यों सार्थक हुआ दुपहरी में नित नग्न खड़ा होना !
हठयोगी तरुण तपस्वी है, [illegible] अमलतास
जंगम बन रहा धरातल पर अन्तर्मन-वासी चिद्विलास ।
अब और हरा लगता वन का हर हरा-भरा कोना ।

कदलीवन, पृ० ७७ ।

जगत् से वैराग्य-पूर्ण यह स्थिति वृत्ति को अज्ञात-अव्यक्त की ओर प्रेरित करती है ।

आध्यात्मिक चिन्तन के अतिरिक्त कवि ने हृदय की मार्मिक, अध्यात्म-सम्बन्धी व्यथा और प्रिय के साथ तादात्म्य का भी वर्णन किया है ।

प्रियतम से बिछुड़ा हुआ जीवन निरुद्देश्य बह रहा है तथा अभाव से अभिशप्त है—

अगम नभ सा मार्ग मेरा शून्य नभ सा मार्ग मेरा
हृदय खण्डित इन्दु सा है—
इन्दु, पागल इन्दु, चञ्चल इन्दु सा है
सदा घटता और बढ़ता प्रिय उसे जग की तरलता,
चेतना की प्यास लेकर सदा चल जल पर मचलता
बिम्ब वह भी, चाहता पर विश्व पर प्रतिबिम्ब छोड़े
टूटता जाए, स्वयं पर सलिल से सम्बन्ध जोड़े ।
नित अनिश्चित भ्रमती-फिरती नदी सा मार्ग मेरा ।

—पलाशवन, पृ० २० ।

अब कवि ने अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया है । दोनों एक ही हैं, कोई अन्तर नहीं—

तुम भी कपोत, मैं भी कपोत ।
हम दोनों के मन प्राण कण्ठ, भावों के मधु से ओत-प्रोत !
जब खत्म हुई मेरी उड़ान, आगत-गत नभ की शून्य परिधि
वह देश-ज्ञान वह कालावधि, सब सिमिट गए बन वर्तमान,
तुम केन्द्र बने मेरे कपोत ।

जग-दर्शन के साधन अनेक रस, रूप, वर्ण, संज्ञा अनन्त
पर आत्मा को आधार एक, तुम, वह साधन मेरे कपोत

प्रवासी के गीत, पृ० ९३।

इसी प्रकार दीपावली के प्रकाश में कवि को अपने अन्तर में भरा हुआ दिव्य प्रकाश परिलक्षित होता है—

तिमिर माया-जाल को हर ज्योति से जीवन गया भर,
रहेगा ज्योतित निरन्तर
ज्योति-चुम्बन से हृदय के दीप की बाती जली!
घर घर जली दीपावली

पलाशवन, पृ० २३।

इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा ने व्यथा से गीले गीतों में आध्यात्मिक संकेत किए हैं।

आरसीप्रसाद सिंह

आधुनिक हिन्दी-काव्य के आस्थावान् रहस्यवादी कवियों में हैं। आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं में हुई है। द्वितीय महायुद्ध के विध्वंसक और अन्धकार-पूर्ण वैज्ञानिक युग में, जब कि बहुत से कवि-कौन्तेयों की दृष्टि विश्वात्मदर्शन के तेज से दिग्भ्रान्त हो रही थी, इस पार्थसारथि का 'पाञ्चजन्य' अध्यात्म का जयघोष करने लगा था। कवि का संदिष्ट गीतानुसारी अध्यात्म ही आज के दुःख-द्वन्द्व, ईर्ष्या-कलह आदि को दूर कर सकता है। मानव को अपना वास्तविक आनन्दमय स्वरूप प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्वगामी होना ही चाहिए।

'कलापी' में कवि ने अव्यक्त प्रियतम के प्रति हृदय की रागात्मक प्रतिपत्ति का सरस वर्णन किया है। वर्षा का अभ्र-वेष्टित अम्बर किसी अज्ञात की छवि दिखाकर कवि के मन-मयूर (कलापी) को उन्मत्त कर देता है—

ध्यान किस अलकापरी का कर रहा मुझको विचंचल ?
किस सुहासिनि ने दिया फैला गगन में नील अंचल ?
गिरि-शिखर पर हर्म्य-तल पर स्नेह यह उमड़ा किसी का ;
स्वर्ग से रथ-चक्र निकला कौन सी सुर-सुन्दरी का ?
खुल पड़ा किस सुन्दरी का आज सहसा कृष्ण-कुन्तल ?

कलापी, पृ० ३-४।

उस प्रियतम ने कवि के मन में अनन्त वेदना भर दी है जो कि वसन्त से उद्दीप्त होकर और भी प्रखर हो रही है—

निराशा का नर्तन उद्दाम; व्यथा का रुदन-विलास,
अमुद्रित नयनों में अविराम विरह का रूप उदास।
स्वप्न सा हुआ आज उच्छ्वास, प्रवासी का अज्ञात निवास।

कलापी, पृ० ५८।

अज्ञात की लालसा को मन में धारण किए हुए प्राण-पक्षी अंधकारपूर्ण जीवन-पथ में निरुद्देश्य उड़ता चला जा रहा है—

उड़ चला तो, पर कहाँ जाऊँ कहो उड्डीन होकर?
आ रही संध्या धरा में फैलता जाता अँधेरा।
खो गया किस अन्ध वन में हाय! जीवन-मार्ग मेरा?

कवि ने इसी प्रकार अव्यक्त प्रियतम को लक्ष्य में रखकर प्रेम और सौन्दर्य के मधुर गीत गाए हैं। सौन्दर्य का चित्रण प्रकृति के अत्यन्त रमणीय रूप-विधान का आश्रय लेकर ही, प्रायः, किया गया है। प्रेम के अन्तर्गत वियोग-पक्ष में अनेक परिस्थितियों के द्वारा व्यथा की गंभीर अभिव्यक्ति बड़ी मर्मस्पर्शिता के साथ की गई है।

इसके अतिरिक्त कवि ने आध्यात्मिक क्रान्ति का स्वरूप भी देखा है। चन्द्रिका-निर्मल शर्वरी के रमणीय वातावरण को निष्प्रभ करता हुआ नटराज का अरुण-प्रभा-मण्डित स्वरूप प्रकट होता है जो कि नवयुग के लिए क्रान्ति का द्योतक है।

सहसा यह कैसी ज्वाला प्राची में पड़ी दिखाई,
तम-तोम-महातोयधि में किसने यह आग लगाई?
विकराल ज्वाल जलती है आग्नेय दृगों पर शंकित,
उद्ग्रीव भाल पर जिसके सुस्पष्ट प्रलय है अंकित।

कलापी, पृ० २३।

यह नटराज ध्वंस का प्रेरक है—

खोलो त्रिनयन को अपने फिर एक बार लोलेक्षण।
जिसकी संहार जलन में जल जाए पापी-जीवन,
घूमो, चण्डीश्वर घूमो, निर्भय निर्धूम चिता में।
भर दो निज मादकता कुछ इस कवि की भी कविता में!

कलापी, पृ० २८।

नटराज की इस कल्पना की प्रेरणा 'कामायनी' से अनुप्राणित मानी जा सकती है।

इसी प्रकार 'पाञ्चजन्य' का आध्यात्मिक सन्देश वर्तमान वैषम्य के विरुद्ध मनुष्य को उद्बुद्ध कर रहा है—

तू परम कल्याणमय, चिर शान्ति से अभियुक्त है तू ;
और शत-शत बन्धनों के जाल से उन्मुक्त है तू,
मुक्त है ऐसा कि जैसा व्योम, पारावार।

पांचजन्य, पृ० ४।

परम ज्योति का एक संस्पर्श समस्त अनास्था को हटाकर दिव्यता प्रदान करता है—

छू गई है ज्योति मुझको मोम सा मैं गल रहा हूँ।
एक दिन किरणें पड़ीं सिर पर अचानक जल रहा हूँ।
हाथ पकड़ा है किसी ने और मैं भी चल रहा हूँ।

पांचजन्य, पृ० १२।

लौकिक भेदों से हटकर मानव की मूल एकता है; ऐसे मानव को ऊपर उठना चाहिए—

जाति, रंग, देश से मनुष्य तू विभिन्न है !
ऊपर उठो, ऊपर उठो, क्योंकि तुम इंसान हो
परमात्मा की जान हो
तुम गगन से और भी ऊँचे उठो, वृत्ति पाशव छोड़ दो।

पांचजन्य, पृ० ३६।

इस प्रकार कवि ने रहस्य-भावना को केवल कल्पना की वस्तु न बनाकर लोकहित की ओर मोड़ा है। आरसीप्रसाद सिंह रहस्यवाद के उत्कृष्ट गायक हैं।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

पटना-निवासी कवि प्रभात रहस्यवाद के मधुर और, साथ ही साथ, ओजस्वी गायक हैं। प्रभात ने साहित्य के अन्तर्गत होनेवाले अन्य सामयिक प्रतिवर्तनों में भी रहस्य का मार्ग छोड़ा नहीं है। अव्यक्त के साथ हृदय का मधुर रागात्मक सम्बन्ध प्रकट करनेवाले ललित गीतों के अतिरिक्त आध्यामिक चेतना के मौलिक आधार पर गीति-नाट्य और प्रबन्धात्मक काव्य भी, जैसे कैकेयी, तमगृह, ऋतंवरा प्रभात ने लिखे हैं। स्वर्णोदय, काल-दहन और संवर्त, इनके

गीति-नाट्य हैं। प्रभात की रचनाओं में छायावादी शैली की रमणीय अभिव्यक्ति हुई है। भाषा उनकी परिमार्जित और गीत मधुर गेयता से सम्पन्न हैं।

प्रभात के रहस्यवादी गीत अव्यक्त के प्रति वेदना और आध्यात्मिक चिन्तन को लेकर चले हैं। वह अज्ञात प्रियतम, जिसका आकार कवि नहीं देख सका है, प्राणों में बसकर वेदना उत्पन्न कर रहा है—

प्रिय का आकार न देखा।
पलकों से आकर प्राणों में, छिप जाए जो पाषाणों में,
शीतल चन्दन, हेम ज्वाल भी, ऐसा प्यार न देखा।

चिर-स्पर्श, पृ० १।

प्रिय ने अपना अव्यक्त आभास दिखा दिया है, परन्तु अपना पूरा मर्म नहीं खोला है—

प्रिय को जाना, प्रिय का ढंग न जाना।
प्रिय की प्रियता में लय होकर, उस प्रियत्व में सुधि-बुधि खोकर,
मुग्ध दृगों से कुछ देखा, कुछ जाना, कुछ पहचाना।[1]

उस प्रिय की छवि अत्यन्त रमणीय है और उसका स्वरूप प्रेममय है—

प्रेम-रूप प्रिय, प्रेम बिखेरे, प्लावित, पुलकित हृदय अरे रे!
प्रिय की निर्मल रूप-लहर में
भूल गया उतराना।[2]

कवि का अव्यक्त अपने स्वरूप को माया के अवगुण्ठन में तिरोहित रखता है। उसकी छवि की मदिरा दर्शक के नेत्रों को उन्मत्त बनाए रखती है—

तुम अवगुण्ठन वाले
मेरे नयन तुम्हारे ऊर्मिल छवि-मदिरा के प्याले।
लिए रूप की नव-नव कलियाँ, बनती मधुयामिनी पुतलियाँ।

चिर-स्पर्श, पृ० २७।

प्रभात ने अपने गीति-नाट्यों में आध्यात्मिक क्रान्ति के गीत ओजस्वी वाणी में गाए हैं। संवर्त में विज्ञान-युग के भौतिक जीवन के स्थान पर—जिसमें ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, हिंसा आदि आसुरी वृत्तियों का अकाण्ड-ताण्डव विनाश

१-२. चिर-स्पर्श, पृ० ५।

की भयंकर हुंकार कर रहा है—धर्म, ज्ञान और प्रार्थना (हृदय की कोमल वृत्ति) के आधार पर निर्मित नव-जीवन की प्रतिष्ठा की गई है। कामायनी की तरह कथा-प्रबन्ध, मनोवृत्तियों को रूपक में बाँधकर, निर्मित किया गया है। नव-जीवन का प्रतिपादन दार्शनिक आधार पर किया गया है। नव-युग के दृश्य का वर्णन ज्ञान के मुख से किया जा रहा है—

> यह देख पूर्व का पटल प्रान्त, है लिए खड़ा शाश्वत भविष्य।
> वह रूप देख, वह रंग देख, वह रूप-रंग का मेल देख,
> तम में अनन्त के ज्योतिर्मय युग पर युग का आना, जाना, बनना।
>
> संवर्त, पृ० ७६।

इस प्रकार प्रभात ने आध्यात्मिक चेतना को सर्व-हित-वाद की भूमि पर प्रतिष्ठित किया है।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

'दिनकर' के काव्य का प्रधान स्वर राष्ट्रीयता और क्रान्ति है। नवीन विचार-धारा ने उन्हें प्रभावित किया है। विश्व की वर्तमान यथार्थ समस्याओं पर उन्होंने गंभीर विचार किए हैं और उन विचारों से उनका साहित्य भी प्रभावित हुआ है। आरम्भिक रचनाओं में 'दिनकर' ने प्रेम और व्यथा के भी कुछ गीत गाए हैं जिनमें कवि की वृत्ति कहीं-कहीं रहस्योन्मुखी भी हो गई है।

नदी अपने अज्ञात प्रियतम से मिलने के लिए किसी दूर देश की ओर अभिसारिका बनकर चली जा रही है—

> अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली प्रिय-पंथ, रे कोई बताना जरा।
> किस शूली पै 'मीरा' प्रिया की है सेज इशारों से कोई दिखाना जरा।
> पथ-भूली सी कुंज में राधिका के हित, श्याम! तू वेणु बजाना जरा।
> तुझमें प्रिय खोने को तो आ रही पर तू भी गले से लगाना जरा।
>
> रेणुका, पृ० ४२।

विश्व के कण-कण में फैली हुई कोई अव्यक्त छवि कवि को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है —

> मैं तुझे रोकता हूँ पल-पल, तू और खिंचा सा जाता है।
> मन, जिसे समझता तू सुन्दर, उस जग से कब का नाता है?
> कुछ विस्मृत सा पश्चिम है, क्या जिससे बढ़ता है प्यार?

कण-कण में कौन छिपा अपना जो मुझको रहा पुकार ।

रेणुका, पृ० ६५ ।

जगत् के नीरव प्रशान्त वातावरण में कवि को किसी की मधुर नूपुर-ध्वनि सुनाई पड़ती है और मन में व्यथा का संचार करती है—

नीरव प्रशान्त जग, तिमिर गहन, रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?
किसकी [illegible] ? मौन विश्व में झनक उठा किसका कंकण ?
झिल्ली-स्वन ? संन्ध्या श्याम परी की हृदय-शिराओं का गुंजन ?

रेणुका, पृ० ७० ।

दिनकर ने इसी प्रकार कहीं-कहीं अव्यक्त को प्रकाशित करने की चेष्टा की है ।

हंसकुमार तिवारी

बिहार के हंसकुमार तिवारी ने भी अव्यक्त सत्ता के प्रति हृदय का अनुराग प्रकट करते हुए मधुर गीतों की रचना की है । अव्यक्त की एक सौन्दर्य-किरण कवि के मानस में उतर चुकी है—

खुल गए हृदय के बंद द्वार, पहुँची सहसा किसकी पुकार !
रवि-शशि का मृदु सुखकर सुहास, फूलों की मृदु-मृदु मदिर वास ।
व्याकुल पिक-कुल के कल-गायन, निर्झर का उद्धत वेग, लास !
उन्नत विकास, उज्ज्वल प्रकाश, चिर मूक भाव के सरल भाष ।
रे भीड़ लगा बैठे देखो मेरे प्राणों के आसपास ।
उर के निर्झर को गया झाँक उस नीले नभ का मन उदार ।
खुल गए हृदय के बन्द द्वार ।

रिमझिम, पृ० १७ ।

प्रकृति की सुन्दर विभूतियों में प्रिय की छवि छाई है—

अब तुम फूलों में हँसते हो, रजत चाँदनी में मुसकाते ।
निर्झर में गाते जाते हो, नीरवता नूपुर बजाते ।
अब तक तो तुम ही तुम थे बस, अब भगवान् बने जाते हो ।

अनागत, पृ० २५ ।

उस प्रियतम के विरह में कवि का जीवन बड़ा दयनीय हो रहा है—

हाथ से छूटी किसी की वीणा मैं ।
तार हैं झंकार गुम-सुम सो गई है, पीर है, लाचार थककर सो गई है ।

गगन से टूटा हुआ जैसे सितारा द्वार से ताड़ित किसी के दीन मैं।

अनागत, पृ० २६।

जानकीवल्लभ शास्त्री

बिहार के प्रसिद्ध कवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी अव्यक्त के प्रति व्यापक जिज्ञासा और वेदना के चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किए हैं—

प्यास तुम्हारी कंठ-कंठ में रूप तुम्हारा नयन-नयन में,
प्राण-पतंग श्याम-मद-माते, मँडराते कामना-अनल पर,
ऊर्ध्व श्वास से, लपट उठाते, तुम आ विश्वास अटल कर,
मान भरा बलि-दान व्यर्थ है, उच्च लक्ष्य का पंथ धँसा सा।

कवि-भारती, पृ० ६२३।

गोपालसिंह नेपाली

ने भी राष्ट्रीयता और प्रेम के गीतों के साथ-साथ रहस्य-भावना का प्रकाशन भी, कहीं-कहीं, किया है। नीचे के गीत में आध्यात्मिक ज्योति को जलाने-वाले इस देह-दीपक का सुन्दर रूपक अध्यात्म-पक्ष की ओर मार्मिक और मधुर संकेत कर रहा है—

दीपक जलता रहा रात-भर।
तन का दिया, प्राण की बाती, दीपक जलता रहा रात भर;
दुख की घनी बनी अँधियारी, सुख के टिमटिम दूर सितारे।
उठती रही पीर की बदली, मन के पंछी उड़-उड़ हारे।
बची रही प्रिय की आँखों से मेरी कुटिया एक किनारे।
मिलता रहा स्नेह-रस थोड़ा, दीपक जलता रहा रात भर।

कवि-भारती, पृ० ६१७।

व्यथा से आक्रान्त जीवन स्नेह का कण प्राप्त करके विरहाग्नि की दीपशिखा को प्रज्वलित रखता है।

नगेन्द्र

प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने भी जगत् के दुःख-द्वन्द्वों से अलग होकर, वन्य-प्रकृति की शीतल छाया में अव्यक्त की आभा देखते हुए, प्रेम और सौन्दर्य के मधुर गीत गुनगुनाए हैं। अभीष्ट परम तत्त्व के लिए मन वेदना से

व्याकुल है और अपनी आकुलता को प्रकट करता हुआ प्रिय से एकाकार होने की प्रार्थना करता है—

आज लो हो लें एकाकार !
प्राण ! युगों में आज मिली हैं दो अस्फुट झंकार !
कवि के उर का मधुर भार बन जगूँ कसक सा मैं चिर उन्मन !
तुम भाषा बन आना नूतन।
खोकर निज अस्तित्व बनें पल में कविता सुकुमार !
मैं हो लाल रङ्ग अभिमानी, बिखरूँ बन आँखों का पानी।
तुम रेखा बन आना रानी !
घुलकर एक रङ्ग हो जावें प्रणय-चित्र साकार !
जन्म-मरण का ले चिर बन्धन—अमर बनूँ मैं सत् प्राकृत तन,
अलि ! तुम चित् आत्मा बन आना।
मिलकर हो जावें सत् चित् मानव-संसृति का सार।
आज लो हो लें एकाकार।

वनमाला, पृ० १६।

क्षितिज के उस पार अखिल-आनन्द-दायक, मधुर रहस्यलोक की सत्ता का रमणीय आभास कवि ने देखा है—

क्षितिज पार रंगीन लोक है जहाँ स्वप्न-परियों का विभ्रम,
सुरभि-श्वास के व्यजन डुलाकर हरता मन के सुख-दुख का श्रम।

छन्दमयी, पृ० ८।

विश्वम्भर 'मानव'

प्रेम, प्रकृति तथा वास्तविक जगत् के अनेक यथार्थ विषयों को लेकर प्रभाव-पूर्ण गीत-रचना करनेवाले 'मानव' ने प्रेम को लौकिक आलम्बन पर ही, मुख्यतया, ठहराया है। कहीं-कहीं व्यथा को व्यापकता प्रदान करने के प्रयास में प्रकृति-गत भाव 'अज्ञात' की ओर भी मधुर संकेत कर उठा है, जैसे आतुर मन की प्रतीक्षा का यह भाव—

कौन कह सका क्या पाने को कोमल लहरों में कंपन है।
किससे मिलने को क्या जानें ? दीप-शिखाओं में सिहरन है।
किस आशा से किसे देखते ये उडुगण अपलक चितवन से !
किसके प्राणों से मिलने को मेरे प्राणों में कंपन है ?

अभिलाषा में रे, रवि, शशि, नभ, उडुगण, रज का कण-कण है।
अरे प्रतीक्षा अवलम्बन है, अरे प्रतीक्षा ही जीवन है।
शेफाली, पृ० १७।

सुधीन्द्र

सुधीन्द्र ने भी रहस्य-भावना के मधुर गीत गाए हैं। अव्यक्त ने अपने दिव्य आभास से हृदय में प्रेरणा दी; कवि बदले में अपने गान उसे अर्पित कर रहा है—

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ।
फूँक से तुमने दिए हैं वेणु के ये रन्ध्र से भर,
मृदुलता उसको मिली कोमल तुम्हारे होंठ छूकर।
× × ×
स्वर मुझे तुमने दिया है गान तुमको दे रहा हूँ।[१]

नेत्रों की आतुर पुतलियाँ उसी को खोज रही हैं जिसने अपना दिव्य स्पर्श दिया है—

भाव है, फिर भावना भी, किन्तु एक अभाव तुम हो।
खोज में जिसकी निरन्तर लीन है पुतली अचंचल।[२]

पार्थिवता प्राणों के स्वाभाविक पथ को अवरुद्ध नहीं कर सकती; वे तो परम तत्त्व से मिलेंगे ही—

अमर जीवन को मिटा देंगे नहीं शत-शत मरण ये।
कुंज छायामय बने हैं जब कि पग-पग पर मनोरम।
लग नहीं सकता निमिष भर यह विषम-पथ दीर्घ-दुर्गम।
पथ चिरन्तन को छिपा देंगे नहीं लघु-लघु चरण ये।[३]

कवि का यह अटल विश्वास मन को मिलन-सुख की रमणीय कल्पना से भर रहा है—

शूल पर चल फूल की सुधि छा गई बन तीव्र मन में।
खिल उठी मधु-ऋतु सुरभि-पद चूम तन के विरस बन में।
अमृत-सागर सोख पाएँगे नहीं कुछ गरल-कण ये।

१-२. कवि-भारती, पृ० १९८।
३. ,, १९९।

मिलन-सुख की मधुरिमा से भर गए हैं विकल सपने।
धो लिए मधु से स्मरण ने विष-व्यथा के चिह्न अपने।
मिलन के युग-युग भुला देंगे नहीं कुछ विरह-क्षण ये।
कवि-भारती, पृ० ६६६।

इस प्रकार परम तत्त्व के प्रति मिलन-विरह के दृढ़ विश्वासपूर्ण मधुर गीत गाते हुए मेधावी आलोचक और कवि, सुधीन्द्र, अकाल में ही भौतिक देह-बन्धन को छोड़कर अमरत्व में लीन हो गए।

रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य तथा अन्यान्य विषयों के सरस गायक, 'तरुण' कवि ने प्रभात के शोभा-विस्तार में दिव्य छवि को स्वयं देखा है और दूसरों को देखने की प्रेरणा भी दी है—

ज्योति का मधु-स्रोत फूटा मिट गया सारा अँधेरा।
स्वर्ण सी यह लालिमा रे, क्या नहीं तुझको सुहाती ?
यह मधुर आलोक फूटा, ब्रह्म का सब तेज फूटा।
हिमाचला, पृ० २४।

दिनेशनंदिनी

ने भी अव्यक्त के प्रति प्रेम और विरह के मधुर गीत गाए हैं। विरहाग्नि में चिता की तरह जलती हुई कवयित्री अव्यक्त का आभास देखकर और भी विह्वल हो जाती है—

सखि ! चिता सी जल रही है !
कौन कुन्तल कृष्ण खोले, अधर चुप—पर नयन बोले।
क्षितिज के उस पार वह काली घटा सी घुल रही है।
साँस निशि की रुँध रही है, काल कलिका मुँद रही है।
स्निग्ध मलयज मेघ में, अंचल डुलाकर मल रही है।
सखि ! चिता सी जल रही है ! उन्मादी, पृ० ३।

रामेश्वर एम० ए०

कानपुर के सरस कवि, रामेश्वर ने जगत् की विषमता से खिन्न होकर रहस्य के रमणीय लोक में निवास करनेवाले प्रियतम के प्रति अपने हृदय की व्यथा का सरस निवेदन किया है—

आओ चुपके कण्टक-पथ पर।
जग स्नेह बिन्दु से नहला दो कुछ तो मेरा मन बहला दो।
तम बढ़ता जाता है पल-पल लगता दिनकर भी ज्योति-हीन।
हो चुकी चन्द्र की शक्ति क्षीण, रोती भर आँसू सृष्टि दीन !
अब तो चमको, चमको प्रियवर !
जग को सुप्रकाश रुपहला दो, कुछ तो मेरा मन बहला दो !
जब आँसू गा उठे, पृ० ३६।

इस प्रकार हिन्दी-काव्य की रहस्यवादी धारा में आस्था रखनेवाले अनेकानेक कवि अपने हृदय के भार को अव्यक्त का आश्रय लेकर हल्का करते रहे हैं। आज भी, जब कि रहस्यवाद का युग समाप्त हो गया है, यह धारा नितान्त उच्छिन्न नहीं हुई है। कोई न कोई साधक इसकी ज्योति को बराबर जगाए रहा है।

गद्य-गीत

रहस्यवाद की इस काव्यात्मक धारा के अतिरिक्त 'गीताञ्जलि' के अनुकरण पर रहस्य-सम्बन्धी गद्य-गीत भी कुछ कलाकारों ने लिखे हैं। इन गद्य-गीतों में प्रतीक-योजना द्वारा लाक्षणिक भाषा में अध्यात्म सम्बन्धी अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना हुई है। कुछ प्रमुख गद्य-गीत-लेखकों की रचनाओं का परिचय यहाँ नीचे दिया जा रहा है।

राय कृष्णदास

के गद्य-गीत 'साधना' में संगृहीत हैं। इनमें आध्यात्मिक तत्त्वों की सरस व्यंजना मार्मिक रीति से हुई है। भाषा की चित्रमयता तथा अलंकार-विधान पाश्चात्य प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं। प्रातःकालीन प्रकृति-सौन्दर्य में अव्यक्त का आभास देखकर कवि मोहित हो जाता है—

"प्रातःकाल जब सूर्य अपने राग से कमल-वन को तथा पक्षिगण अपने राग से स्तब्ध प्रकृति को जगाते हैं, तब तुमने भी अपने राग से मेरे हृत्कमल और प्रकृति को जगा-जगाकर मुझे मोह लिया है।" साधना, पृ० १७।

कवि आध्यात्मिक जागृति के दिव्य लोक की कामना कर रहा है—

"× × × जहाँ एकमात्र तुम्हीं मेरे संगी हो, और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुमसे प्रणय करने की शक्ति दे।

जहाँ भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के पहले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूँ।"

साधना, पृ० ६२।

असीम की उपासना की इस अभिव्यक्ति में रहस्यवाद की सम्प्रदाय-सिद्ध प्रणाली व्यवहृत हुई है। परन्तु इसकी पृष्ठभूमि में भारतीय भक्ति-भाव के प्रकार का भावावेश स्वाभाविक अलंकार-विधान के माध्यम से स्थित है।

वियोगी हरि

भी इसी प्रकार ईश्वर के सगुणोपसक भक्त हैं। उन्होंने अपने इष्ट-देव के चरणों में श्रद्धा और प्रेममयी भक्ति के कण अर्पित किए हैं। मन अपने प्रियतम की स्मृति में उन्मत्त हो रहा है—

"यदि मेरा मस्त मन मृग है, तो मैं तुम्हारी स्मृति को कस्तूरी क्यों न कहूँ ?"
भावना, पृ० ७।

प्रकृति के सौन्दर्य-चित्रों में कवि अपने इष्ट के मादक स्वरूप की झलक का मधु संचित करने निकल पड़ा है—

"आज मैं अभी से अपना हृदय-पात्र लिए मधु-संचय करने निकला हूँ।

"सर्वप्रथम उषा के सौरभित समीर की लोल-लहरों के साथ केलि-निरत कुसुम-कलियों का मधु इस पात्र में संचित करूँगा।

"फिर मैं मकरन्द-मत्त मधुप-मण्डल से मिलकर मुस्कुराते हुए गुलाब की चितवन से थोड़ा सा मधु माँगकर इस पात्र में रख लूँगा।

"किसी विप्रलब्धा तन्वी की विरल वीणा पर विषाद की हँसी हँसती हुई स्वर-लहरी में व्याप्त मधु को भी मैं न छोड़ूँगा।" भावना, पृ० ३१।

वियोगी हरि के इन गद्य-गीतों की भाषा अत्यन्त काव्यमयी और अलंकृत है तथा आध्यात्मिकता की रुचिर अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ। इसी प्रकार वियोगी जी के अन्य गीत भी अत्यन्त माधुर्य के साथ आध्यात्मिक तत्त्वों और भक्ति-भाव की सरस व्यंजना करते हैं।

रानी लक्ष्मीकुमारी चूँडावत

राजस्थान की वीरभूमि के राजकुल में जन्म लेनेवाली रानी चूँडावत ने भी आध्यात्मिक तत्त्व और दार्शनिक चिन्तन से ओत-प्रोत सरस गद्य-गीतों की रचना करके अपनी साहित्य-रसिकता का परिचय दिया है। नीचे के गीत में उस परम-तत्त्व का आवाहन किया जा रहा है—

"आओ इस अनुपम महफिल में आओ। तुम्हारे लिए इसके द्वार खुले हैं। सब वाद्य-यंत्र बज रहे हैं। सब की एक ही ध्वनि है। सब गायकों का एक ही संगीत है। छत्तीसों राग-रागिनियों का एक ही सम है।"

अन्तर्ध्वनि, पृ० १७।

अव्यक्त प्रियतम को हृदय-मन्दिर में आने का कातर निमंत्रण इन पंक्तियों में है—

"देव, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो! एक अपावन मन को अपना मन्दिर बना पावन कर दो नाथ! आसन के लिए मैं अपना हृदय बिछा दूँगी। स्नेह का दीपक जला दूँगी। अपने पवित्र प्रकाश से मेरी छोटी सी कुटिया को आलोकित कर दो, देव!" अन्तर्ध्वनि, पृ० ३०।

इसी प्रकार रानी चूँडावत ने अव्यक्त के प्रति हृदय के भावों की व्यंजना और अध्यात्म-तत्त्व का प्रकाशन अपने गद्य-गीतों में किया है।

विश्वंभर 'मानव'

मानव की रहस्यवादी काव्य-रचनाओं का उल्लेख अभी किया जा चुका है। कविता के अतिरिक्त मानव ने गद्य-गीतों की रचना भी की है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मानव मूलतः रहस्यवादी नहीं प्रेमवादी हैं। उनके गद्य-गीतों में भी, अधिकांश, प्रेम की विविध परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं, कवि की विचार-धारा अध्यात्म का स्पर्श करती दिखाई देती है। नीचे के गीत में जीवन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है—

"हमारा जीवन एक रात है—अमा की रात। मेरे-तुम्हारे बीच में दूरी की सरिता बहती है। हम-तुम दो नगरों के दो किनारों पर चकवा-चकवी से जगते हैं।" सोने से पहले, पृ० ६।

जीवन में आध्यात्मिक विरह से उत्पन्न चिरन्तन पीड़ा का ही आधिक्य है। इन पंक्तियों में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है।

कोई अव्यक्त कवि के जीवन में सदा साथ रहकर कवि को प्रेरणा देता रहता है—

"कुछ दिनों से मुझे ऐसा लगता है जैसे कोई छाया-मूर्ति मेरे साथ निरन्तर घूमती रहती है। × × ×

"इस संसार में मुझे भी कोई आदेश देनेवाला है इस अनुभूति से मेरा अभिमान पुलकित हो उठता है, मेरी पलकें गीली हो उठती हैं।"

सोने के पहले, पृ० १७।

बालकृष्ण बलदुवा

'अपने गीत' के नाम से बालकृष्ण बलदुवा के गद्य-गीतों का संग्रह कवि के मानस के भावों को इष्ट-देव के चरणों में अर्पित करता है।

उपासना का पथ नितान्त रमणीय है—

"कितनी ही उमंगें लेकर मैं तेरी ओर चला। मार्ग में नवीन भाव खिलकर अपनी मादक सुरभि से मुझे विभोर करने लगे। इस सुरभि के मनोहर वातावरण में मेरे नेत्र रह-रहकर झपकने लगे। कल्पनोद्यान के रसीले वृक्षों की चमचम करती हरीतिमा बरबस हृदय मुग्ध करने लगी। मैं अपने-आपको उन-पर निछावर कर बैठा।" अपने गीत, पृ० १८।

ईश्वरीय अनुभूति को कवि आचरण में लाना चाहता है और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए उसकी सहायता अपेक्षित है—

"अपनी इस अनुभूति का क्रियात्मक अनुसरण कर सकूँ, मालिक! इसके लिए तू मुझे शक्ति दे। बिना तेरी सहायता के मन का चीत्कार मैं अविचलित भाव से न सुन पाऊँगा। बिना तेरी सहायता के प्रियतम से मैं मन्द स्मित और मीठी बातें पाने की आकाङ्क्षा का मर्दन करने में समर्थ न हो पाऊँगा।"

अपने गीत, पृ० ५६,६०।

× × ×

गद्य-गीतों में रहस्य-भावना का प्रकाशन इसी प्रकार हुआ है। गद्य-गीतों की रचना, परिमाण में काव्य की अपेक्षा कम हुई है। फिर भी, रहस्यवाद-सम्बन्धी काव्य का यह एक महत्त्वपूर्ण भाग है।

सप्तम परिच्छेद

रहस्यवाद का नूतन विकास

आधुनिक हिन्दी-काव्य की रहस्यवादी धारा अपने मार्ग पर चल ही रही थी कि कालचक्र के प्रभाव से ऐसी परिस्थितियाँ सामने आने लगीं जिनके परिणाम-स्वरूप रहस्यवादी काव्य के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया का आरम्भ हो गया। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रहस्यवाद-विरोधी जो विचार-धाराएँ चलीं उनका परिचय अगले परिच्छेद का विवेच्य विषय होगा। विरोधी विचार-धाराओं के प्रभाव-तिमिर का भेदन करके रहस्यवाद ने फिर एक बार परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल रूप-विधान करके विकास का मार्ग ग्रहण किया। रहस्य-वाद के इस नूतन स्वरूप के पुनरुत्थान का श्रेय श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है, और वे अकेले ही उसकी साधना में लगे रहे हैं।

पन्त जी के समस्त काव्य की पृष्ठभूमि दर्शन-शास्त्र के गूढ़ अध्ययन पर आधारित है। उनकी रहस्य-चेतना की जिन दिशाओं का पिछले परिच्छेद में वर्णन किया जा चुका है वे उनकी दार्शनिक चिंतना के फल हैं। गुंजन के उप-रान्त पन्त जी पर मार्क्सवादी चिन्तन-शैली का जो प्रभाव पड़ा उसने उन्हें प्रगतिवाद का सूत्रपात करने की प्रेरणा दी। प्रगतिवाद वास्तव में मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है। प्रगतिशील काव्य रहस्यवादी भावना का विरोधी है।

सन् १९३६ के आसपास प्रगतिवाद का आरम्भ होने के थोड़े समय पश्चात् ही विश्व में द्वितीय-युद्ध छिड़ गया। इस महायुद्ध का एक ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि इसने समस्त विश्व की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन कर दिया। विचार-धाराएँ बदलीं, जीवन के मूल्य बदले, सामाजिक स्तरों में उथल-पुथल हो गई। विज्ञानवाद, भौतिकवाद और अर्थवाद का अकाण्ड-ताण्डव चतुर्दिक् होने लगा। साहित्यिक चेतना ने भी एक बार करवट बदली और प्रगतिवाद के समानान्तर मनोविश्लेषण-वाद से प्रभावित प्रयोगवादी काव्यधारा प्रवाहित हो चली। जिसमें कुण्ठित व्यक्तित्व ने विकास के लिए पंख फड़फड़ाना आरम्भ कर दिया। व्यक्तिवाद और जनवाद की इस पारस्परिक भौतिक स्पर्धा के तिमिर में श्री सुमित्रानन्दन पन्त एक बार फिर आध्यात्मिक आलोक की स्वर्णिम प्रभा का सन्देश सुनाते हुए साहित्य-मंच पर प्रकट हुए।

पन्त जी का यह नूतन अध्यात्म-संदेश रहस्यवाद का नवीन-संस्करण या नूतन विकास है। 'स्वर्ण-धूलि', 'स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा' में पन्त जी ने इस नूतन अध्यात्मवाद की अवतारणा की है। इसका आधार दार्शनिक चिन्तन की समसामयिक प्रगतियाँ हैं। योगिराज अरविंद और विश्वबन्धु महात्मा गान्धी ने आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक जीवन के जिन नवीन पक्षों का प्रतिपादन किया था उन्हीं के आधार पर नूतन अध्यात्मवाद का यह संदेश पन्त जी ने दिया है और आज इसकी आवश्यकता भी है। सामान्य रहस्यवाद में जिस व्यापक, विराट् मानवता की सार्वभौम सार-सत्ता का मधुमय स्वप्न देखा गया है उसकी भावना के अनुरूप ही इस नूतन अध्यात्मवाद में भी, भौतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों के समन्वय के आधार पर, आदर्श नव-युग की कल्पना की गई है। परन्तु इसके अन्दर उपलब्ध होनेवाली नवयुग की कल्पना अधिक वैज्ञानिक, दार्शनिक और ठोस है जब कि सामान्य रहस्यवाद में उपलब्ध होनेवाली सार्व-भौम सत्ता कुछ स्वप्निल और सूक्ष्म है। रहस्यवादी प्रवृत्तियों की एक मुख्य विशेषता भविष्य की मंगलाशा का इसमें पुनर्नवीकरण होने के कारण ही हमने इसे रहस्यवाद का नूतन विकास कहा है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस प्रकार की भावना को रहस्यवाद के अन्तर्गत लिया है।*

पन्त जी की रचनाओं में आध्यात्मिकता की एक चेतना आदि से अन्त तक व्याप्त है। पन्त जी का रहस्यवाद और प्रगतिवाद भी, आध्यात्मिक चेतना की अन्तर्धारा से व्याप्त है। आपाततः मार्क्सवादी भौतिक दृष्टिकोण को अपना-कर भी पन्त जी ने अध्यात्म का परित्याग नहीं किया। रहस्य-लोक से कठोर भूमि और कठोर भूमि से फिर दिव्य लोक की ओर जाती हुई पन्त जी की साहित्यिक प्रगति समन्वय का दृष्टिकोण सामने रखती है।

कठोर वास्तविकता की ओर दृष्टिपात न करनेवाला अध्यात्म अव्यावहारिक है और अध्यात्म से हीन भौतिक दृष्टिकोण तीव्र अशान्ति और विक्षोभ को

---

* आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, भाग २, काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७७।

"इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में……सुख, सौन्दर्य की पूर्णता की भावना बिलकुल आधुनिक है।××× धर्मनीति, राजनीति, व्यापारनीति आदि के कारण मनुष्य-जाति के भीतर फैली हुई विषमता, क्लेश, ताप, अन्याय, अत्याचार इत्यादि के परिहार की भावना और प्रयत्न के साथ आशा उत्साह का संयोग करने के लिए कवियों की वाणी भी अग्रसर हुई।"

उत्पन्न करता है। द्वितीय महायुद्ध इसी का परिणाम है। दोनों के समन्वय द्वारा ही सच्ची कल्याण-परम्परा का प्रवर्तन किया जा सकता है। रहस्यवाद के नूतन विकास में पन्त जी ने ऐसे ही समृद्ध युग का आवाहन किया है।

इस नई चेतना की ओर पन्त जी की दृष्टि 'ज्योत्स्ना'-काल में ही हो गई थी। उन्होंने स्वयं कहा है[1]—

"ज्योत्स्ना की स्वप्न-क्रान्त चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से स्वर्ण-किरण में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गई है।"

> वह स्वर्ण मोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर।
> तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर॥

'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन' काल में देखी हुई उस आध्यात्मिक चेतना का, जिसका संकेत चाँदनी के द्वारा किया गया है, एक चरण 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का भौतिक प्रगतिवाद और दूसरा 'स्वर्ण-किरण' का अध्यात्मवाद है। दोनों चरण एक दूसरे के सापेक्ष हैं—

"'ज्योत्स्ना" में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है 'युग-वाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्ण-किरण' में अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है, किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण और तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं।"[2]

आध्यात्मिक और आधिभौतिक समन्वय की यही भावना सारे संघर्षों का वास्तविक अन्त कर सकती है। और तभी एक स्वर्णिम नवयुग का आगमन हो सकता है। इस तरह का एक सांस्कृतिक आन्दोलन ही—

"चेतना के राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक, आध्यात्मिक—सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।"[3]

पंत जी के इस नवीन जीवन-दर्शन पर मार्क्सवाद, महात्मा गांधी, स्वामी

---

१. उत्तरा की प्रस्तावना, पृ० १।
२. उत्तरा की प्रस्तावना, पृ० २।
३. उत्तरा की प्रस्तावना, पृ० ३।

विवेकानन्द और योगिराज अरविन्द की सम्मिलित उपलब्धियों का प्रभाव है। अन्तश्चेतना और ऊर्ध्वमानव की अवतारणा की सारी प्रक्रिया अरविन्द के सिद्धान्त-मार्ग पर ही आधारित है। मार्क्स ने साम्यवाद के भौतिक संतुलन, महात्मा गांधी ने व्यक्ति के पूर्ण जीवन और स्वामी विवेकानन्द ने पूर्व और पश्चिम की देन के समन्वय की प्रेरणा दी है।

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता,
निश्चय हमको गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की,
साम्य योजना है अविवाद॥
युगवाणी।

अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था,
युग-युग से निःस्पृह निष्प्राण।
उसे प्रतिष्ठित करके जग में,
दिया साम्य ने वस्तु विधान॥
युगवाणी।

महात्मा गांधी की अहिंसा "एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक है जिसे हम मानव-चेतना का नवनीत अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। अणु मृत मानव के पास अहिंसा ही एकमात्र अवलंब तथा संजीवन है।"[1]

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "मैं योरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ।"[2] पन्त जी ने भी इसी आदर्श को अपनाया—

पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो,
विकसित विश्व तन्त्र में वितरित।
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण,
द्रवित भू तमस तिरोहित॥
स्वर्ण-किरण[3]।

योगिराज अरविन्द ने उन्हें विराट् मानव की भव्य कल्पना दी जिसका महत्त्व ऐतिहासिक है। वे कहते हैं[4]—

---

१. उत्तरा की प्रस्तावना, पृ० १३।
२-३. ,, ,, पृ० २२।
४. ,, ,, पृ० १९।

"श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। ××× उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व अतल स्पर्शी व्यक्तित्व जिसके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि-अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला है।"

ऊपर कहा जा चुका है कि इस अध्यात्म-चेतना की उपलब्धि का जो क्रियात्मक पक्ष है वह योगिराज अरविन्द की साधना-प्रक्रिया के अनुसार है। अरविन्द के दर्शन में परमात्म-तत्त्व को 'माँ' के रूप में माना गया है। इस कल्पना का कारण बंगाल में प्रचलित 'शक्ति' की तान्त्रिक उपासना का प्रभाव है। वह 'आदिशक्ति' अनेक रूपों में प्रकट होती है; जैसे - परमा शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, विज्ञानमयी शक्ति, भागवती शक्ति, परा शक्ति आदि। कठोर तपश्चर्या और साधना से जीवन को दिव्य बनाने का प्रयास करते हुए इसी मातृरूपिणी शक्ति का आवाहन करना पड़ता है। जब साधक का चित्त एकदम निर्मल हो जाता है और उसमें श्रद्धा तथा आत्म-समर्पण के भाव भर जाते हैं तभी आवाहित परा शक्ति का आवाहन सफल होता है। समस्त लौकिक वासनाओं का त्याग करके आत्म-समर्पण की भावना को उत्पन्न करना अनिवार्य माना गया है। माँ का रूप अनिर्वचनीय है पर उसमें माहेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का, जो कि ज्ञान, शक्ति, सौन्दर्य और कला की अभिव्यक्ति करती हैं, सम्मिलित रूप है। ये चारों महारूप-चतुष्टय कहलाते हैं। साधक के लिए 'माँ' करुणामयी हैं। जब वे स्वयं ही अपनी दिव्य करुणा की सुधा-धारा से साधक को आप्लावित करती हैं तभी साधक उनका साक्षात्कार कर सकता है, अन्यथा नहीं। वे साधक की ओर अवरोहण (Descend) करती हैं और तब साधक भी, उनकी कृपा से उनकी ओर आरोहण (Ascend) करता है। आरोहण, अवरोहण के इन पारिभाषिक शब्दों का 'ऊर्ध्व संचरण' और 'समतल-संचरण' के रूप में प्रयोग, पन्त जी ने अपनी नई प्रवृत्ति के सिद्धान्त-निरूपण में बहुधा किया है। जीवन की यह दिव्यता कठोर साधना और त्याग से ही प्राप्त होती है। सामान्य दशा में मनुष्य का चैतन्य अविकसित दशा में होता है। धीरे-धीरे साधना द्वारा विकसित होता हुआ चैतन्य अपने में दिव्यता अर्जित करता चलता है और उसे अलौकिक आनन्द का आस्वादन होने लग जाता है। दिव्यता की क्रमिक प्राप्ति, बाहर भीतर सर्वत्र, एक अनिर्वचनीय परिवर्तन का अनुभव कराती है और फिर वह दिव्यता पूर्णतया भूमिष्ठ होकर अपने दिव्य स्पर्श से सब कुछ स्वर्गिक बना देती है। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित 'दिव्य जीवन' (The life divine) यही है। इस

प्रक्रिया में रहस्य-भावना के लिए पर्याप्त अवकाश है। अपनी रचनाओं के तृतीय चरण में पन्त जी ने इसी दर्शन के तत्त्वों की सुन्दर काव्यमयी अभिव्यक्ति की है।

रहस्यवाद की इस उत्तर कालीन साधना में पन्त जी ने पहले से भी अधिक गूढ़, दुर्बोध और दुरूह प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'स्वर्ण' 'स्वर्णिम' 'स्वर्ण-किरण' 'ज्योति' 'ज्योति-विहंग' 'जीवन-प्रभात' 'वसन्त' 'रंग-मंगल' प्रतीकों का प्रयोग दिव्य चेतना के लिए किया गया है। उत्तरा में अनेक गीतों के शीर्षक इस प्रकार हैं जो कि अपनी पारिभाषिकता के कारण अरविन्द की यौगिक प्रक्रिया के अनेक तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं, जैसे युग-विषाद, युग-संघर्ष, नव-मानव, उन्मेष, रूपान्तर, सम्मोहन, हृदय-चेतना, अनुभूति, आवाहन, आभास्पर्श, परिणति, प्रीति-समर्पण, मुक्ति-क्षण, वसन्त आदि। यदि ध्यान से देखें तो जिस प्रकार 'कामायनी' के भिन्न-भिन्न सर्गों के नाम मन के क्रमिक विकास के क्रमिक स्तरों का सोपान सा बना देते हैं, वैसे ही ये शीर्षक भी साधना पक्ष के पूर्वापर क्रम को प्रकट करते हैं। रहस्य-भावना इसमें पर्याप्त है, परन्तु उसका स्वरूप साधनात्मक ही है।

आज चारों ओर विषाद छाया है; मनुष्य नितान्त दुर्दशाग्रस्त है—

चुभते शूल मर्त्य पग लोहित,
चलता जन-जीवन, भू लथपथ।

उत्तरा – युग-विषाद।

इस युग-विषाद से ही ऊर्ध्व-संचरण की प्रेरणा मिलती है। कवि के मन में उस दिव्य विभा की आकुल अभिव्यंजना है—

गीत क्रान्त रे इस युग के कवि का मन।
नव्य चेतना से उसका उर ज्योतित,
मानव के अन्तर्वैभव से विस्मित।

उत्तरा—युग-संघर्ष।

इस नव चेतना से दीप्त अभिनव मानव अग्नि-चक्षु है। पराशक्ति ने उसकी ओर अवरोहण किया है—

ओ अग्निचक्षु अभिनव मानव
नव ऊषा सा स्वर्णाभ वरण, वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण

× × ×

ओ अन्तर्ज्ञान नयन वैभव

भूतम का सागर रहा सिहर जनमन-पुलिनों पर बिखर-बिखर
अब रश्मि-शिखर नाचती लहर।

उत्तरा—नव मानव।

कवि का गीत मानों एक पक्षी है जो भूमि से उड़कर आकाश में जाता है और स्वर्गीय भावों को भूमि पर लाता है।

मैं गीत विहग निज मर्त्य नीड़ से उड़कर,
चेतना गगन में मन के पर फैलाता।
मैं अपने अन्तर का प्रकाश बरसाकर,
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता।
मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में,
जन-जीवन का नित उनको अंग बनाता।
मैं मानव प्रेमी नव भू स्वर्ग बसाकर,
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता।

उत्तरा—गीत-विहग।

दिव्य जीवन में रूपान्तरित होती हुई चेतना मन का अवगुण्ठन हटाकर देखती है कि उच्चता भूमि पर उतर रही है—

खोलो हे मन का अवगुण्ठन
आज शिखर चिर उच्च उच्चतर ज्योति द्रवित ढह रहे धरा पर।
रक्तोज्ज्वल चेतना ज्वार में नव स्वप्नस्थ दिशा क्षण।

उत्तरा—रूपान्तर।

युगों से चले आते हुए हमारे तर्क-प्रपंच ने हमें क्षुद्र ममत्व की भावना में बाँध दिया है और हम न जाने कितने खण्डों में बँट गये हैं। उस दिव्य-भाव के आगमन पर ही सीमाएँ विलीन होंगी—

युग-युग के जितने तर्कवाद,
मानव ममत्व से वे पीड़ित।
तुम आओ; सीमा हो विलीन,
फिर मनुज अहं हो प्रीति-द्रवित।

उत्तरा—आवाहन।

दिव्य ज्योति का स्पर्श हो जाने से दृष्टि में कैसी व्यापकता आ जाती है—

कब खुल गए हृदय के बंधन
अपलक से रह गए विलोचन

भेद-भाव सो गए अचेतन !
मिट-सी गई क्षितिज की रेखा ,
भूल गया मन ने जो देखा।
जगी चेतना की शशि लेखा ,
नव स्वप्नों को सत्य बनाने।

उत्तरा—आभा-स्पर्श ।

आभा का स्पर्श हो जाने पर दिव्य-जीवन-रूपी वसन्त अपनी शोभा का विस्तार करके अनन्त आनन्द की सृष्टि करता है—

फिर वसन्त की आत्मा आई
दीप्त दिशाओं के वातायन
प्रीति साँस सा मलय समीरण
चंचल, नील, नवल भू-यौवन,
आम्र-बौर में गूँथ स्वर्णकण
किंशुक को कर ज्वाल वसन तन।

उत्तरा—वसन्त ।

रहस्यवाद के इस नूतन विकास में पन्त जी की यही प्रगति रही है। पन्त जी के काव्य के इस तृतीय चरण को आलोचकों ने, प्रायः, अधिक अभिनन्दित नहीं किया है। रचनाओं के आरंभिक काल में कवि की जो भावुकता, सौन्दर्य-दृष्टि, मनोरम और सुकुमार कल्पना की बहुलता आदि सुन्दर काव्य-गुण थे वे, प्रगतिशील चरण में, विलीन हो गए। तीसरे चरण में नीरस सूक्ष्मता और वायवीपन ने उसका स्थान ले लिया। परन्तु पन्त जी के काव्य पर कला की इस स्थूल दृष्टि से विचार करना उचित नहीं है। उनके काव्य में एक दार्शनिक विचार-धारा आदि से अन्त तक दिखाई देती है। उनका काव्य-विकास उनके सांस्कृतिक विकास की कहानी है। युग की विषमता की घोर तमिस्रा में पन्त जी नूतन अध्यात्मवाद का दिव्य संदेश लेकर आए हैं और अकेले ही उस स्वर्गीय गान को गाते रहे हैं। कवि का जो एक कार्य युग-निर्माण का होता है उसकी ओर पन्त जी ने ध्यान दिया है।

हाँ, दार्शनिकता के प्राधान्य के कारण उनके काव्य में, इधर, दुरूहता की मात्रा कुछ अधिक बढ़ गई है। पाश्चात्य दर्शन और मनोविज्ञान तथा अरविन्द-दर्शन के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी रूप पन्त जी ने, अपने बनाए हुए, प्रयोग

किए हैं जिनका सर्वसम्मत प्रचलन अभी नहीं है। परन्तु आवश्यकता के अनुसार नूतन शब्द-निर्माण करके उनके प्रचलन का सूत्रपात तो करना ही पड़ता है।

सन् १९३६ के बाद रहस्यवाद की क्षीयमाण काव्यधारा को रुद्ध करने के लिए अनेक नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लग गई थीं जिनका विस्तृत परिचय अगले परिच्छेद में दिया जायगा। पन्त जी ने अपने नवीन समन्वयवाद को अपनाकर रहस्यवाद को सामयिक परिधान दिया है और अरविन्द-दर्शन के सहारे एक बार फिर उसे जाग्रत करने की चेष्टा की है। अरविन्द-दर्शन एक क्लिष्ट चिन्तन-पद्धति है और इसका प्रचार प्रभाव-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। इसके अतिरिक्त विपरीत भौतिक शक्तियों की वर्तमान घोर प्रबलता में यह नया घोष कितना प्रचार पा सकेगा इसमें सन्देह है।

— — —

अष्टम परिच्छेद

रहस्यवाद की शक्ति, सीमा, ह्रास और भविष्य

किया गया है, उस प्रकार इससे पूर्व नहीं। जिज्ञासा, उत्सुकता, उत्कण्ठा के भाव में व्यापकता और तीव्रता दोनों ही अधिक हैं। प्रतिदिन बढ़ते हुए विज्ञान ने हमारे ज्ञान-प्रसार की परिधि को जितना बढ़ा दिया है और जितने नए-नए तथ्यों का उद्घाटन आज कर दिया है उसका परिष्कार आज की रहस्यवादी दृष्टि में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्रकृति के अनन्त-वैभव के प्रति जितना कौतूहल वैदिक काल में था आज उससे कहीं अधिक है क्योंकि आज के मानव के सामने प्रकृति के अनेक विस्मयकारी तथ्य सामने आ चुके हैं। प्रकृति में आज जिस प्रकार की चेतना की प्रतिष्ठा की गई है ऐसी पहले नहीं हो सकी थी। अथर्व के 'स्कम्भ-सूक्त' में नदी पर जिस अज्ञात की अभिलाषा का आरोप किया गया था उसी अभिलाषा को प्रसाद जी ने अधिक सूक्ष्मता से प्रकट किया है—

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

अथर्व०, १०।८।४।

"जिसकी इच्छा करती हुई नदियाँ चली जा रही हैं बताओ वह आश्रय कौन सा है?"

प्रसाद ने इसमें मानों प्राण-प्रतिष्ठा कर दी—

"विश्राम माँगती अपना जिसका देखा था सपना।"

प्रसाद—लहर, पृ० १६।

प्राण-प्रतिष्ठा का यह कार्य पन्त ने सबसे अधिक किया है।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आज जिस विराट् मानव की कल्पना की है वह उपनिषदों के विराट् तत्त्व की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और ओजःपूर्ण[1] रूप में प्रतिष्ठित हुआ है; और सर्ववाद की भावना के अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार आज के रहस्यवाद ने वैज्ञानिक युग की बौद्धिक उपलब्धियों के कारण अपनी दृष्टि में अधिक सूक्ष्मता और गम्भीर संवेदनशीलता प्राप्त कर ली है।

आधुनिक रहस्यवाद में भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का बड़ा सुन्दर विकास हुआ है। इसकी, इस दृष्टि से प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल जी कहते हैं—

"इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"[2]

---

१. **'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'—नामवर सिंह, पृ० ५३।**

२. **'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ५७०।**

भाषा की भाव-प्रकाशन की क्षमता के साथ ही साथ गीति-पद्धति का भी अत्यन्त सुन्दर विकास इस काव्य में हुआ। मानस की विविध भावानुभूतियों की जैसी सुन्दर गीतात्मक विवृति इस काव्य के अन्दर हुई वैसी विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा आदि के पदों में भी नहीं मिलती है। इस काव्यधारा में प्रेम और सौन्दर्य की भावना की भी जैसी मार्मिक, सूक्ष्म और व्यापक अभिव्यक्ति हुई है वैसी पहले कभी नहीं हुई।

इस रहस्यवाद में इन विशेषताओं के साथ ही साथ कुछ सीमाएँ भी परिलक्षित होती हैं। आज के रहस्यवाद में रहस्य-भावना के स्वाभाविक रूप की अपेक्षा उसके वादग्रस्त या साम्प्रदायिक रूप की उपलब्धि अधिक होती है जिसपर अंग्रेजी और बँगला का पर्याप्त प्रभाव है। श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने वस्तु-वर्णन के बीच जिस स्वाभाविक और मधुर रहस्य-भावना का दर्शन किया उसके स्थान पर सामान्य रहस्यवादी कवियों की रहस्य-भावना लोक से नितान्त असम्बद्ध और दूरारूढ़ कल्पना के आधार पर चलती है। निर्गुण पन्थ के सन्तों और प्रेम-मार्गी सूफियों ने कठोर तपश्चरण, त्याग और साधना के द्वारा जिन अनुभूतियों को प्राप्त किया था उन्हें केवल अनुभूति की कल्पना से ही इधर आकर उपलब्ध किया गया। फल-स्वरूप बहुत से कवि, रहस्यवादी बनने की धुन में—

"रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमती कल्पना को ही साध्य मानकर चले।"[1]

इस कारण काव्य का प्रसार प्रेममय उद्गारों से आगे नहीं बढ़ पाया। साथ ही—

"हृत्तंत्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, प्रियतम का दबे-पाँव आना, आँखमिचौनी, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी सामान भी इकट्ठे किए गए।"[2]

आज का रहस्यवाद इन्हीं वादग्रस्त या साम्प्रदायिक रूढ़ियों के कारण अस्वाभाविक और आपत्तिजनक हो गया है। लाक्षणिकता और प्रतीक के जो प्रयोग आज के रहस्यवादी काव्य में मिलते हैं उनमें से अधिकांश हिन्दी-भाषा की स्वाभाविक प्रकृति और भारतीय परिस्थितियों की परख करके नहीं रक्खे गए हैं।[3] इस कारण अभिव्यक्ति में बड़ी दुरूहता, दुर्बोधता, अस्पष्टता और जटिलता

१, २. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५६७।
३. इस विषय का विवरण तीसरे परिच्छेद में दिया जा चुका है।

आ गई है। अभिव्यंजना की यह विशेषता क्रोशे के 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से उत्पन्न हुई है जो कि केवल उक्ति-वैचित्र्य को ही साध्य मानकर चलता है।

रहस्यवाद में प्रेम और सौन्दर्य की जो सूक्ष्म प्रतिष्ठा की गई उसमें भी अधिकांश आध्यात्मिक प्रेम के परदे में लौकिक प्रेम ही मिलता है।[1] आध्यात्मिक प्रेम और सौंदर्य के बनावटी लेबिल के साथ लौकिक वासना की विवृत्ति की चाल इतनी अधिक चल पड़ी कि उसके परिणाम-स्वरूप कवियों के सम्बन्ध में चरित्र-सम्बन्धी अनेक प्रकार के अपवाद लोक में प्रचलित हो गए। इसी कारण रहस्यवाद में चित्रित प्रेम और सौन्दर्य के आन्तरिक कारणों की खोज कवियों के मानसिक क्षेत्र में की जाने लगी।

रहस्यवादी काव्य कलावाद के लोक-बाह्य आदर्श को सामने रखता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति लोक से अलग होकर किसी अज्ञात देश में आनन्द की कल्पना में लीन रहती है। लोक की वर्तमान विषमता से संघर्ष की भावना उसमें नहीं है। यथार्थ के वास्तविक कठोर सत्य से भागकर रहस्यमय लोक में पलायन की प्रवृत्ति जो रहस्यवाद में दृष्टिगोचर होती है वह युग की परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल नहीं बैठती है। यद्यपि प्रसाद, पन्त, उदयशंकर भट्ट, प्रभात आदि कवियों ने इसी लोक में फैले हुए वैषम्य और वस्तुवाद के निराकरण के लिए आध्यात्मिक चेतना की अवतारणा का सन्देश दिया है परन्तु वह रहस्यवादी परिधान के कारण अस्पष्ट, धूमिल और काल्पनिक ही रहा। लोक-संग्रह की भावना उसमें स्पष्ट रूप में मुखरित नहीं हो सकी और 'पलायनवादिता' के दोष का प्रत्याख्यान उससे नहीं हो सका। इसी कारण लग, धीरे-धीरे, रहस्यवाद की ओर से विमुख होने लगे। पन्त और डा० रामकुमार वर्मा जैसे रहस्यवादी कवि आगे चलकर प्रगतिवाद की ओर झुक गए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रहस्यवाद ने पुरानी रूढ़ियों में दबे हुए 'अहं' का उद्धार करके व्यक्ति को आत्म-प्रसार का क्षेत्र दिखाया। किन्तु रहस्यवाद की यह अहंपरायणता धीरे-धीरे इतनी विषम हो गई कि विरोधी कोटियों के समन्वय की भावना इसमें नहीं रह गई। योरोप के काव्य क्षेत्र में जो रोमांसवादी काव्यधारा चली उसके भीतर लोक-सापेक्ष दृष्टि के स्थान पर जो लोक-निरपेक्ष व्यक्तिवाद[2] चला हिन्दी की आधुनिक छायावादी काव्यधारा पर इसका

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५६८।

२. 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद'—चिन्तामणि, भाग, १ आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल।

पूरा प्रभाव पड़ा और उस युग के रहस्यवादी कवियों ने भी इस प्रवृत्ति को बहुत अधिक अंगीकृत किया। साहित्य में वैयक्तिकता का अतिमात्र विस्तार काव्य के चिरन्तन स्वरूप के मेल में नहीं आता। अतः यह व्यक्तिवाद भी धीरे-धीरे आपत्तिजनक प्रतीत होने लगा। पाश्चात्य देशों से आनेवाले नवीन समाजवादी दृष्टिकोण में तो इसके लिये स्थान ही नहीं था।

संसार की प्रत्येक वस्तु अच्छे और बुरे दोनों पक्ष रखती है। इसी प्रकार रहस्यवाद में भी गौरव और लाघव के दोनों पक्ष हैं। रहस्यवाद ने एक सीमा तक तो युग की आवश्यकताओं की पूर्ति की। परन्तु शीघ्र ही रहस्यवाद के प्रतिकूल पड़नेवाली परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगीं जिन्होंने रहस्यवादी काव्यधारा को अत्यन्त क्षीण कर दिया।

विज्ञान की बढ़ती हुई शक्तियों ने विश्व के दूरवर्ती प्रदेशों को समीप ला दिया है। विश्व के किसी एक कोने में होनेवाली हलचल सारे विश्व में प्रतिक्रियात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है। आधुनिक युग की वैज्ञानिक उन्नति और दार्शनिक विचार-परम्परा का केन्द्र पश्चिम में रहा है। भारतीय जन-जीवन के विविध पक्षों पर भी पाश्चात्य प्रभाव बराबर पड़ते रहे हैं। हिन्दी के २० वीं शताब्दी के साहित्य ने पश्चिमी आदर्शों को बहुत अधिक अपनाया है। २० वीं शताब्दी के आरम्भ से ही हिन्दी में छायावादी और रहस्यवादी जो काव्यधाराएँ चलीं, अगले २०, ३० वर्षों में उनकी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई। मार्क्सवादी विचार और मनोविश्लेषणवादी विचार-धाराओं का प्रभाव इस प्रतिक्रिया को लेकर आया।

आधुनिक विचार-धारा में राजनीति को भी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया जाता है। राजनीतिक परिस्थितियाँ व्यक्ति की लोक-सापेक्ष सत्ता को पूर्णतया प्रभावित करती हैं। राजनीति में केवल मात्र शासन-व्यवस्था की धारणा ही अब नहीं है; अपितु मनुष्य के बहुविधि सांस्कृतिक योगक्षेमों का समावेश उसमें प्रमुख रूप में रहता है। योरोप में धीरे-धीरे पुरानी सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह की तीव्र भावना लेकर मार्क्सवाद उठ खड़ा हुआ। मार्क्सवाद के साम्यवादी-समाजवादी आदर्शों का एकतंत्रवाद, जनतन्त्रवाद, फासिज्म और नाजिज्म से घोर विरोध रहा। ये नवीन राजनीतिक चेतनाएँ धीरे-धीरे समस्त विश्व में व्याप्त हो गईं। शोषित और दलित मानवता का पूँजीवाद से उद्धार करने की प्रमुख भावना के कारण मार्क्सवाद में कुछ आकर्षण अधिक था। रूस में मार्क्सवाद को जो व्यावहारिक रूप मिला, वहाँ के निम्न-वर्ग को उससे जो त्राण मिला और इसके फल-स्वरूप सारा देश उन्नति के मार्ग पर जो उन-

गति से चल पड़ा उससे दूसरे देशों में भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों ने आदर पाया। यद्यपि रूस के अतिरिक्त और किसी देश में मार्क्सवाद को प्रचलित होने में आरम्भ में सफलता नहीं मिली, फिर भी अन्य देशों में इस चेतना ने प्रबुद्ध वर्ग को पर्याप्त प्रभावित किया। द्वितीय महायुद्ध के परिणाम स्वरूप राजनीतिक गुटबन्दियों के कारण आज तो कई अन्य देश भी रूस के उपजीवी बन गए हैं।

आज का युग विज्ञान और अर्थ का युग है। विश्व में जो आर्थिक विषमता परम्परा से चलती आई है और जिसके परिणाम पूँजीपतियों और श्रमिकों के वर्ग बन गए हैं उस व्यवस्था को मार्क्सवाद ने नितान्त अमान्य, अनुपयोगी और अनर्थकरी घोषित कर दिया। वैज्ञानिक साधनों से जितनी सम्पत्ति प्राप्त हो रही है उसका सम वितरण होना चाहिए। धर्म और ईश्वर के लिए इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है; क्योंकि एक तो इनके नाम पर संसार में सदा घोर अनर्थ होते रहे हैं और दूसरे आनन्द और सुख की वह समस्त कल्पना जो स्थूल भौतिक जीवन के क्षेत्र से बाहर जाती है नितान्त अनुपयोगी है। ऐसी वायवी बातों के लिए इस व्यवस्था में स्थान नहीं है। धर्म, दर्शन, समाज, परिवार, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि विषयों से सम्बद्ध पुरानी मर्यादाओं के दिन अब समाप्त हो गए। जीवन के इन विविध पक्षों में मार्क्सवादी विचार-धारा ने नए आदर्शों की स्थापना की।

मार्क्सवाद ने साहित्य के क्षेत्र में भी क्रान्ति की अवतारणा की। यह स्पष्ट कहा गया कि कलाकारों को भी कला के माध्यम से इन आदर्शों के प्रचार में जुट जाना चाहिए। फलतः रूस में मार्क्सवादी साहित्य का निर्माण होने लगा। गोर्की, आडेन और उसके सहयोगी, तथा अन्य रूसी और अंग्रेजी कवि और लेखक नई चेतना से दीप्त साहित्य को लेकर आगे बढ़े। साहित्य-क्षेत्र में इन लेखकों का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। देश-विदेश में अनेकानेक कलाकार कला के क्षेत्र में नई चेतना की अवतारणा के कार्य में जुट गए।

सन् १९२७ में भारतवर्ष में भी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। इधर फासिज्म का जो प्रभाव कुछ अधिक बढ़ने लग गया था उसके प्रति विरोध प्रकट करने तथा प्रगतिशील विचार-धारा के प्रति सहानुभूति-प्रकाशन के लिए सन् १९३५ में प्रगतिशील साहित्यिकों का एक सम्मेलन पेरिस में हुआ जिसकी अध्यक्षता ई० एम० फार्सटर ने की। इसी वर्ष मुल्कराज आनन्द के परिश्रम से भारतीय प्रगतिशील लेखकों का एक संघटन बना और उसका प्रथम अधिवेशन लन्दन में हुआ। सन् १९३६ में भारतवर्ष में भी प्रगतिशील साहित्यकारों की एक बड़ी सभा लखनऊ में मुं० प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता में हुई। अब हिन्दी-साहित्य में भी प्रगतिशील विचार-धारा का प्रवेश हुआ।

प्रगतिशील विचार-धारा ने साहित्य के पुराने मानों में परिवर्तन कर दिया। सभी बातों की परख समाजवादी-साम्यवादी दृष्टिकोण से की जाने लगी। आलोचकों की दृष्टि भी परिवर्तित हो गई। कला का उद्देश्य शोषित-वर्ग द्वारा छेड़े गए युद्ध में सहायता[1] देना और सामाजिक चेतना उत्पन्न करना समझा जाने लगा।[2]

इस नई चेतना का ऐसा आकर्षण हुआ कि रहस्यवाद, छायावाद के क्षेत्रों को छोड़कर कविजन इधर आने लगे। सर्वप्रथम श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रगतिवाद का सूत्रपात किया। वीणा, ग्रन्थि, पल्लव और गुंजन की सुकुमार कल्पना वाला छायावादी रहस्यवादी कवि, प्रकृति की शान्त, एकान्त, शीतल छाया के मधुर कल्पना-लोक से कठोर भूमि पर उतर आया और युगवाणी, युगान्त तथा ग्राम्या में विश्व की कठोर वास्तविकता का आख्यान करने लग गया। निराला जी भी अध्यात्म के रहस्यलोक से उतरकर 'इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़नेवाली श्रमिक नारी' के प्रति सहानुभूति प्रकट करने लग गए। डा० रामकुमार वर्मा ने तो रहस्यवाद के समस्त मनोरम उपकरणों को व्यर्थ बताते हुए कहा—

क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ' मधुमय संगीत।
मलयानिल की उछ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत॥
कनक-रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण।
रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण॥
होगा क्या बनवाकर कविते! तुहिन-बिन्दु की निर्मल माल।
विस्मृत के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल॥

सरस्वती सन् १९३६, भाग ३७, सं० ३।

प्रगतिवाद में वास्तविक जीवन के जिस नग्न सत्य का दृश्य रहता है उसका अधिक अपलाप नहीं किया जा सकता था। सन् १९४२ के बंगाल के भीषण दुर्भिक्ष ने महादेवी वर्मा को भी इस प्रकार सोचने के लिए विवश कर दिया—

"दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखन-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।"[3]

---

१. "Art an instrument in the class-struggle, must be developed by the proletariat as one of its weapons."
—'Proletarian literature in the U. S'.—J. Freeman.

२. "Literature is an instrument of social influence."
—'A Note on Literary Criticism.'—J. T. Fanel, P. 137.

३. **बंग दर्शन (प्रयाग महिला विद्यापीठ), प्रथम संस्करण: पृ० ७।**

मार्क्सवाद में कला का ग्रहण जनता की वस्तु के रूप में किया गय ।[1] कवि अपने 'अहं' की रहस्यमयी गुफा से बाहर निकलकर 'पुण्य-प्रसू धरित्री'[2] पर आकर 'स्वर्गिक भू और मानव'[3] को देखने लगे। मानवता की अपरिमित शक्ति में विश्वास जम चला। यद्यपि रहस्यवाद में भी विश्व-मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गई थी, परन्तु वह वायवी और काल्पनिक मात्र था। रूस में जन-शक्ति का चमत्कार देखा जा चुका था। अतः प्रगतिवाद का सर्वजनवाद यथार्थ, लौकिक और व्यावहारिक होकर प्रतिष्ठित हुआ। अतः अब कवियों ने रहस्य-लोक की बातें छोड़कर समाज के दीन, हीन, दलित और शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने और उनकी दशा को सुधारने के लिए काव्य में उनके चित्र अंकित करने आरम्भ कर दिए। युगों के अत्याचार और स्वार्थमय उपेक्षा की मूक प्रतीक नारी के लुप्त गौरव का पुनरुत्थान होने लगा। पूँजीवाद का विरोध होने लगा। युग की बौद्धिकता, ईश्वर और धर्म को ग्रहण न कर सकने के कारण, नास्तिक हो गई। रूस के अनुकरण पर कविजन व्यापक क्रान्ति का गीत गाने लगे। पन्त, निराला, अंचल, नरेंद्र शर्मा, दिनकर, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन तथा छोटे-बड़े अन्य अनेक कवि प्रगतिशील काव्य के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का विस्तार करने लगे। ऐसी दशा में पुराने रहस्यवाद और छायावाद के लिए किसी प्रकार का भी अवकाश नहीं रह गया।

२०वीं शताब्दी के चौथे शतक के आरम्भ होते-होते एक और प्रवृत्ति चली जिसमें वैयक्तिकता तो रही परन्तु छायावाद-रहस्यवाद के प्रति तीव्र विद्रोह था। यह प्रवृत्ति 'मनोविश्लेषणवाद' की थी जो कि फ्रायड के काम-विज्ञान के आधार पर प्रचलित हुई थी। फ्रायड ने मानव-चेतना का एक बहुत प्रमुख घटक यौन-वासना को माना है। यहाँ तक कि, बालक-बालिकाओं के जीवन में भी अज्ञात प्रेरणा इसी से मिलती है। मनुष्य अपनी समस्त यौन वासनाओं की पूर्ति सामाजिक व्यवस्था के भय से नहीं कर पाता है। वे अतृप्त काम-वासनाएँ हमारे अचेतन या अवचेतन (Unconscious or Subconscious) मन में, जो चेतन-मन से बहुत अधिक बड़ा है, पड़ी रहती हैं और स्वप्न अथवा अनेक अकल्पनीय हेतु वाली आकस्मिक क्रियाओं द्वारा अपना उद्गार और

---

१. Literature and Marxism—Angel Floves, P. 10.

२-३. युगवाणी (प्रथम संस्करण)—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १९।

पूर्ति किया करती हैं। मनोदेश में इन अनेक कुण्ठाओं का संघात बहुत-सी विकृतियों को उत्पन्न कर देता है। उन विकृतियों का उपचार मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) की प्रक्रिया द्वारा हो सकता है। इसमें विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति को पूर्ण विश्राम की विश्रब्ध स्थिति में बैठाकर मन में उठनेवाले विचारों को यथातथ्य प्रकट करने को कहा जाता है। ये विचार अस्त व्यस्थ और विशृंखल होते हैं। तारतम्य के अभाव में इन्हें निःसंग— (Free association) कहा जाता है।

इधर आकर योरोपीय साहित्य में फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव पड़ा। डी० एच० लारेन्स, टी० एस० इलियट, वर्जिनियाँ वुल्फ, शा आदि कवियों ने अपने काव्य में इस विचार-धारा को पर्याप्त आश्रय दिया। हिन्दी की नई कविता इन कवियों से बहुत अधिक प्रभावित है। इसमें मार्क्स के जनवाद और कल्पना बहुल प्रकृतिवाद और परोक्षवाद का विरोध है। आज विश्व में ऐसी अनेक कुण्ठाएँ (सांस्कृतिक, आर्थिक आदि) हैं जो व्यक्ति के उन्मुक्त विकास और पूर्णता को बुरी तरह उपरुद्ध किए हुए हैं। कुण्ठित चैतन्य की गूढ़ ग्रंथियों को मनोविश्लेषण प्रणाली से खोलना चाहिए। हिन्दी की नई कविता पर इस विचार-धारा का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। अज्ञेय इस नए परिवर्तन के अग्रदूत हैं। इस काव्य में काम-वासनाओं को अपने मौलिक नग्न-रूप में, विचरण करने का पूरा अवसर मिला है। पुरुष और नारी के पारस्परिक सम्बन्धों का मूल, बीज-रूप में निहित यौन-वासना, ही है। पुरुष और नारी, सारे पुनीत सम्बन्धों से निःसंग होकर, यौन-भाव के, मानों, दो पक्ष हैं जिनमें परस्परापेक्षी पूरक-भाव के स्थान पर आत्म-तुष्टि की स्पर्धा है। नई कविता इसी प्रकार यौन-भावनाओं का मूल-चित्रण अनेक प्रकार से करती है। सामाजिक कुण्ठाओं में फँसे हुए व्यक्ति के निर्बन्ध विकास की भावना के कारण काव्य में वैयक्तिकता का उदय फिर एक बार हुआ। रहस्यवादी काव्य के 'अहं' ने कल्पनालोक में आनन्द की काल्पनिक प्रतिष्ठा की। परन्तु इधर का 'अहं' इस लोक में ही स्वतंत्र विकास और सन्तोष-सान्त्वना चाहता है। इस काव्य में 'फ्री एसोसिएशन' की तरह असंबद्ध और असंयत रूप में भावों और विचारों का प्रकाशन होने लगा। सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता रहस्यवाद से भी अधिक आ गई। इसके संकेत अधिक गहरे तथा प्रतीक यौन-भाव को प्रकट करनेवाली आसपास की वस्तुएँ ही हैं।

इस नई काव्य-धारा में भी रहस्यवादी काव्य के अनुकूल वातावरण नहीं है। कल्पना और परोक्ष की बातें करने का यह युग नहीं है। अब रहस्यवादी

काव्य का युग समाप्त हो गया है। परन्तु, जैसा कि नियम है, कोई काव्यधारा कभी सर्वथा नष्ट नहीं होती है। अतः कुछ मूक साधक अपनी एकान्त साधना में अब भी लगे हुए हैं। परन्तु आगे चलकर रहस्यवादी काव्य की क्या प्रगति होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। वर्तमान परिस्थितियों को देखकर तो यही कहना पड़ता है कि रहस्य-भावना का भविष्य अन्धकारमय है। विज्ञान के आणविक चरण विश्व में द्रुत गति से बढ़ रहे हैं। पन्त ने मनुष्य की जिस 'मंगलशशिलोलुपता' की कल्पना की थी उसके अवितथ होने में अब देर नहीं है। अन्तर्नक्षत्र-यात्रा का सूत्रपात रूस और अमेरिका के स्पुटनिकों द्वारा हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी-वर्ष (International Geo-Physical Year) की योजना के अन्तर्गत विश्व की सम्मिलित शक्तियाँ जल, स्थल, मारुत और व्योम के गूढ़ दुर्गम रहस्यों पर आक्रमण करने निकल पड़ी हैं। भूमि और अन्तरिक्ष के ऊपर आयोजित ये अभियान हमारी वैज्ञानिक शक्ति को कहाँ तक बढ़ावेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता। सांस्कृतिक क्षेत्र में साम्यवादी-समाजवादी विचार-धारा की प्रबलता बढ़ती चली जा रही है; दृष्टि स्थूल और भौतिक होती जा रही है। आज की बौद्धिकता ने धर्म, ईश्वर और आध्यात्मिकता का निर्वासन कर दिया है। ऐसी दशा में रहस्यवाद के पनपने का कोई आभास नहीं दिखाई देता।

परन्तु, इतना होते हुए भी, यह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि बुद्धि और श्रद्धा का आवर्त-प्रत्यावर्त शाश्वत है। पिछले युगों की तरह, अवश्य ही, आगे भी, चाहे देर में हो, बुद्धिवाद और विज्ञानवाद जब हमारा दम घोंटने लगेंगे श्रद्धा, आस्था और आस्तिकता ही हमें शान्ति के मार्ग पर लगावेंगी। व्यक्तिगत जीवन में भी, बहुधा, यह देखा जाता है कि अत्यन्त कठोर-कर्मा और नास्तिक व्यक्ति भी, जीवन के अपराह्न में, श्रद्धा, भक्ति और ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव करने लग जाते हैं। यही बात समष्टि के लिए भी कही जा सकती है। फिर, कौन जाने, यह जो हमारी अन्तर्नक्षत्रीय छेड़छाड़ है किस समय किस प्रकार की प्रकृति-गत प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर दे और उससे महान् अनर्थ-परम्परा उत्पन्न हो जाय। अतः हमारा अपना विश्वास है कि कभी न कभी अवश्य ही भौतिकता के दुर्भेद्य अन्धकार के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके अध्यात्म का दिव्य आलोक फैलेगा। भवभूति की तरह हम भी आशावादी हैं कि काल निरवधिक है तथा धरित्री बहुत बड़ी—

"कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला धरित्री"।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

आलोचना, निबन्ध, इतिहास आदि

डा० श्री नामवर सिंह — आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
रामकृष्ण शुक्ल — आलोचना-समुच्चय
डा० नगेन्द्र — आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ
डा० शिवनाथ — आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
डा० कमलाकान्त पाठक — आधुनिक हिन्दी-काव्य
श्री परशुराम चतुर्वेदी — उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा
श्री जयशंकर प्रसाद — काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
डा० गोविन्द त्रिगुणायत — कबीर की विचार-धारा
आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल — चिन्तामणि भाग १ तथा २
श्री क्षेमेन्द्र — छायावाद के गौरव-चिह्न
डा० शंभूनाथ सिंह — छायावाद-युग
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी — जयशंकर प्रसाद
श्री चन्द्रबली पाण्डेय — तसव्वुफ और सूफी मत
श्री बरुआ — निराला अभिनन्दन-ग्रंथ
डा० रामविलास शर्मा — निराला
श्री यशपाल — पंत का काव्य और युग
डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर — प्राचीन साहित्य
डा० हिकमत — फारसी साहित्य की रूपरेखा
श्री बलदेव उपाध्याय — भारतीय दर्शन
डा० मुंशीराम शर्मा — भारतीय साधना और सूर-साहित्य
श्री गंगाधर मिश्र — भारतीय काव्य में छायावाद
श्री विश्वम्भर 'मानव' — महादेवी की रहस्य-भावना
श्रीमती महादेवी वर्मा — महादेवी का विवेचनात्मक गद्य
श्रीमती शचीरानी गुर्टू — महादेवी वर्मा
श्री बलदेव उपाध्याय — वैदिक साहित्य और संस्कृति
श्री गुलाबराय — रहस्यवाद और हिन्दी-कविता
श्री डा० प्रेमनारायण टण्डन — रहस्यवाद और हिन्दी-कविता

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप
डा० भगवतीप्रसाद सिंह—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय
डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा—रोमांसवादी साहित्य-शास्त्र
डा० रामकुमार वर्मा—साहित्य-समालोचना
विश्वम्भर 'मानव'—सुमित्रानन्दन पंत
श्री धर्मवीर भारती—सिद्ध-साहित्य
आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास, हिन्दी-साहित्य का इतिहास
शान्तिप्रिय द्विवेदी—संचारिणी
डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा—हिन्दी-काव्य पर आँग्ल-प्रभाव
डा० सुधीन्द्र—हिन्दी-कविता का क्रान्तियुग
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य : २०वीं शताब्दी
श्री शिवनन्दनप्रसाद—हिन्दी-साहित्य—प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ
श्री दीनानाथशरण—हिन्दी-काव्य में छायावाद
श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—रस, साहित्य और समीक्षाएँ, हिन्दी और उसके साहित्य का विकास।

काव्य आदि मूल ग्रन्थ

संस्कृत-ग्रन्थ

अथर्व वेद, अमर कोष, ईशावास्योपनिषद्, ऋग्वेद, कठोपनिषद्, गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, मालती-माधव, भावानुगत-तत्त्व-सिद्धि, वाजसनेय संहिता, रघुवंशमहाकाव्यम्, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता।

हिन्दी-ग्रन्थ (मध्ययुगीन)

बा० श्यामसुन्दरदास—कबीर-ग्रन्थावली
श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—गोरख-बानी
आ पं० रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली
काशी नागरीप्रचारिणी सभा—दादूदयाल का शब्द
श्री राहुल सांकृत्यायन—दोहा-कोष, बौद्ध गान ओ दोहा
श्री व्रजरत्नदास—मीरा-माधुरी
श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी—सन्त कवि दरिया
काशी नागरीप्रचारिणी सभा—सुन्दर-सार
श्री परशुराम चतुर्वेदी—सूफी काव्य-संग्रह

काशी नागरीप्रचारिणी सभा—सूरसागर
श्री परशुराम चतुर्वेदी—हिन्दी सन्त काव्य संग्रह
श्री गुलाबराय—हिन्दी प्रेम-गाथा काव्य-संग्रह

(आधुनिक) मुख्य कवि

जयशंकर प्रसाद—प्रेम पथिक, कानन-कुसुम, झरना, लहर, आँसू, कामायनी, स्कन्दगुप्त (नाटक)।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अणिमा, नये पत्ते, बेला, अपरा, अर्चना, आराधना।

सुमित्रानन्दन पन्त—वीणा, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, युगान्तर, उत्तरा, अतिमा, आधुनिक कवि भाग २ (हिं० सा० सम्मेलन)।

महदेवी वर्मा—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य-गीत, यामा, दीपशिखा, आधुनिक कवि १ (हि० सा० सम्मेलन), अतीत के चल चित्र, पथ के साथी।

अन्य कवि—

सम्पा० नगेन्द्र, पन्त और बालकृष्ण राव— कवि भारती
श्री मैथिलीशरण गुप्त - झंकार
श्री रामनरेश त्रिपाठी—मानसी, स्वप्न
श्री सियारामशरण गुप्त—आर्द्रा, दूर्वादल, पाथेय, विषाद
श्री मोहनलाल महतो वियोगी—एकतारा, निर्माल्य
श्री माखनलाल चतुर्वेदी—युग-चरण, समर्पण, हिम-किरीटिनी, हिम-तरंगिणी
श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन- अपलक, कुकुम, क्वासि, रश्मि-रेखा
श्री रामकुमार वर्मा—निशीथ, अभिशाप, अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चंद्र-किरण, संकेत, आधुनिक कवि ३ (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन)
श्री उदयशंकर भट्ट—युगदीप
श्री हरवंशराय 'बच्चन'—तेरा हार, मधुकलश
श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान—मुकुल
श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'—अपराजिता
श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, कदलीवन, पलाश-वन

श्री आरसीप्रसाद सिंह—कलापी, पांचजन्य
श्री केदारनाथ मिश्र प्रभात—चिर-स्पर्श, कालदहन, संवत
श्री रामधारी सिंह दिनकर—रेणुका
श्री हंसकुमार तिवारी—रिमझिम, अनागत
श्री नगेन्द्र—छन्दमयी, वनबाला
श्री विश्वम्भर 'मानव'—शेफाली
श्री रामेश्वरलाल खण्डेलवाल—हिमांचला
श्रीमती दिनेशनन्दिनी—उरबाती
श्री रामेश्वर—जब आँसू गा उठे

गद्य-गीत—

श्री राय कृष्णदास—साधना
श्री वियोगी हरि—भावना
रानी लक्ष्मीकुमारी चूँडावत—अन्तर्ध्वनि
श्री विश्वम्भर मानव—सोने से पहले
श्री बालकृष्ण बलदुवा अपने गीत

विविध—

कुरान
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—गीताञ्जलि

पत्र-पत्रिका आदि—

गीता प्रेस गोरखपुर—कल्याण–उपनिषद् अंक
,, —भक्ति अंक
काशी नगरीप्रचारिणी सभा—नागरीप्रचारिणी पत्रिका
महिला विद्यापीठ, प्रयाग—वंग-दर्शन
लखनऊ—माधुरी
इंडियन प्रेस प्रयाग—सरस्वती
इलाहाबाद—संगम–निराला अभिनन्दन विशेषांक
नई दिल्ली– साप्ताहिक हिन्दुस्तान

अंग्रेजी-ग्रंथ—

Roleston—A Treasury of Irish Poetry.
Methuen—Anthology of Modern Verse.
J. T. Farsel—A Note on Literary Criticism.
Buddhist Esoterism–Vinoya Tosha Bhattacharya.

R. D. Ranade—Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.
Edward Carpenter—Civilizatisn—its Causes and Cure.
Pt. Jawahar Lal Nehru—Discovery of India.
Encyclopaedia of Religion and Ethics.
Paulgrave—Golden Treasury.
M. N. Sircar—Hindoo Mysticism.
Peter Peterson—Hymns From Rigveda.
Ifor Evons—History of English Literature.
W. B. Yeats—Ideas of Good and Evil.
Aurobindo—Indian Rennaisance.
Angel Flores—Literature and Marxism.
A. B. De. Mill—Literature in the Century. (20th Century Series)
Aurobindo—Mother.
S. C. Sen—Mysticism in Upanishads.
Dowden—New Studies in Literature.
Dr. S. Radha Krishnan—Principal Upanishads.
J. Freeman—Proletarian Literature in the U. S.
I. A. Richards—Principles of Literary Criticism.
Mary Sturgeon—Study of Contemporary Poets.
St. Theresa—Spiritual Castles.
Powell—The Romantic Theory of Poetry.
The Holy Bible.
Dr. Raghubir—Vedic Mysticism.
Royce—World and the Individual.